प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला- 59

नीतिशास्त्र के इतिहास की रूपरेखा

(हिन्दी अनुवाद)

लेखक
हेनरी सिजविक

अनुवादक
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

समर्पण

प. पू. मालव सिंहनी
श्री वल्लभकुँवरजी म.सा.

प. पू. सेवामूर्ति
श्री पानकुँवरजी म.सा.

प. पू. सुप्रसिद्ध व्याख्यात्री
श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा.

प.पू.अध्यात्म रसिका
श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

प्राच्य विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रं. 59

OUTLINES OF THE HISTORY OF ETHICS
FOR ENGLISH READERS

नीतिशास्त्र के इतिहास की रूपरेखा

हिन्दी अनुवाद

लेखक
हेनरी सिजविक
केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के नीति-दर्शन के म.प्र. नाहट-ब्रिज प्रोफेसर
एवं
मेथड्स आफ इथिक्स के लेखक
एवं
इसके पांचवें अध्याय के लेखक
अलबन डी विडगेरी
ड्यूक विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के भूतपूर्व प्रोफेसर
एवं
केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के स्टेनटन लेक्चरर

अनुवादक
डॉ. सागरमल जैन, एम.ए., पीएच.डी.
निदेशक- प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

मूल ग्रंथ के प्रकाशक
मेकमिलन कम्पनी
लन्दन, मेलबोर्न टोरन्टो , सेन्ट मार्टिन प्रेस न्यूयार्क

प्रकाशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

प्राच्य विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रं. 59

नीतिशास्त्र के इतिहास की रूपरेखा का हिन्दी अनुवाद

लेखक
हेनरी सिजविक
केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के नीति-दर्शन के म.प्र. नाहट-ब्रिज प्रोफेसर
एवं मेथड्स आफ इथिक्स के लेखक
पांचवें अध्याय के लेखक
अलबन डी विडगेरी
ड्यूक विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के भूतपूर्व प्रोफेसर
एवं केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के स्टेनटन लेक्चरर

अनुवादक
डॉ. सागरमल जैन, एम.ए., पीएच.डी.

निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

मूल ग्रंथ के प्रकाशक
मेकमिलन कम्पनी
लन्दन, मेलबोर्न टोरन्टो, सेन्ट मार्टिन प्रेस न्यूयार्क

पुस्तक प्राप्ति स्थान
1. प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर
2. मोतीलाल बनारसीदास, बुक सेलर्स, 41 यू.ए.रोड. जवाहर नगर, दिल्ली-110007
3. सरस्वती पुस्तक भण्डार, हाथीखाना, रतनपोल, अहमदाबाद-1

मुद्रक : आकृति ऑफसेट, नई पेठ, उज्जैन

मूल्य : 250/-

प्रकाशन वर्ष : 2017

प्रकाशकीय

डॉ. सागरमल जैन आचार शास्त्र के विशेष रुप से भारतीय आचारशास्त्र के अधिकृत विद्वान हैं। उन्होंने हमारे आग्रह पर सिजविक के ग्रन्थ का पूर्व में अत्याधिक परिश्रम पूर्वक यह अनुवाद किया था। अब वे अपने जीवन के 85वें वर्ष में चल रहे हैं, फिर भी जन सामान्य के उपयोग के लिए उनके द्वारा अनुवादित यह ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ की भाषा प्रवाह युक्त, सरल एवं सुबोध है। हमें आशा है कि दर्शन जगत् इस कृति का अध्ययन कर दर्शन के क्षेत्र में अपने ज्ञान में अभिवृद्धि करेगा।

नरेन्द्र जैन
सचिव
प्राच्य विद्यापीठ,
शाजापुर (म.प्र.)

परिवर्द्धित संस्करण के सम्बंध में दो शब्द

सन् 1886 ई. में अपने प्रकाशन के बाद से ही यह पुस्तक नीतिशास्त्र के संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण की दृष्टि से अंग्रेजी भाषा में एक सर्वोच्च ग्रंथ मानी जाती रही है। यद्यपि इसकी उपयोगिता को बनाए रखने के लिए विगत पचास वर्षों के नैतिक विचारों का एक संक्षिप्त विवेचन भी इसमें जोड़ देना हमें आवश्यक लगा, फिर भी सिजविक के अपने ग्रंथ में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। इस अंतिम अतिरिक्त अध्याय में भी मैंने अपने को (इस युग के) विचारकों की विवेचना शैली से यथासम्भव निकट बनाए रखने का प्रयास किया है। पूर्व अध्यायों की विवेचना के अनुपात को दृष्टिगत रखते हुए उन विचारकों के विचारों को भी संक्षेप में ही प्रस्तुत किया गया है। केम्ब्रिज में नीति-दर्शन के नाईटब्रिज प्रोफेसर के इस अध्याय के प्रथम प्रारूप को मैने पढ़ा और इसके संशोधन के लिए अमूल्य सुझाव भी दिए, फिर भी इसमें प्रस्तुत विचारों के लिए वे उत्तरदायी नहीं हैं। प्रो.जे.एस. मेकेन्जी ने भी इस कार्य के प्रारम्भ में हमें उपयोगी सुझाव दिए हैं। मैं इन दोनों महानुभावों को उनके इस सहयोग के लिए और मेरे स्नातक स्तरीय अध्ययन के समय से उनके द्वारा दिए गए प्रोत्साहन के लिए धन्यवाद देता हूं। - अलबन डी बिडगेरी - ड्यूक विश्वविद्यालय डरहम एम.सी., यू.एस.ए.

जनवरी 1931 ई.

प्राक्कथन

इस छोटे से ग्रंथ का मूल स्वरूप, नीतिशास्त्र पर लिए गए उस लेख में ही बन गया था, जिसे मैंने कुछ वर्ष पूर्व इन्साईक्लोपीडिया ब्रिटानिका के लिए लिखा था। जिनकी बात का मेरे लिए कुछ वजन है, उन विचारकों के विचारों में मैंने यह पाया कि यह लेख उन अंग्रेज अध्येताओं की आवश्यकता की पूर्त्ति करता था, जो कि नैतिक विचारों के इतिहास का सामान्य ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे। इसलिए मैंने 'इन्साईक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के प्रकाशक मेसर्स व्लेक से अनुमति प्राप्त करके इसका अलग से एक पुस्तक के रूप में पुनर्मुद्रण करवा दिया। ऐसा करते समय मैंने इसे बहुत कुछ परिवर्तित एवं परिवर्द्धित किया है, किंतु कुछ संकोच के बाद भी मेरे मूल लेख की मुख्य रूपरेखा को वैसी ही बनाए रखने का निश्चय किया। जिसके अनुसार अध्याय 5 को मुख्यतः आधुनिक युग के आंग्ल नीतिशास्त्र तक ही सीमित रखा गया है और विदेशी नीति-दर्शनों पर केवल उनके आंग्ल विचार धाराओं पर पड़े प्रभाव के आधार पर गौण रूप से ही विचार किया गया है। अंशतः मैंने ऐसा इसलिए किया कि मेरे लेख की विशिष्टता (यदि उसमें कोई विशिष्टता है तो) नैतिक चिंतन की गतिविधियों की एक निश्चित सघन एकता में निहित है और यदि मैं इस अध्याय में अंग्रेज नीतिवेत्ताओं के समान ही जर्मन और फ्रांसीसी नीतिविवेचनों के विचारों को भी सम्मिलित करता, तो यह एकता अनिवार्य रूप से नष्ट हो जाती। इसके साथ ही मैंने जिन बातों की विवेचना को छोड़ दिया है, जिसका बहुत कुछ उस बात से सम्बंधित है। भाग[1] जिनके कारण बौनीफोस ऋषभ की मृत्यु के पश्चात् ईसाई धर्मसंघ (चर्च) को नैतिक पतन के दौर से गुजरना पड़ा था। उस समय ईसाई धर्मसंघ (चर्च) में ऐसी केंद्रीय सत्ता की कमी थी, जो कि इन तीव्र मतभेदों का निवारण कर सकती थी। इन मतभेदों के कारण जनसाधारण अनिश्चयात्मक स्थिति में होता था और स्वाभाविक रूप से वह किसी भी धार्मिक एवं परम्परानिष्ठ लेखक की उसी धारणा को स्वीकार कर सकता था, जो कि उसे पालन करने की दृष्टि से सुविधाजनक प्रतीत होती। इसी प्रकार एक निर्बल नैतिक चेतना किसी भी नैतिक नियम के वांछित अपवाद के लिए सूक्ष्मता से शास्त्र (श्रुति) के प्रमाण को खोजने की दिशा में प्रवृत हुई। यद्यपि कैथोलिक चर्च के द्वारा संसार पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए किए जाने वाले संघर्ष के दौरान अब शास्त्र की आज्ञाओं के पालन के सिद्धांत को वैयक्तिक निर्णयों पर विश्वास करने के सिद्धांत के साथ एक गहन एवं दीर्घकालिक, किंतु

संतुलित विवाद में उलझा दिया गया, तब सुधार युग के बाद तक इस संकट ने अपने दुर्जेय अंशों को मान्य रखा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता है।

जेस्यूट्स (शिथिलाचारी)

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रति-सुधारवाद के अग्रणी जेस्यूट्स की दृष्टि में शास्त्र (श्रुति) को प्रमाण मानने के लिए मूलतः आवश्यक यह था कि जनसाधारण को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए कि वे अपने निर्णयों को अपने मार्गदर्शक धर्मोपदेशकों के निर्णयों के प्रति समर्पित कर सकें। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए यह आवश्यक था कि धर्मसंघीय (चर्च के) नैतिक नियमों में सांसारिक आवश्यकताओं को स्थान देकर पाप-प्रकाशन (पश्चाताप) को आकर्षक बनाया जाए। सम्भाव्यवाद के सिद्धांत ने इस सुविधाओं को स्थान देने के लिए एक लोकप्रिय पद्धति प्रदान की। यह सिद्धांत यह मानकर चलता है कि जनसाधारण से उस प्रश्न पर गहन समीक्षा की अपेक्षा नहीं करना चाहिए, जिसके लिए विद्वानों में भी मत-वैभिन्य होता है। इसलिए जनसाधारण को किसी ऐसी बात के लिए दोषी नहीं मानना चाहिए, जिसे किसी एक भी विद्वान् ने प्रमाणित माना हो। इसलिए उसके अपराधों का प्रायश्चित्त देने वाले व्यक्ति को यह अधिकार दिया गया कि यदि उसके (अपराधी के) पक्ष में कोई भी ऐसा मत प्रस्तुत कर पाना सम्भव हो, जो कि उसे निर्दोष सिद्ध कर दे, तो उस प्रायश्चित्त देने वाले व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी स्वयं की मान्यता के प्रतिकूल भी यदि कोई ऐसी मान्यता हो, तो उसे बताए, ताकि वह अपनी अंतरात्मा को आत्मग्लानि के भार से मुक्त कर सके। जिन बातों के कारण इस सम्भाव्यवाद में चर्च की कठोरता को दूर करने की सच्ची इच्छा से अपनाया गया था, उनके परिणाम 17 वीं शताब्दी में पास्कल के ग्रंथ में प्रकट हुए हैं।

सुधारवाद

किंकर्त्तव्य मीमांसा के विकास की विवेचना करने में हम उस महान् संकट से आगे बढ़ गए, जिसमें होकर 16 वीं एवं 17 वीं शताब्दी के ईसाई धर्म को गुजारना पड़ा। सुधारवाद का प्रवर्त्तन लूथर ने किया था। यदि हम उनके राजनीतिक और सामाजिक उद्देश्यों एवं प्रवृत्तियों, जिनसे यूरोप के कई देश संबंधित थे, से अलग हटकर केवल उनके नैतिक सिद्धांतों को और उन सिद्धांतों के परिणामों

को देखने का प्रयास करें, तो उन्हें कई पहलुओं से देखा जा सकता है। सर्वप्रथम इस सुधारवाद ने चरित्रहीन धर्माध्यक्षों के प्रमुख की सुविकसित व्यवस्था के विरुद्ध रोपोस्टोलिक ईसाईयत की सरलता को स्वीकार किया। साथ ही धर्मगुरुओं की (बाइबिल की) टीकाओं और चर्च की परम्पराओं के विपरीत बाइबिल के आदर्शों को, तथा धर्मोपदेशकों की प्रामाणिकता के विरुद्ध वैयक्तिक अंतरात्मा के निर्णय की प्रामाणिकता को स्वीकार किया। इसी प्रकार आत्मशुद्धि हेतु किए जाने वाले प्रायश्चित्तों के लिए पाप के नियंत्रण की अपेक्षा प्रत्येक मानवीय आत्मा को ईश्वर के प्रति उत्तरदायित्व पर बल दिया। क्योंकि प्रायश्चित्त व्यवस्था ने धर्मगुरुओं (पोपों) को धन के लोभ की विकृत अवस्था पर लाकर खड़ा कर दिया था। यहूदी नियमवाद और ईसाई धर्म के मौलिक विरोध को पुनर्जीवित करते हुए, सुधारवाद ने शाश्वत जीवन के लिए कर्मो के बाह्य स्वरूप की अपेक्षा आंतरिक आस्था को ही एकमात्र मार्ग स्वीकार किया। इस प्रकार पुनः आगस्टिन की ओर लौटते हुए तथा आगस्टिन के मूल मंतव्यों को नए सिद्धांतों के रूप में अभिव्यक्त करते हुए सुधारवाद ने उस नवपेलेगियनवाद का प्रतिरोध किया, जो कि धीरे से चर्च के आभासी आगस्टिनवाद के रूप में विकसित हो गया था। उसने यह भी माना कि मानव स्वभाव के पूरे पतन का कारण उस 'समता' के विरोध में होना है, जिसके द्वारा मध्ययुगीन दार्शनिकों के अनुसार ईश्वरीय कृपा को प्राप्त किया जा सकता है। सेंटपाल की विनयशीलता को पुनर्जीवित करते हुए, उसने ईसाई धर्म के सभी कर्त्तव्यों को सार्वभौम एवं निरपेक्ष आदेश के रूप में निरूपित किया तथा इस सिद्धांत के विरोध में यह मत स्थापित किया कि ईसाई-धर्म-पुस्तक की शिक्षाओं को अक्षरशः पालन के द्वारा ही समुचित पुण्य प्राप्त किया जा सकता है। सम्पूर्ण ईसाई आकारिता के अपरिहार्य निकम्मेपन को प्रकट किया। यद्यपि ये परिवर्तन बहुत ही महत्वपूर्ण थे, तथापि नैतिक दृष्टि से विचार करने पर या तो निषोधात्मक लगते हैं या बिलकुल ही साधारण से लगते हैं, अथवा मन की उस अभिवृत्ति से संबंधित हैं, जिसके अनुसार प्रत्येक कर्त्तव्य का पालन किया जाना चाहिए। सुधारवादी ईसाई धर्मसंघ (चर्चों) के लेखन और व्याख्यानों में भी साधारण मनुष्यों के आचरण सम्बंधी कर्त्तव्यों का विधायक तत्त्व एवं सद्गुण तथा अधिकांश निषेधात्मक नियम भी तत्त्वतः अपरिवर्तित ही रहे। मात्र संन्यास मार्ग का पूरी तरह से निरसन कर दिया गया था और ईसाई आचरण के नैतिक आदर्श को संसार की निस्सारता की धारणा से मुक्त कर दिया गया था। यद्यपि पहले ईसाई धर्म में संन्यास

मार्ग को बहुत उत्तम मार्ग माना जाता था। 16 वीं एवं 17 वीं शताब्दी के मध्य किंकर्त्तव्य मीमांसा की पुरानी पद्धति को मान्य रखा गया था। यद्यपि स्वाभाविक बुद्धि के प्रकाश के द्वारा विवेचित और उससे अनुपूरित धर्म ग्रंथ ही अब वे सब सिद्धांत प्रस्तुत करते थे, जिनके आधार पर अंतरात्मा की समस्याओं का निराकरण किया जाना था।

आधुनिक नैतिकदर्शन की ओर

17 वीं शताब्दी में नैतिकता की इस अर्द्धआधारित विवेचना के प्रति रुचि क्रमशः कम होने लगी और अनेक शताब्दियों के पश्चात् पुनः नीति शास्त्र के अध्ययन में नैतिक नियमों के लिए स्वतंत्र दार्शनिक आधार खोजने हेतु शिक्षित वर्ग के द्वारा प्रयास किया जाने लगा। नव जागरण का यह प्रयास परोक्ष रूप से सुधारवाद के कारण हुआ। इसे प्राचीन पेगेन संस्कृति (मूर्त्ति पूजा आदि) के अवशेषों के साहसपूर्ण अध्ययन के साथ भी जोड़ा जा सकता है, जो कि 15 वीं और 16 वीं शताब्दी में इटली से प्रारम्भ होकर पूरे यूरोप में फैली हुई थी और जो स्वयं ही मध्ययुग में धर्मशास्त्र के प्रति व्यापक विमुखता का आंशिक कारण और आंशिक कार्य भी थी। प्रथमतः इस 'मानवतावाद' के प्रति रोमन धर्म-शासन (पोप के शासन) की अपेक्षा भी सुधारवाद का रुख अधिक विरोधी रहा। नव जागरण के नाम पर पोप के शासन ने किसी सीमा तक मूर्त्तिपूजा आदि विधर्मी तत्त्वों (पेगन संस्कृति) को ग्रहण कर लिया था, वह भी सुधारवाद के रोष को भड़काने का एक कारण था। केथोलिक और प्रोटेस्टन्ट धारणाओं के समान ही स्वतंत्र नैतिक दर्शन के विकास में भी सुधारवाद का परोक्ष योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं है। पाण्डित्यवाद ने धर्मशास्त्र की दासी के रूप में दर्शन को जीवित रखते हुए उसकी पद्धति को भी उसके स्वामी के अनुरूप अर्थात् धर्मशास्त्रीय बना दिया था। इस प्रकार पाण्डित्यवाद ने जिस पुनर्जीवित बौद्धिक क्रियाशीलता को स्वयं प्रेरित किया था और जिसका स्वयं उपयोग भी किया था, उसे अरस्तवी दर्शन और धर्मसंघ (चर्च) के दोहरे बंधन में जकड़ दिया गया। जब सुधारवाद ने पारम्परिक आप्तता (चर्च की प्रामाणिकता) के पक्ष पर चोट की, तो उसका धक्का अनिवार्य रूप से दूसरे पर भी लगना ही था। लूथर के द्वारा पोप के सम्बंध तोड़ने को बीस वर्ष भी न हो पाए थे कि एक नौजवान रामस ने पेरिस विश्वविद्यालय के सम्मुख यह धारणा प्रस्तुत कर दी कि अरस्तू ने जो भी शिक्षा दी थी वह गलत थी। उसके कुछ वर्षों के बाद ही

कार्डानस, टेलसिअस, पेट्रीटिअस, केम्पेनला और ब्रूनो ने आधुनिक भौतिक विज्ञान के उदय की उद्घोषणा की और जगत् की रचना तथा खोज की सम्यक् विधि के सम्बंध में अरस्तु-विरोधी विचारों को प्रस्तुत किया। यह पूर्व दृष्ट ही था कि ऐसी ही स्वतंत्रता के स्वर नीतिशास्त्र में भी सुनाई देंगे। रूढ़ धारणाओं के साथ संघर्ष के कारण तथा वैयक्तिक निर्णयों की विभिन्नता और सन्मार्ग के प्रति विमुखता के कारण सुधारवाद के पश्चात् ईसाई धर्म अनेकानेक शाखा प्रशाखाओं में विभाजित होता गया। (ऐसी स्थिति में) वस्तुतः कोई भी चिंतनशील व्यक्ति स्वाभाविक रूप से एक ऐसी नैतिक पद्धति की खोज का प्रयास करेगा, जो कि पूरी तरह से मानव जाति की सामान्य नैतिक अनुभूतियों और सामान्य बुद्धि पर निर्भर हो और सभी सम्प्रदायों के द्वारा सामान्य रूप से स्वीकृत होने का दावा कर सके। इंग्लैण्ड में इस खोज के परिणाम 17 वीं शताब्दी में और उसके बाद जो विचार सामने आए उन पर हम अगले अध्यायों में विचार करेंगे।

संदर्भ -

1. मैं 'बहुत कुछ भाग' - इन तीन शब्दों पर ध्यान दिलाना चाहूंगा। क्योंकि जिन समालोचकों ने इस वाक्य को तीव्र आलोचना के लिए चुना है, उन्होंने इन शब्दों की उपेक्षा की है। उनकी यह उपेक्षा उन्हें एक ऐसा विचार देती है, जिसमें मेरी दृष्टि के परिणामस्वरूप उन प्रश्नों की संख्या बढ़ गई, जिनके सम्बंध में यह असहमति थी।

अध्याय 1

नीतिशास्त्र की विषय वस्तु का सामान्य विवेचन

नीतिशास्त्र की सर्वमान्य परिभाषा दे पाना कठिन है। क्योंकि उसके स्वरूप एवं (ज्ञान की अन्य शाखाओं से उसके) सम्बंधों को विभिन्न दार्शनिकों ने अलग-अलग ढंग से समझा है। परिणामस्वरूप प्रायः शिक्षित व्यक्ति भी इस सम्बंध में द्विविधा की स्थिति में रहते हैं। अतः यही उचित होगा कि सबसे पहले हम इस परिचयात्मक अध्याय में क्रमशः उन विभिन्न दृष्टिकोणों का विवेचन करें, जिन्हें मानव-बुद्धि ने नैतिक खोजबीन का विषय माना है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट कर लें कि नीतिशास्त्र का धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं मनोविज्ञान से क्या सम्बंध है। तत्पश्चात् इन विभिन्न तथ्यों के प्रकाश में नीतिशास्त्र के अलग-अलग विभागों का वर्गीकरण करें और यथासम्भव एक तटस्थ एवं व्यापक निष्कर्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न करें।

नीतिशास्त्र मानव के परम शुभ के अध्ययन के रूप में

नीतिशास्त्र के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द 'इथिक्स' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ (धात्वर्थ) उसके वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करने की दृष्टि से किसी सीमा तक भ्रांतिजनक है, क्योंकि इथिक्स का मूल अर्थ विवेक बुद्धि की अपेक्षा आचरण के अधिक निकट है[1] । अरस्तू की रचनाओं में भी चरित्र की ये विशेषताएं, जिन्हें हम सद्गुण या दुर्गुण कहते हैं, नीतिशास्त्र की विषयवस्तु का मात्र एक भाग है। अरस्तू के अनुसार नीति सम्बंधी गवेषणा का प्राथमिक विषय वह सब है, जो मानवीय परमशुभ से संबंधित है और जिसका बौद्धिक चयन किसी साध्य के साधन के रूप में नहीं, वरन् स्वतः साध्य के रूप में किया जाता है। अरस्तू का उपरोक्त दृष्टिकोण ग्रीक दर्शन में सामान्यतया और उसके परवर्ती युग में व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है।

धर्मशास्त्र से नीतिशास्त्र का अंतर

परमशुभ के साथ 'मानवीय' विशेषण का प्रयोग नीतिशास्त्र

1. ग्रीक भाषा में इथीस् जिससे इथिक्स शब्द बना है, का मूल अर्थ रीति रिवाज या रूढ़ि है। यह अर्थ इसकी विषयवस्तु को निरपेक्ष शुभ या विश्व-शुभ से अलग करने के उद्देश्य से किया गया है। यदि हम धर्मशास्त्र को विस्तृत अर्थ में ग्रहण करते हैं, तो निरपेक्ष शुभ या विश्व-शुभ (विश्व कल्याण) धर्मशास्त्र की विवेचना का विषय है।

धर्मशास्त्र अपने इस व्यापक अर्थ में निरपेक्ष शुभ या परम साध्य के विचार को अपने में समाविष्ट कर लेता है। धर्मशास्त्र हमें यह बताता है कि समग्र इंद्रियानुभाविक जगत् की प्रक्रिया इसी निरपेक्ष शुभ की सिद्धि के लिए एक साथ कार्य कर रही है। उस साध्य या शुभ से अनिवार्य रूप से जोड़ने वाला तत्त्व नहीं है। प्लेटो के विचारों में नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र एक दूसरे से पूरी तरह घुले मिले थे, किंतु नैतिक चिंतन के विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप उनका अंतर धीरे-धीरे स्पष्ट होता गया। यद्यपि इस अंतर का यह अर्थ भी नहीं है कि दोनों एक दूसरे से पूरी तरह पृथक् हैं, वरन् इसके विपरीत तथ्य तो यह है कि विश्व को किसी परम लक्ष्य (उद्देश्य) या शुभ से युक्त मानने वाली प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा में मानवीय शुभ को उस निरपेक्ष शुभ (विश्व-शुभ) से अभिन्न या उसके अंतर्गत माना गया है अथवा अपने स्रोत या स्वरूप की दृष्टि से उसके सन्निकट बताया गया है।

नीतिशास्त्र का राजनीतिशास्त्र से आंशिक अंतर

मानवीय शुभ या कल्याण की विवेचना की दृष्टि से नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र से कोई स्पष्ट अंतर नहीं किया गया है। क्योंकि राजनीतिशास्त्र भी राज्य के सदस्य के रूप में मनुष्य के कल्याण या मानवीय शुभ से सम्बंधित है। वस्तुतः कुछ आधुनिक लेखकों ने नीतिशास्त्र को इतने व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है कि उसमें राजनीतिशास्त्र के भी एक भाग का समावेश हो जाता है। जहां एक ओर राजनीतिक संस्थानों के शुभत्व और अशुभत्व की कसौटी का निश्चय करना नीतिशास्त्र का विषय है, तो वहीं दूसरी ओर राज्य के चरम साध्य या परमशुभ का विचार भी मनुष्य के कल्याण या मानवीय शुभ के उस प्रत्यय के अंतर्गत ही हो जाता है, जो कि वस्तुतः नीतिशास्त्र का विषय है। यद्यपि अपने संकुचित अर्थ की दृष्टि से नीतिशास्त्र का तात्पर्य वैयक्तिक नीतिशास्त्र से है। वैयक्तिक नीतिशास्त्र व्यक्ति के विवेकयुक्त आचरण से उपलब्ध उसके निजी कल्याण या शुभ से सम्बंधित है। आगे की जाने वाली नीतिशास्त्र की इस ऐतिहासिक विवेचना में नीति शब्द का प्रयोग इसी दूसरे अर्थ में किया गया है, यद्यपि प्रस्तुत विवेचना में नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र एवं उनके पारस्परिक सम्बंधों के बीच कठोर विभाजक रेखा खींचने का प्रयत्न नहीं किया गया है, क्योंकि अनेक विवेच्य विचारधाराओं में इन्हें एक दूसरे के अत्यंत निकट और आपस में घनिष्ट रूप से सम्बंधित

माना गया है। वास्तविकता तो यह है कि इनके मध्य कोई विभाजक रेखा खींच पाना कठिन है, चाहे वह विभाजक रेखा नीतिशास्त्र की दृष्टि से खींची जाए या राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से खींची जाए। क्योंकि एक ओर प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी राजनीतिक या शासित समाज का सदस्य होता है, तो दूसरी ओर जिन्हें हम व्यक्तिगत सद्गुण कहते हैं, वे व्यक्ति के मानव जाति के अन्य सदस्यों के प्रति किए गए व्यवहारों के द्वारा ही प्रकट होते हैं। व्यक्ति के अनेक सुख-दुःख, पूर्णतः या आंशिक रूप में दूसरे व्यक्तियों के साथ उसके सम्बंधों के कारण ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जो लोग सद्गुण अथवा सुख को व्यक्ति के परमश्रेय का महत्वपूर्ण अंश या उसका समग्र मानते हैं, वे भी यह स्वीकार करेंगे कि शुभ की उपलब्धि समाज से अलग होकर एकांकी जीवन में और सामाजिक कल्याण के बिना सम्भव नहीं है। अतः वे भी यह मानेंगे कि वैयक्तिक नीतिशास्त्र का एक राजनीतिक पहलू होता है। दूसरी ओर, सामान्यतया यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि नागरिक का परम साध्य वर्त्तमान एवं भावी नागरिकों के वैयक्तिक कल्याण में अभिवृद्धि करना ही होना चाहिए। इस प्रकार वैयक्तिक कल्याण में अभिवृद्धि करना ही होना चाहिए। इस प्रकार वैयक्तिक कल्याण के घटकों की खोज राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत भी होगी, तथापि वैयक्तिक कल्याण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शासन के स्वरूप एवं कार्यों को निर्धारित करने वाली पद्धति पर बिना विचार किए ही हमें बहुत कुछ रूप में व्यक्ति स्वयं या अन्य व्यक्तियों के विवेकपूर्ण आचरण के द्वारा प्राप्तव्य वैयक्तिक शुभ या वैयक्तिक कल्याण की सीमाओं और उसके घटकों का अध्ययन करना ही होगा। अगले पृष्ठों में हम राजनीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र से अलग हटकर मुख्य रूप से नीतिशास्त्र पर ही अपना ध्यान केंद्रित करेंगे।

नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान

जब भी हम नैतिक विवेचना के लिए वैचारिक दृष्टि से व्यक्ति को राज्य से पृथक् मानकर एक व्यक्ति के रूप में उस पर विचार करते हैं, तो नीतिशास्त्र मुख्यतः मनोविज्ञान से सम्बंधित हो जाता है। मनोविज्ञान मानव मन या मानवीय चेतना अध्ययन से चिंतन के द्वारा शीघ्र ही हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का परम श्रेय किन्हीं किन्हीं बाह्य एवं भौतिक तथ्यों अर्थात् मात्र सम्पत्ति एवं

शारीरिक स्वास्थ्य में निहित नहीं है। हमारा अनुभव हमें यह भी बताता है कि सम्पत्ति अथवा शारीरिक शक्ति कभी-कभी तो दुराचरण और निर्दयता के कारण बन जाते हैं।

सामान्यतया किसी व्यक्ति को उसके कार्यों के बाह्य परिणाम के आधार पर ही साहसी, न्यायी एवं संयमी आदि सद्गुणों या इनके विपरीत दुर्गुणों से युक्त, किंवा अच्छा या बुरा माना जाता है, किंतु कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति सामान्यतया इस बात को स्वीकार करेगा कि ऐसे नैतिक निर्णयों में असत्यता या भ्रांति की सम्भावना रही हुई है। वस्तुतः हमें यही दृष्टिकोण उचित प्रतीत होता है कि कर्त्ता की मनःस्थिति एवं उसका मनोविन्यास तथा कर्म का प्रयोजन, उद्देश्य एवं प्रेरक ही नैतिक दृष्टि से कर्म के शुभत्व अथवा अशुभत्व के निर्धारक हैं। दूसरी ओर, जब हम बाह्य परिणामों के विश्लेषण के द्वारा भी जिन्हें वस्तुतः शुभ या अशुभ कहते हैं, वे भी कर्म के बाह्य परिणाम नहीं होकर किसी संवेदनशील प्राणी या मनुष्य की भावनाओं पर अथवा मानवीय संकल्प या चरित्र पर कर्म का पड़ने वाले प्रभाव ही हैं। इस प्रकार नैतिक दर्शन के लगभग सभी सम्प्रदाय इस विषय में सहमत है कि उनकी गवेषणा का मुख्य विषय मानवीय जीवन के मनोवैज्ञानिक पहलू से भी सम्बंधित हैं। चाहे (1) वे यह मानते हों कि मनुष्य का परम श्रेय उसकी उस मनोवैज्ञानिक अवस्था में है, जो केवल संवेदनशील या भावनात्मक है और जिसका तादात्म्य वांछनीय अनुभूति या सुख के किसी न किसी प्रकार से है अथवा सुख की अनुभूतियों का योग है या उन्हीं के वर्ग का है। किंवा (2) वे यह मानते हो कि मानवीय आत्मा का श्रेय या शुभ मुख्यतया अथवा पूर्णतया सद्गुण या कर्त्तव्यपरायणता में निहित है। जब हम उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों को पूर्ण स्पष्ट एवं व्यवस्थित रूप में रखने का प्रयत्न करते हैं, तो हमें अनिवार्यतया पुनः मनोवैज्ञानिक अध्ययन की ओर अग्रसर होना होता है। हमें सुख एवं दुःख के विभिन्न प्रकारों एवं उनकी तीव्रताओं के वर्गीकरण के लिए अथवा विभिन्न सद्गुणों एवं दुर्गुणों के स्वरूप एवं उनके पारस्परिक सम्बंधों का निर्धारण करने के लिए मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता होती है।

पुनश्च, मानवीय शुभ व्यक्ति के लक्ष्य या बौद्धिक चयन का विषय है। बौद्धिक चयन का अर्थ शुभ को उन ऐन्द्रिक एवं सांवेगिक उद्वेगात्मक तथ्यों से अलग करना है, जो कि व्यक्ति की दृष्टि में उसके वास्तविक शुभ से भिन्न कर्म करने के लिए प्रेरणा देते हैं। बौद्धिक चयन या प्रेरणा का यह प्रत्यय वैचारिक कसौटी पर अनेक कठिनाइयों को उत्पन्न करता है। कुछ विचारक यह मानते हैं कि कर्म करने की इच्छा

या कर्म प्रेरक बुद्धि के द्वारा नहीं, वरन् भावनाओं के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, इसलिए उन बौद्धिक कार्यों में बुद्धि के सामान्य योगदान को स्पष्ट करने के लिए और विशेष रूप से इच्छा और अनिच्छा के उन सम्बंधों को समझने के लिए सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है, जो कि अंशतः बुद्धि से स्वतंत्र होकर उत्पन्न होते हैं और बुद्धि-विरोधी होते हैं। जिसे मनुष्य की वास्तविक इच्छाएं सदैव अनुभूत करना चाहती हैं, वह शुभ या वांछनीय तत्त्व क्या है? और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? इस सम्बंध में नीतिवेत्ताओं में विवाद चला आ रहा है। मानव के लिए वस्तुतः वांछनीय क्या है, इसका तादात्म्य मनुष्य की स्वाभाविक एवं स्थायी इच्छाओं से किया जा सकता है। इस प्रकार नैतिक प्रश्न विभिन्न रूपों में हमें मनोवैज्ञानिक विवेचना की दिशा में ले जाते हैं। वस्तुतः शुभ एवं अशुभ तथा उचित एवं अनुचित के मूल प्रत्ययों को छोड़कर, जो कि प्रत्यक्ष रूप में मनोविज्ञान से सम्बंधित नहीं हैं, शेष सभी महत्वपूर्ण नैतिक प्रत्यय मनोवैज्ञानिक प्रत्यय हैं। मनोविज्ञान - क्या है इसका अध्ययन करता है क्या होना चाहिए का नहीं और इसलिए शुभ एवं अशुभ तथा उचित एवं अनुचित के नैतिक प्रत्यय मनोविज्ञान से प्रत्यक्ष रूप से सम्बंधित नहीं हैं।

नीतिशास्त्र कर्त्तव्य या उचित आचरण का अध्ययन

नीतिशास्त्र कर्त्तव्य या उचित आचरण के अध्ययन के रूप में साधारणतया शुभ को उचित का और अशुभ को अनुचित का समानार्थक मानता है। वस्तुतः सामान्य रूप से इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता है कि हम किसी को उचित आचरण कहें या शुभ आचरण कहें अथवा अनुचित प्रेरणा कहें या अशुभ प्रेरणा कहें। यद्यपि चिंतन यह स्पष्ट करेगा कि यदि मानवीय शुभ के सामान्य विचार को, जो कि किसी अन्य साध्य का साधन नहीं होता है, परम शुभ या निरपेक्ष शुभ के रूप में स्वीकार करें, तो वह वैयक्तिक कर्त्तव्य और औचित्य के प्रत्ययों से अधिक व्यापक होता है। उसमें व्यक्ति के हित या सुख भी समाविष्ट होते हैं। निःसंदेह सामान्यतया यह माना जाता है कि व्यक्ति के लिए अपने कर्त्तव्यों का समापन करना ही उसका परम श्रेय है और यही उसके यथार्थ आनंद एवं हित की अभिवृद्धि करता है, यद्यपि उसका यह अर्थ नहीं है कि कर्त्तव्यों एवं हितों में तादात्म्य है और न इससे यह समझना चाहिए कि उनके अविच्छेद सम्बंध को वैज्ञानिक ढंग से जाना जा सकता है अथवा अभिव्यक्त किया जा सकता है। आधुनिक विचारकों ने कर्त्तव्य एवं

हितों के इस सम्बंध को आस्था का विषय बताया है। कर्त्तव्य का पालन आत्म-प्रेम या स्व-हित की गणना के आधार पर नहीं, वरन् कर्त्तव्य की भावना से किया जा सके, इसे जान बूझकर अविवेचित ही छोड़ दिया गया है। इस प्रकार हम नीतिशास्त्र के एक दूसरे प्रत्यय की ओर आते हैं, जिसका सम्बंध कर्त्तव्य या उचित आचरण सम्बंधी सामान्य नियमों से है और जिसे कभी-कभी नैतिक विधान भी कहा जाता है। ये सामान्य नैतिक नियम सभी मनुष्यों पर निरपेक्ष (निरापवाद) रूप से लागू होते हैं और व्यक्ति को इनका पालन अपने वैयक्तिक हितों का विचार किए बिना ही करना होता है। नैतिक दृष्टि से कर्त्तव्य और कर्त्ता के वैयक्तिक हितों में गौण सम्बंध ही माना गया है। जब कर्त्तव्य के नियमों को ईश्वरीय विधान मान लिया जाता है तो नीति-शास्त्र का अध्ययन एक दूसरे प्रकार से धर्मशास्त्र से सम्बंधित हो जाता है। हम यह भी देखेंगे कि नीतिशास्त्र का अमूर्त विधि-शास्त्र से भी निकट का सम्बंध है। अमूर्त विधिशास्त्र ऐसे बुद्धि संगत वैधानिक नियमों से सम्बंध रखता है, जिनकी प्रामाणिकता स्वाभाविक एवं सार्वभौम होती है। अपने इस स्वरूप के आधार पर वे न्यायिक दंड देने के लिए मानवीय विधान पर निर्भर नहीं होते हैं। क्योंकि ऐसे न्यायिक नियम सदैव ही सम्पूर्ण नैतिक नियमों का तो नहीं, किंतु उनके एक महत्वपूर्ण भाग का निर्माण अवश्य करते हैं। यद्यपि उपरोक्त दृष्टिकोण आधुनिक नीतिशास्त्र के विरोध में जाता है, किंतु नीतिशास्त्र की प्रारम्भिक अवस्था में ग्रीक दार्शनिकों के द्वारा इसे स्वीकार किया गया है।[1] नीतिशास्त्र और न्यायशास्त्र का एक दूसरे में संक्रमण मुख्यतया ईसाई धर्म प्रभाव के कारण तथा आंशिक रूप से रोमन न्याय के कारण हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि अलिखित निर्दोष ईश्वरीय विधान का विचार ग्रीक चिंतन में अनुपस्थित नहीं है, तथापि प्राचीन नैतिक विचारधाराओं में इसे अंतिम एवं आधारभूत प्रत्यय नहीं माना गया हैं। उनकी मान्यता यह थी कि विवेकशील प्राणी होने के नाते मनुष्य को अपने ऐहिक जीवन के परम शुभ की खोज स्वयं करना चाहिए और इसलिए कोई भी नियम, जिसका उसे पालन करना है, उसके इस शुभ की उपलब्धि के साधन के रूप में ही होना चाहिए अथवा शुभ के उन विशेष घटकों के रूप में होना चाहिए, जिनमें उस शुभ को प्राप्त किया जा सकता है। जब हम उन लोगों की अपेक्षा, जो ईसाई धर्म की धार्मिक भावनाओं से पूर्णतया प्रभावित हैं, जनसाधारण पर उसके प्रभाव को देखते हैं, तो इस सम्बंध में ईसाई धर्म के द्वारा किया गया परिवर्तन अधिक आश्चर्यजनक लगता है। इस दुनिया में रहने वाले एक सच्चे ईसाई संत के लिए भी

अन्य धर्मी दार्शनिकों के समान ही जो जीवन इस दुनियादारी के सभी रूपों की अपेक्षा आंतरिक रूप से अधिक वरेण्य माना गया है यह प्लेटोवादी दार्शनिकों के अनुरूप एक ऐसा जीवन है, जिसके व्यावहारिक सद्गुण बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में अधिक सारभूत नहीं होते हैं। वह संत इस ऐहिक जीवन के सुख को उस दैवीय आनंद का एक अपूर्ण पूर्वाभास ही मानता है जिसकी वह वस्तुतः अपेक्षा करता है। एक सामान्य ईसाई की दृष्टि में भी ईश्वरीय आज्ञाओं के पालन से मिलने वाले भावी जीवन के सुखों की अनिश्चित चकाचौंध में मनुष्य का परम शुभ नैतिक समीक्षा से दूर हो जाता है। सामान्य ईसाई के लिए नैतिक विधान भी दण्ड की धाराओं से युक्त मानवीय विधान के अत्याधिक निकट एवं लगभग उसके समान ही होता है क्योंकि ईसाई धर्म के सभी युगों में मनुष्य को दुराचरण से रोकने के लिए स्वर्ग के सुखों की चाह की अपेक्षा नारकीय दुःखों का भय ही अधिक प्रभावक प्रेरक रहा है। दोनों ही दृष्टिकोणों के अनुसार मनुष्य का परमसुख किंवा दुःख ही एक ऐसी वस्तु है जिसकी कल्पना एवं शाब्दिक अभिव्यक्ति तो सम्भव है किंतु जिसे पूर्णरूपेण जाना नहीं जा सकता है अथवा जिसकी वैज्ञानिक गवैषणा सम्भव नहीं होती है। इस प्रकार नीतिशास्त्र की विषयवस्तु नैतिक नियम का निरपेक्षतया प्रतिपादित एक वर्ग है और मानवीय आचरण के लिए पूरी तरह मार्गदर्शन प्रस्तुत करती हैं। तथापि वे नियम मानवीय कल्याण का एक पूर्ण प्रकथन होने का दावा नहीं करते हैं।

नीतिशास्त्र और न्यायशास्त्र

ईसाई धर्म के इतिहास में प्रारम्भिक युग से ही यह माना जाता रहा है कि नैतिक नियमों का सामान्य-ज्ञान पूर्ण रूप से केवल बुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं है। अपितु मुख्यतया यह ज्ञान श्रुति के द्वारा होता है, अतः इस ईश्वरीय विधान की व्याख्या स्वाभाविक रूप से धर्मशास्त्रियों के अधिकार में रही और इसके पालन करवाने का कार्य धर्म-पुरोहितों के हाथ में रहा, किंतु जब पण्डितों के द्वारा नीतिशास्त्रों की दार्शनिक विवेचना प्रारम्भ हुई, तो इस नैतिक विधान में दो तत्त्वों की उपस्थिति स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। एक विशुद्ध रूप से ईसाई धर्म से सम्बंधित था और दूसरा स्वाभाविक बुद्धि के द्वारा ज्ञातव्य था एवं श्रुति से परे सभी लोगों पर समान रूप से लागू होता था। इस दूसरे बौद्धिक तथ्यों पर आधारित सिद्धांत का प्रतिपादन सैद्धांतिक न्यायशास्त्र के विकास के द्वारा हुआ, जो कि 13वीं शताब्दी में रोमन न्याय शास्त्र के अध्ययन के पुनर्जीवित होने पर विकसित हुआ था। रोमन विधि सिद्धांत की परवर्ती

विवेचना में स्वाभाविक नियमों का प्रत्यय प्रमुख बन गया और इसे सरलतापूर्वक एवं स्वाभाविक रूप से नैतिकता में बौद्धिक तथ्य के प्रतिनिधित्व के हेतु स्वीकार कर लिया गया। यह श्रुति एवं आगम से स्वतंत्र था। यह सत्य है कि वे स्वाभाविक नियम, जिनका सम्बंध दार्शनिक विधिवेत्ता से है, सिवाय उन कृत्यों के, जो कि दूसरे के औचित्यपूर्ण दावों की पूर्त्ति के लिए अपेक्षित हैं, उचित आचरण से सम्बंधित नहीं है। अतः नैतिक नियमों के एक भाग को जोड़ कर सभी नैतिक नियमों का स्वभाविक नियमों से तादात्म्य करना उचित नहीं होगा। यद्यपि स्वाभाविक नियमों का यह भाग इतना अधिक महत्वपूर्ण एवं आधारभूत है कि मध्यकालीन और आधुनिक युग के प्रारम्भिक विचारकों ने अक्सर पूर्वोक्त विभेद को कोई महत्व नहीं किया है अथवा उसे गौण ही माना है। सामान्यतया बुद्धिगम्य बाह्यआचरण के नियामक स्वाभाविक नियमों का प्रत्यय नैतिकता का न्यासी ही मान लिया गया था।

नैतिकता का उद्‌गम

मुख्यतया नैतिकता के इस विधिक दृष्टिकोण के सम्बंध में नैतिक विवेक शक्ति के मूल स्रोत की खोज ने आधुनिक युग के नैतिक चिंतन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। अभी तक मनुष्य में निहित उस शक्ति को, जो कि उसका नियमन करती है अथंवा जिसे मनुष्य का नियामक होना चाहिए, यथार्थ शुभ और उसके मुख्य कारकों एवं शर्तों को जानने की शक्ति माना जाता रहा हैं जिस प्रकार एक ज्यामिति विज्ञान-वेत्ता के लिए दिक् के प्रत्यय के मूलश्रोत की खोज अधिक महत्वपूर्ण नहीं है उसी प्रकार एक नीतिवेत्ता के लिए नैतिक विवेक शक्ति के मूल स्रोत की खोज भी महत्वपूर्ण नहीं है, किंतु जब नैतिक विवेक शक्ति को उस अंतरात्मा के रूप में मान लिया जाता है, जो कि कर्ता के प्रकट हितों से निरपेक्ष एवं निरपेक्ष रूप से पालनीय नियमों की ज्ञाता है एवं जो मानव में निहित एक विधि निर्मात्री शक्ति है तथा जो समस्त कर्म स्रोतों से ऊपर उठकर निर्विवाद एवं निरूपाधिक प्रभुत्वका दावा करती है, तो यह स्वाभाविक ही था कि उसके दावे की वैधता को चुनौती दी जावे और उसकी सूक्ष्मता से छानबीन की जावे। इस प्रकार यह समझ पाना कठिन नहीं होगा, कि किस प्रकार वैधता नैतिक विवेकशक्ति की मौलिकता पर निर्भर करती है। वस्तुतः नैतिक विवेक शक्ति उसी योजना का एक अंग है, जिससे मूलतः मानव प्रकृति का निर्माण हुआ है। इसीलिए असभ्य मनुष्यों, बालकों और यहां तक कि पशुओं की नैतिक स्थितियों की खोज को तथा आत्मिक विकास के थोड़े बहुत काल्पनिक सिद्धांतों

को भी आधुनिक नैतिक विवेचनाओं की पूर्वपीठिका या उनका एक आवश्यक अंग मान लिया गया है।

संकल्प की स्वतंत्रता

नैतिकता के विधिपरक दृष्टिकोण के द्वारा संकल्प की स्वतंत्रता के प्रत्यय की विवेचना प्रमुख एवं महत्वपूर्ण बन गई है। एक सामान्य व्यक्ति, यदि उसे यह ज्ञान भी हो कि वह शुभ क्या है और उसके ऐच्छिक कार्यों के द्वारा किस प्रकार प्राप्तव्य है तो वह स्वाभाविक रूप से यह विचार नहीं करता है कि अपने शुभ को प्राप्त करने के लिए वह स्वतंत्र है अथवा नहीं है। किंतु जब आचरण को उन विधि-विधानों के आधार पर परखा जाता है जिनका उल्लंघन करने पर दण्ड दिया जा सकता है तो यह प्रश्न स्पष्ट एवं आवश्यक हो जाता है कि जिन विधि-विधानों के आधार पर उसका परीक्षण किया गया है उनके पालन करने में वस्तुतः वह सक्षम था अथवा नहीं। क्योंकि यदि उनका पालन करने में सक्षम ही नहीं था, तो फिर उसे दंड देना न्याय पूर्ण नहीं होगा।

उपसंहार

अंत में अधिक व्यापक रूप से विचार करने पर नीतिशास्त्र की विषय वस्तु में निम्न बातों का समावेश होता है - 1. मनुष्य के वैयक्तिक कल्याण या शुभ के घटकों और स्थितियों की खोजबीन करना, जो कि प्रमुखतया (अ) सद्गुण एवं (ब) सुख के सामान्य स्वरूप एवं सुख के विशेष वर्गों और इन साध्यों की उपलब्धि के प्रमुख साधनों की समीक्षा का रूप ले लेती है। 2. कर्त्तव्य और नियम (जहां तक कि उनका सद्गुणों से विभेद किया जाता है) के सिद्धांतों और उनके महत्वपूर्ण विवरणों की छानबीन करना। 3. जिसके द्वारा कर्त्तव्य का बोध होता है उस नैतिक विवेक शक्ति के स्वरूप एवं मूलस्रोत के सम्बंध में विचार करना और सामान्य तथा मानवीय कार्यों में बुद्धि के योगदान को स्पष्ट करना एवं मानव की विभिन्न वासनाओं एवं कामनाओं से बुद्धि के सम्बंध के बारे में विचार करना। 4. मानवीय संकल्प की स्वतंत्रता के प्रश्न की समीक्षा करना।

जहां तक मानवीय शुभ को विश्व-शुभ के अंतर्गत माना जाता है या उसके समान माना जाता है नैतिकता को ईश्वर निर्मित विधान माना जाता है। नीतिशास्त्र धर्मशास्त्र से सम्बंधित हैं। इसी प्रकार जहां तक वैयक्तिक कल्याण सामाजिक कल्याण के साथ जुड़ा हुआ है नीतिशास्त्र राजनीतिशास्त्र से सम्बंधित है। पुनश्च, यदि हम विधिशास्त्र को राजनीतिशास्त्र से अलग करे तो जहां तक नैतिकता का स्वाभाविक

नियमों से तादात्म्य किया जा सकता है वह विधिशास्त्र से भी सम्बंधित है। अंत में नैतिक विवेचना की प्रत्येक शाखा आंशिक रूप में मनोविज्ञान का एक अंग भी होती है। नैतिक विवेकशक्ति के मूल स्रोत एवं संकल्प की स्वतंत्रता सम्बंधी सारी खोजबीन मनोवैज्ञानिक ही है, किंतु जब मनोविज्ञान को अनुभवाश्रित प्रयोगमूलक विज्ञान मानकर तत्त्वमीमांसा से अलग कर दिया जाता है तो संकल्प की स्वतंत्रता सम्बंधी विवेचना को तत्त्वमीमांसा के अंतर्गत रखना होगा।

अब हम प्रारम्भिक युग से लेकर अब तक के यूरोपीय नैतिक चिंतन का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे। यद्यपि आधुनिक युग के अंतिम भाग की विवेचना में हमने अपने को इंग्लैण्ड में विकसित एवं उसके चिंतन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने वाली विचारधाराओं तक ही सीमित रखा है। सामान्यतया 'मारल' शब्द इथिकल का पर्यायवाची माना जाता है। हमने भी अगले पृष्ठों में इन दोनों का प्रयोग इन्हें पर्यायवाची मानकर ही किया है।

संदर्भ -

1. वस्तुतः इस कथन को स्पष्टीकरण के हेतु स्टोहकवाद पर लागू किए गए उन कुछ विशिष्टताओं की अपेक्षा हैं जिनके द्वारा, जैसा कि प्रतीत होता है, आंशिक रूप से प्राचीन विचार पद्धति का आधुनिक विचार पद्धति में संक्रमण हुआ। देखिएं- अध्याय 2, पृ. 15 एवं 19 तथा अध्याय 5, पृ. 11 ।

अध्याय - 2

ग्रीक और ग्रीक-रोमन नीतिशास्त्र

यूरोपीयन सभ्यता के अन्य तथ्यों के समान ही ग्रीक नैतिक चिंतन का तथा उसी से विकसित यूरोपीय नैतिक चिंतन का प्रारम्भ भी आकस्मिक एवं अनपेक्षित नहीं है। ईसा पूर्व सातवीं एवं छठवीं शताब्दी के ग्रीक सूक्तिकाव्य ग्रीक साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। उनमें ग्रीक ऋषियों के आचरण सम्बंधी बिखरे हुए विचार-कण एवं सहज-प्रसूत उद्‌गार सर्वत्र उदीयमान नैतिक चिंतन को अभिव्यक्त करते हैं। ग्रीक सभ्यता के विकास में उनके कथनों के महत्व का मूल्यांकन उन्हें छठवीं शताब्दी के सप्त ऋषि कहकर किया गया है। प्लेटो और अरस्तू ने इन कवियों एवं ऋषियों की नैतिक परिभाषाओं एवं सूक्तियों को उद्धृत कर नैतिक चिंतन पर इनके प्रभाव को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है, किंतु उनके नैतिक चिंतन को अभी इन उद्‌गारों से नैतिक दर्शन के निर्माण तक का एक लम्बा मार्ग तय करना था। यद्यपि ग्रीस के प्रथम भौतिकवादी दार्शनिक थेल्स (640-560 ई.पू.) इन सप्त ऋषियों में से हैं, फिर भी उनकी व्यावहारिक बुद्धि में दार्शनिक कल्याण मानने का कोई आधार नहीं दिखाई देता है। साधारणतया थेल्स से सुकरात के युग तक ग्रीक दर्शन की रुचि का सामान्य केंद्रबिंदु नैतिक समस्याएं न होकर भौतिक एवं तात्त्विक समस्याएं ही रही हैं। सुकरात के पूर्ववर्ती मौलिक चिंतकों में यदि हम सोफिस्ट विचारकों को छोड़ दें, तो केवल तीन विचारक शेष रहते हैं, जिनकी नैतिक शिक्षाएं हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। ये तीन विचारक पाइथागोरस, हेराक्लाइट्स और डेमोक्रिटस हैं। यह दृष्टव्य है कि इनमें से प्रत्येक विचारक सुकरात के बाद की तीन प्रमुख विचारधाराओं में से किसी एक के महत्वपूर्ण तथ्यों की रोचक ढंग से पूर्व-अवधारणा प्रस्तुत करता है।

पाइथागोरस (580-500 ई.पू.)

यदि हम उन दंतकथाओं के गहन आवरण में से, जिन्होंने उनकी ऐतिहासिक परम्परा को ढंक लिया है, किसी निश्चितता के साथ उनकी रचनाओं की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकें, तो सम्भवतया उन सप्त मनीषियों में प्रथम पाइथागोरस हमारे लिए सबसे अधिक रुचिकर सिद्ध होंगे। पाइथागोरस के सम्बंध में उपलब्ध विश्वसनीय प्रमाण उन्हें नैतिक दर्शन के प्रवर्त्तक की अपेक्षा आत्मा के

पुनर्जन्म के सिद्धांत में आस्था रखने वाले नैतिक एवं धार्मिक लक्ष्यों से युक्त एक धर्म संघ के संस्थापक के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। पाइथागोरस में मिताचार (संयम), धैर्य, मैत्री सम्बंध में विश्वसनीयता, शासन की आज्ञाओं एवं विधानों का पालन, मृत-मांस का त्याग, प्रतिदिन आत्मालोचन तथा धर्मानुष्ठान की क्रियाओं को करने की शिक्षाएं दी थीं। उनके इन उपदेशों में हम एक ऐसा प्रयास देखते हैं, जो मनुष्य के जीवन को यथासम्भव ईश्वर के अनुरूप ढालना चाहता है और जो अपनी मौलिकता एवं गम्भीरता के लिए आश्चर्यजनक है, किंतु ये उपदेश या शिक्षाएं भी दार्शनिक पद्धति की अपेक्षा ईश-दूत संवाद की परम्परागत शैली में दी गई हैं तथा उनके शिष्यों के द्वारा अपने गुरु की बात का पूर्ण अविवेकपूर्ण श्रद्धा (अंध श्रद्धा) के साथ बिना उस बात की विवेचना किए ही वैसी की वैसी स्वीकार कर ली गई है कि वे किसी ठोस बौद्धिक आधार पर स्थित हैं या केवल काल्पनिक हैं।[1], तथापि पाइथागोरस की शिक्षाओं के इन बिखरे हुए विचारों में, जो कि हम तक पहुंच पाएं हैं, एक वास्तविक दार्शनिक तत्त्व को खोजा जा सकता है। यद्यपि पाइथागोरस की यह मान्यता कि 'न्याय का सार वर्ग अंक है' प्रथमतः हमें डरावनी लगती है, तथापि यह पाइथागोरस के दर्शन के प्रमुख लक्षण गंणितीय दृष्टिकोण को आचरण के क्षेत्र तक व्यापक बनाने के एक गम्भीर प्रयास की सूचक है। निःसंदेह वर्ग संख्या के प्रत्यय का प्रयोग त्याग की मात्रा के अनुरूप प्रतिफल के वास्तविक अनुपात को सूचित करने के लिए हुआ है, जो कि प्रतिवादात्मक न्याय (बदले के सिद्धांत) का सारभूत तत्त्व माना जाता है। पाइथागोरस के प्रमुख कथन हैं- सद्गुण और स्वास्थ्य में सामंजस्य है, मित्रता एक सुसंगत समानता है। उसने एकता, मर्यादा, सरलता आदि गुणों को शुभ में और इनके विरोधी गुणों को अशुभ में वर्गीकृत किया है।

उसकी उपर्युक्त धारणा में हम प्लेटो के उस दृष्टिकोण का बीज पाते हैं, जिसके अनुसार मानवीय आचरण में बाह्य जगत् में तथा कलाकृतियों में शुभत्व उनके अच्छे परिणामों के मात्रात्मक सम्बंधों पर निर्भर रखता है, यह समानुपात अति या कमी के दोष से सर्वथा रहित है।

हेराक्लाइट्स (530 ई.पू. से 470 ई.पू.)

यदि पाइथागोरस आंशिक रूप में प्लेटोवाद की किन्ही धारणाओं के पूर्व प्रस्तोता हैं, तो हेराक्लाइट्स को स्टोइकवाद का पूर्व प्रवक्ता कहा जा

सकता है। यद्यपि हमें उनके अंध दार्शनिकीकरण में उपस्थित नैतिक तथ्यों से किसी पूर्ण नैतिक दर्शन के निर्माण का कोई वास्तविक आधार नहीं दिखाई देता है, फिर भी ईश्वरीय, बौद्धिक एवं प्राकृतिक-इन तीन पक्षों से युक्त एक वस्तुनिष्ठ नैतिक नियम के प्रति उनकी अडिग आस्था है। प्रथमतः वे यह उपदेश देते हैं कि मनुष्यों को उस ईश्वरीय नियम का पालन करना चाहिए, जो सभी मानवीय नियमों का आधार है। ईश्वरीय नियम 'न्याय' की सर्वोपरिता स्थापित करते हैं, जिसके अधीन देवगण भी हैं। दूसरे वे यह भी निर्देश देते हैं कि मनुष्यों को 'विवेक' (बुद्धि) से पूर्णतया अनुशासित होना चाहिए। यद्यपि यह विवेकशक्ति (बुद्धि) सभी मनुष्यों में उपस्थित है, तो भी अनेक व्यक्ति ऐन्द्रिक प्रताड़ना के शिकार हो जाते हैं और निम्नतम क्षुधाओं (वासनाओं) की संतुष्टि में ही सुख मान लेते हैं। पुनः वे यह कहकर कि 'विवेक' समझपूर्वक प्रकृति के अनुरूप आचरण करना है, नैतिक नियम में ईश्वरीय और बौद्धिक पक्षों के साथ साथ तीसरा प्राकृतिक पक्ष भी स्वीकार कर लेते है। हेराक्लाइटस के नैतिक नियम के उपर्युक्त दृष्टिकोण में हमें स्टोइकवादी तत्त्व की पूर्व - अवधारणा स्पष्टतया परिलक्षित होती है। युद्ध एवं संघर्षों से परिपूर्ण इस विश्व में पूर्ण मंगलकारी निष्पक्ष एवं न्यायी ईश्वर की कृपा के उनके आशावादी दृष्टिकोण में हम विश्व पूर्णता के विकसित प्रमाण की वह सरल पूर्व अवधारणा पाते हैं, जिसका वाद में स्टोइकों ने निर्माण किया था। उनके इस आशावादी दृष्टिकोण में आभासी न्याय (असमानता) केवल मानव बुद्धि सापेक्ष है, हम यह भी मान सकते हैं कि ईश्वरीय आदेश के प्रति आत्मसमर्पण में हेराक्लाइट्स उस आत्म तुष्टि को प्राप्त करते हैं, जिसे उन्होंने परम शुभ बताया है। परवर्ती स्टोइक विचारकों ने भी ईश्वरीय आदेशों के प्रति प्रसन्नता पूर्वक मौन स्वीकृति के लिए इसी पद का उपयोग किया है।

(यहां केवल भावानुवाद ही किया गया है।)

डेमोक्रिट्स (460 ई.पू. - 370 ई.पू.)

जिस प्रकार हेराक्लाइट्स स्टोइकवाद से सम्बंधित है, ठीक उसी प्रकार डेमाक्रिट्स का दर्शन पूर्णतया इपीक्यूसियनवाद से सम्बंधित है। सामान्यतया हेमाक्रिटस को सुकरात के पूर्ववर्ती विचारकों में वर्गीकृत किया गया है, यह ठीक भी है, क्योंकि उनके दर्शन में सुकरात का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता है, जबकि ग्रीस के नैतिक दर्शन के बाद के सभी मुख्य सम्प्रदायों का प्रस्थान बिंदु सुकरात की शिक्षाएं हैं। डेमाक्रिट्स सुकरात के समकालीन हैं, यद्यपि

आयु में वे उनसे छोटे हैं। उनकी भौतिकी की विवेचना में इपीक्यूरीयनवाद की पूर्ण अवधारणा स्पष्टतया परिलक्षित होती है। इपीक्यूरीयनवाद उनके नीतिशास्त्र की अपेक्षा उनके भौतिकी के सिद्धांत से ही अधिक प्रभावित है, फिर भी उनकी नैतिक विवेचना में कुछ ऐसे तथ्य अवश्य हैं, जिनका स्वरूप निश्चित रूप से इपीक्यूरियनवाद जैसा है। इस प्रकार ये प्रथम विचारक है जो आनंद या प्रफुल्लता को ही अंतिम या सर्वोच्च शुभ मानते हैं। वे इस उच्चतम शुभ का तादात्म्य विक्षोभ रहित एवं समभाव से युक्त मनोदशा से करते हैं तथा अधिकतम सुख की उपलब्धि के साधन के रूप में मिताचार (संयम) और इच्छाओं को सीमित करने पर बल देते हैं। वे मात्र दैहिक सुखों के स्थान पर आत्मिक आनंद को प्राथमिकता देते हैं, विशेष रूप से इस भय से कि मरणोपरांत क्या होगा? तथा स्वयं मृत्यु के भय से मुक्ति पाने के लिए वे अंतर्दृष्टि या प्रज्ञा को महत्व प्रदान करते हैं। उनकी उपर्युक्त सभी शिक्षाएं इपीक्यूरीयनवाद में भी पाई जाती हैं। यदि हम डेमाक्रिटस की उपलब्ध नैतिक शिक्षाओं के मुख्य भाग का मूल्यांकन केवल उनके कथनों के इन अंशों के आधार पर करें, तो हमें इनका चिंतन वैसा ही अव्यवस्थित लगता है, जैसा कि सुकरात के पूर्ववर्ती युग के दार्शनिकों का होता था। उनकी मुख्य शिक्षाएं हैं - अन्याय करने की अपेक्षा अन्याय सहन करना बुरा है, केवल बुराई करना ही नहीं, वरन् बुराई का विचार भी घृणित एवं अनुचित है। उनके उपरोक्त उपदेशों में नैतिक भावनाओं के उन्नयन के प्रयास की सहज अभिव्यक्ति तो है, किंतु उनके परम शुभ के दृष्टिकोण से उनकी कोई संगति नहीं बैठती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हो सकता है कि हेमाक्रिटस की नैतिक शिक्षाओं का जो भाग हमें उपलब्ध है, वह यह अनुमान करने के लिए पर्याप्त है कि ग्रीक दर्शन किस प्रकार नीतिशास्त्र की दिशा में अग्रसर होता है। वस्तुतः ग्रीक दर्शन को नीतिशास्त्र की दिशा में मोड़ने का श्रेय सुकरात को है, यद्यपि उनके बिना भी यह हो पाना संभव था, किंतु उन्हें यह श्रेय नैतिक दिशा को वैज्ञानिक बनाने के हेतु आवश्यक औपचारिकताओं को पूरा करने सम्बंधी प्रारम्भिक ज्ञान के लिए ही दिया जाता है।

यह सही है कि जब तक जन साधारण के सामान्य नैतिक विचारों की अस्पष्टता और असंगति की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, तब तक किसी भी नैतिक दर्शन का संतोषजनक ढंग से निर्माण संभव नहीं है जब भी इस ओर ध्यान नहीं दिया गया दार्शनिकों का नैतिक विमर्श अनिवार्यतया अस्पष्टता और असंगति के इन दोषों से युक्त रहा। चाहे उन्होंने साधारण जनता की कितनी ही अवहेलना क्यों न की हो।

अस्पष्टता और असंगति से बचने के लिए आचरण सम्बंधी समस्याओं पर प्रथम श्रेणी की दार्शनिक बुद्धि का ध्यान केंद्रित होना आवश्यक है। सर्वप्रथम हम सुकरात में आचरण के प्रति सर्वोपरी रूचि तथा ज्ञान की एक ऐसी उत्कट अभिलाषा का अपेक्षित समन्वय देखते हैं, जो तात्त्विक चिंतन के परिणामों के प्रति गहन असंतोष तथा भौतिक विश्व के रहस्यों को जान लेने की सम्भावना के प्रति अविश्वास के कारण उन भौतिक एवं आधिभौतिक (तात्त्विक) गवेषणाओं से विमुख हो चुकी थी। जिन्होंने उसके पूर्ववर्ती विचारकों का ध्यान अपनी ओर बँटा लिया था। सुकरात के अनुसार इन पूर्ववर्ती विचारकों के सिद्धांत स्पष्ट रूप से अतर्कसंगत तथा परस्पर इतने विरोधी थे कि वे पागल व्यक्ति के प्रलाप के समान लगते थे। पूर्ववर्ती समस्त परम्परावादी दार्शनिकों के प्रति एक ऐसा निषेधात्मक दृष्टिकोण गार्गीअस के अतिरंजित संदेहवाद की अभिव्यक्ति में भी पाया जाता है। गार्गीअस की मान्यता यह थी कि वस्तुओं के उस तात्त्विक स्वरूप का, जिसकी दार्शनिक खोज करते है, कोई अस्तित्त्व ही नहीं है और न उसे किसी प्रकार से जाना जा सकता है यदि उस तात्त्विक स्वरूप को ज़ाना भी जा सके, तो भी उसकी शब्दाभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। इसी प्रकार पाइथागोरस ने भी अपनी प्रमुख स्थापना में यह बताया था कि 'क्या है और क्या नहीं है' इसका एकमात्र प्रमाण मानवीय एन्द्रिय बोध है।[2] सुकरात के विचारों में ऐसे दृष्टिकोण को उसकी उस सहज धर्मनिष्ठा के आधार पर अधिक समर्थन मिला है। सुकरात उन वस्तुओं की खोज के प्रति अनिच्छुक थे, जिनको ज्ञान देवताओं ने अपने तक ही सीमित रख छोड़ा है। दूसरी ओर वे मानवीय आचरण का नियंत्रण मानवीय बुद्धि पर छोड़ देते हैं। (सिवाय उन कठिन अवसरों के, जिन्हें शकुन या देव वाणी की कृपा पर छोड़ दिया जाता था।) सुकरात ने इसीलिए अपने प्रयासों को मानवीय बुद्धि पर केंद्रित किया।

सोफिस्ट विचारकों का युग (450 ई.पू. - 400 ई.पू.)

यद्यपि शुभाचरण के बुद्धिसंगत सिद्धांत का मार्ग मूलतः सुकरात का नहीं, तथापि सदाचरण के लिए ज्ञान की अनिवार्यता की उनकी धारणा उच्च कोटि की थी। अधिकांश स्वतंत्र चिंतकों के विचार भी अपने युग से निर्धारित होते हैं। हम सुकरात के प्रयासों को भी आचरण की कला को सिखाने के व्यावसायिक प्रशिक्षण से अलग नहीं कर सकते हैं। यह प्रशिक्षण व्यक्तियों के एक ऐसे वर्ग के द्वारा किया जाता था जिन्हें सोफिस्ट कहा जाता है। सोफिस्ट का उदय ग्रीक सभ्यता के उस युग की सबसे अधिक प्रभावशाली घटना थी। मानवीय श्रेष्ठताओं एवं सद्गुणों के इन

पेशेवर शिक्षकों[3] (वृत्तिक शिक्षकों) में सबसे अधिक प्रतिभाशाली एवं प्रभावशील ऐव्हेरा के प्रोटोगोरस हैं।

प्रोटागोरस

प्रोटागोरस के दार्शनिक विचारकों की चर्चा हमने अभी की है यह सम्भव है कि व्याख्याओं के द्वारा सद्गुणों का प्रशिक्षण देने का मूल विचार इस तेजस्वी एवं साहसी चिंतक के द्वारा प्रस्तुत किया गया हों। यह भी माना जा सकता है कि प्रोटागोरस भी सुकरात के समान ही तत्कालीन सत्ता मीमांसात्मक चिंतन के प्रति अपने निषेधात्मक दृष्टिकोण के कारण मानवीय आचरण के अध्ययन की ओर झुके हो। प्रोटागोरस, प्रोडिक्स, हिप्पीजस तथा सोफिस्ट विचारकों के द्वारा प्रदत्त प्रशिक्षण किसी दार्शनिक सिद्धांत पर आधारित था, ऐसा प्रतीत नहीं होता है, फिर भी किसी दार्शनिक विषय की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय था। उसमें यह परिलक्षित होता था कि सुख की प्राप्ति तथा दुःख से बचने के साधन के रूप में संसार में सफलता प्राप्त करने की कला को किसी रूप में सार्वजनिक प्रशासन की कला के साथ मिला दिया गया था। इसी प्रकार विभिन्न सद्गुणों की प्रशंसनीय अभिव्यक्ति को सद्गुणों के तर्कसंगत औचित्य स्थापन के साथ सम्मिलित कर दिया था। इस अंतिम बात का सबसे अच्छा उदाहरण प्रोडीक्स द्वारा प्रस्तुत 'हरक्यूलस की पसंदगी' नामक लोक कथा में मिलता है। सोफिस्ट विचारकों की शिक्षाओं का स्थान कितना ही साधारण क्यों न रहा हो, एक नई सामाजिक आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए इस नए कार्य या व्यवसाय का उद्भव बहुत ही महत्वपूर्ण है। उनके कार्य की मौलिकता को और उन कार्यों से उत्पन्न सामाजिक प्रभाव को समझने के लिए हमें उस युग की ऐसी कलाकृतियों को समझना होगा, जो उनके चिंतन से प्रेरित एवं विकसित हुई थी और जो विश्व का आश्चर्य बनकर रही है, किंतु यह सभी नैतिकता के संस्थागत या राज्यस्तरीय प्रशिक्षण के अभाव में ही हुआ। वह समाज एक ऐसा समाज था, जिसमें 'होमर' के महाकाव्य ने 'बाइबिल' का स्थान ले लिया था। यद्यपि होमर ने अपने महाकाव्य में बाइबिल के दस धर्मादेशों जैसी कोई बात नहीं की है, फिर भी वह विभिन्न प्रकार की मानवीय अच्छाइयों एवं बुराइयों के सम्बंध में प्रभावशाली विचार प्रस्तुत करता है तथा चरित्र के उन लक्षणों का विवरण देता है, जो पसंदगी या घृणा के उद्गारों का कारण होते हैं। होमर के इलियट नामक महाकाव्य के उस युग में ग्रीक नगर राज्यों में एक कर्मठ एवं

सुसंगठित सामाजिक जीवन का विकास हुआ था और ईसा की पांचवीं शताब्दी में मुख्य रूप से ऐथेन्स में अपनी उच्चता के शिखर पर पहुंच चुका था। उस सामाजिक जीवन में प्रशंसा और निंदा को ऐसे गुणों से संबंधित माना गया, जिनमें स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्ति की पूर्णता और विवेक की सूक्ष्मता हो। मानवीय अच्छाइयों में सद्‌गुण और नैतिक अच्छाई को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया था, यद्यपि उन्हें बुद्धि-कौशल और प्रतिभा तथा सामाजिक व्यवहार की शिष्टता से स्पष्टतया अलग नहीं किया गया था। कोई भी सभ्य ग्रीक नागरिक अथवा न्यायी एवं सदाचारी व्यक्ति इसमें संदेह नहीं करेगा कि मानवीय कल्याण या अच्छाइयों के विभिन्न घटक या तो ऐसे गुण है, जो वांछनीय है, अथवा वे विषय हैं, जिन्हें प्राप्त करना मानव जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। यह सम्भव है कि व्यक्ति को शुभ एवं वांछनीय के वर्ग में उनकी तरतमता या स्थिति का निश्चित बोध नहीं हो अथवा उसे सदाचरण और सुख, सम्पत्ति एवं शक्ति की प्राप्ति के बीच समय–समय पर परिलक्षित होने वाले आभासी विरोध के कारण थोड़ी बहुत परेशानी हो उसे इस सम्बंध में भी संशय हो सकता है, कि शुभ और वांछनीय माने जाने वाले सद्‌गुण किसी सीमा तक सदैव ही अन्य हितों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हों, किंतु ऐसे संदेह थोड़े से व्यक्तियों को कभी-कभी होते हैं और वे भी अस्थाई होते हैं। एक निष्पक्ष व्यक्ति की दृष्टि में विषयों की ओर निर्दिष्ट मोहक इच्छाओं पर विजय पाने में ही व्यक्ति के सद्‌गुणों का सौंदर्य निखरता है। इस प्रकार एक सामान्य सुशिक्षित ऐथेंसवासी मात्र इसी बात से पूर्णतया आश्वस्त था कि मनुष्य के लिए सद्‌गुणी होना अच्छा (शुभ) है और अधिक सद्‌गुणी होना अधिक अच्छा है। उसके लिए सद्‌गुणी होना ठीक उसी प्रकार अच्छा है, जिस प्रकार कि बुद्धिमान्, स्वस्थ, सुंदर और समृद्धिशाली होना अच्छा है।

इसीलिए जब प्रोटागोरस अथवा अन्य सोफिस्ट विचारक सद्‌गुण या श्रेष्ठ आचरण का उपदेश देते हैं, तो वे अपने श्रोताओं में सद्‌गुण और विवेकयुक्त स्वहित के बीच किसी संभावित विरोध की सामान्य धारणा को नहीं पाते हैं। अच्छा जीवन किस प्रकार जीना चाहिए या अपने कार्यों को किस प्रकार ठीक ढंग से सम्पादित करना चाहिए यह सिखाने में वे एक ही साथ सद्‌गुण और स्वहित के इन दोनों ही दृष्टिकोणों से सम्यक जीवन जीने के सम्बंध में मार्गदर्शन देने का दावा प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि इस मार्गदर्शन की उपयोगिता या आवश्यकता को सर्वसाधारण

से स्वीकृति कैसे प्राप्त हो गई? सोफिस्टो को मिलने वाली सफलता ही इस सामान्य स्वीकृति की सूचक है। जब अनेक शताब्दियों तक ग्रीक लोग निःसंकोच भाव से विश्वासपूर्वक प्रशंसा और निंदा करने में अपनी नैतिक धारणाओं का उपयोग करते रहे और सद्‌गुण की प्राप्ति में असफलता के लिए मिथ्याज्ञान की अपेक्षा अन्य कारण को मानते रहे, तो फिर अचानक ही उन्हें यह विश्वास कैसे हो गया कि शुभाचरण ऐसी कोई वस्तु है, जिसे व्याख्यानों के माध्यम से सीखा जा सकता है। इस प्रश्न का आंशिक उत्तर उस दृष्टिकोण के विलयन के द्वारा खोजा जा सकता है, जिसका हमने अभी विवेचन किया है। इन दोनों दृष्टिकोणों के विलयन के परिणामस्वरूप जीवन को शक्ति एवं समृद्धि प्रदान करने वाली अन्य उपलब्धियों को ऐसे सद्‌गुणों से स्पष्टतया अलग नहीं किया गया है जिनकी शिक्षा सोफिस्ट विचारक व्याख्यानों के माध्यम से प्रदान करते थे। वर्तमान युग के समान उस युग में भी अनेक व्यक्ति यह मानते थे कि उन्हें न्याय और संयम के स्वरूप का समुचित ज्ञान है। यद्यपि सामान्य जीवन को उत्तम बनाने की कला की जानकारी के सम्बंध में वे पूर्ण आश्वस्त नहीं थे। पुनश्च हमें उस युग के ग्रीक नगर राज्यों में जन्मे स्वतंत्र और आरामप्रिय ग्रीक नागरिकों के नागरिक एवं सामाजिक जीवन के महत्व का भी स्मरण रखना पड़ेगा। आचरण की कला का उन्हें जिस ढंग से उपदेश एवं प्रशिक्षण दिया गया था, उसका मुख्य तात्पर्य नागरिक जीवन की कला से था। वस्तुतः प्लेटो के संवादों में प्रोटागोरस ने अपना कार्य नागरिक गुणों का प्रशिक्षण देना बताया है। नागरिक गुणों से उनका तात्पर्य वैयक्तिक कार्यों के समान ही नागरिक कार्यों को सम्पादित करने की कला से था। यह स्वाभाविक भी है कि जन साधारण, वैयक्तिक कार्यों की व्यवस्था की अपेक्षा शासन प्रबंध सम्बंधी कार्यों के लिए भी वैज्ञानिक प्रशिक्षण को आवश्यक समझे।

इन पेशेवर शिक्षकों के द्वारा जीवन जीने की जिस कला का आविर्भाव हुआ, उसे ग्रीक सभ्यता के इस युग की सामान्य प्रवृत्ति की महत्वपूर्ण उपलब्धियों के प्रकाश में ठीक ढंग से समझा जा सकता है। इस युग में अनुभवों से विकसित योग्यता और परम्परागत कार्यप्रणाली का स्थान तकनीकी निपुणता ने ले लिया था। सोफिस्ट विचारकों के इस युग में सर्वत्र ही ज्ञान प्राप्ति की उत्कण्ठा और व्यवहार में उसके उपयोग के प्रयासों के लिए तीव्र उत्सुकता परिलक्षित होती है। भूमापन की विधि शीघ्रता से वैज्ञानिक स्वरूप ग्रहण कर रही थी। मेटन की ज्योतिषविद्या में काल गणना में सूक्ष्मता

और यथार्थता ला दी थी। हिप्पोहेमस सीधी चौड़ी सड़कों से युक्त नगरों का निर्माण कर वास्तु-शिल्प में क्रांति कर रहे थे। पुराने सैनिक रणनीति के नए पाण्डित्य एवं कौशल से युक्त होकर सिंहनाद कर रहे थे। संगीत कला में नवीन तकनीकी महत्वपूर्ण प्रगति कर रही थी। संगीत के साथ–साथ ग्रीक शिक्षा के सामान्य अंग शारीरिक प्रशिक्षण में भी एक बहुत ही बड़ा परिवर्तन हो चुका था। यदि यह माना जाए कि शारीरिक बल प्रकृति और स्वैच्छिक व्यायाम से नहीं, अपितु पेशेवर प्रशिक्षकों के द्वारा निर्धारित व्यायाम नियमों के सम्यक् परिपालन से प्राप्त होता है, तो यह सोचना भी स्वाभाविक होगा कि आत्मा के उत्कर्ष के लिए भी इन पेशेवर शिक्षकों के द्वारा निर्धारित नियमों का पालन आवश्यक है। पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सिवली में विकसित वक्तृत्वकला भी इसी सामान्य प्रवृत्ति का एक विशेष महत्वपूर्ण उदाहरण थी। यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सामान्यतया वक्तव्य का व्यवसाय सोफिस्टो के साथ जुड़ा हुआ है। वस्तुतः सुकरात के युग में लोग सोफिस्टो एवं दार्शनिकों के उच्च दावों को अमान्य करते और वे उन्हें शब्दों की कला सिखाने वाला समझते थे। यह कैसे हुआ इसे समझना आसान हैं जब आचरण की कला की आवश्यकता का अनुभव किया गया, तो उसकी पूर्त्ति के लिए आचरण सम्बंधी मान्यताओं तथा सिद्धांतों को समझने में प्रवीण वक्तृत्व कला के शिक्षक या साहित्य शास्त्री का आगे आना स्वाभाविक ही था, किंतु उन्हें ऐसा करने के लिए पाखण्डी मानने का कोई कारण नहीं है। उनकी स्थिति हमारे युग के व्यावसायिक पत्रकारों के समान है। व्यावसायिक पत्रकारों को मानव जाति का राजनीतिक प्रशिक्षक इसलिए नहीं माना जाता है कि उनमें राजनयिक प्रज्ञा की विशेष योग्यता है, अपितु इसलिए कि उनमें सामयिक लेखन का कौशल है। प्लेटो ने अपने ग्रंथ में प्रोटागोरस के द्वारा यह कहलवाया है कि सोफिस्ट सद्गुणों के प्रशिक्षण के द्वारा साधारण जन जिस प्रकार कार्य करते हैं, उसकी अपेक्षा थोड़े ही अच्छे ढंग से कार्य कर सकने का दावा करते थे। ऐसे ही हम भी यह कह सकते हैं कि जब सोफिस्ट विचारक सुकरात की कसौटी पर कसे जाते हैं, तो वे उन त्रुटियों (कमियों) में, जिन्हें उन महान् अन्वेषकों (प्रश्नकर्त्ता) ने भी पूरा नहीं पाया है, वे भी दूसरों की अपेक्षा कुछ ही अधिक उत्कृष्टता दिखा पाते हैं।

सुकरात (जन्म लगभग 470 ई.पू. - मृत्यु 399 ई.पू.)

सुकरात ने सोफिस्ट विचारकों और उनके अनुयायियों पर जो आरोप

लगाया है, उस पर सामान्यतया दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। एक ओर यह आरोप बिलकुल सहज और सरल है, किंतु दूसरी ओर वैज्ञानिक विधि में यह क्रांति ला देता है। उसमें तात्त्विक पद्धति के बीज निहित हैं। सरल शब्दों में तो सुकरात का आक्षेप यह है कि सोफिस्ट न्याय, संयम, नियम आदि की बात तो करते हैं, किंतु उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं बता पाते हैं। विवश कर देने पर वे इनका जो विवरण देते हैं, वह भी न्याय, वैधानिकता आदि के विशेष उदाहरणों में उनके अपने ही निर्णयों से असंगत सिद्ध हो जाता है। सुकरात उन्हें इन असंगतियों को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर देते थे। यद्यपि अपने ही द्वारा प्रयुक्त पदों के वास्तविक अर्थ का यह 'अज्ञान' जिसे सुकरात ने अपने समकालीन विचारकों में दिखाया है, मात्र ज्ञान की कमी का परिचायक नहीं था, फिर भी यह बहुत ही आश्चर्यजनक था और उसका अनावरण बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण था तथा दार्शनिक उपलब्धि थी। जिस प्रसिद्ध तर्क पद्धति के द्वारा उन्होंने अपने वादियों को उनके अज्ञान से अवगत कराया, वहीं तर्क पद्धति सामान्य प्रत्ययों की वास्तविक परिभाषाओं की वैज्ञानिक आवश्यकता का भी प्रतिपादन करती है, इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विशेष तथ्यों की सावधानीपूर्वक तुलना के द्वारा ही परिभाषाएं प्राप्त की जाए। साथ ही अरस्तू के इस कथन की सार्थकता भी समझ में आ जाती है कि दर्शन के क्षेत्र में सुकरात का सबसे महा योगदान आगमन पद्धति और परिभाषाओं का प्रस्तुतिकरण है। यद्यपि यह मानना भी सुकरात की सरल तर्क पद्धति के लिए अधिक जटिल होगा और उसके विद्यातक प्रभावों को ठीक से नहीं बता पाएगा, क्योंकि प्लेटो के उन प्रारम्भिक संवादों से, जिनमें वास्तविक सुकरात की छाप कम से कम बदली हुई है, यह स्पष्ट हो जाता है कि इन अप्रतिरोधी तर्कों के परिणाम मुख्य रूप से निषेधात्मक ही थे। डेल्फिक की दिव्य वाणी ने उसे जो सर्वश्रेष्ठ प्रज्ञा प्रदान की थी, सुकरात ने उस प्रज्ञा को अज्ञान की विशिष्ट चेतना के रूप में ही माना था, परंतु प्लेटो की रचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुकरात की शिक्षाओं में एक विधायक सत्य भी उपस्थित है, यदि ऐसा नहीं मानेंगे, तो फिर सुकरात के व्याख्यानों को प्रत्यक्ष रूप से ऊंचा उठाने के झेनोफोन के प्रयत्न को तथा बिलकुल परम्परावादी उत्तरकालीन दार्शनिक सम्प्रदायों की उनके प्रति जो श्रद्धा है, उसको समझ पाना बिलकुल सम्भव नहीं होगा।

सुकरात की कृतियों में इन दो विद्यायक और विद्यातक तत्त्वों के संयोग ने इतिहासकारों के लिए कुछ कम उलझन पैदा नहीं की है। हम सुकरात के सिद्धांतों की

दार्शनिक संगति की तब तक पूर्ण रक्षा नहीं कर सकते हैं, जब तक कि झेनोफोन द्वारा उनके नाम से प्रस्तुत सिद्धांतों को केवल कामचलाऊ तथा अस्थाई नहीं मान लेते हैं, फिर भी नैतिक सिद्धांत के इतिहास की दृष्टि से सुकरात के विचार विधायक एवं महत्वपूर्ण हैं। वे विधायक निष्कर्ष न केवल उनकी अज्ञान की स्वीकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं, वरन् उनकी जनसाधारण के मतों की जिरह को समझ पाना भी आसान बना देते हैं। सुकरात के अनुसार मनुष्यों को अपने वास्तविक शुभ का अज्ञान ही उनके दुराचरण का मूलभूत कारण है। सुकरात के सभी विधायक निष्कर्ष उनकी इसी गम्भीर धारणा में निहित हैं या शुभ के ज्ञान की प्रभाव क्षमता के उच्चतम मूल्यांकन से निकाले गए हैं, यद्यपि शुभ के ज्ञान की प्रभाव क्षमता का पता लगा लेना कठिन है। यदि सुकरात के उन स्वाभाविक प्रश्नों का यह उत्तर दिया जाए कि न्याय और पवित्रता के स्वरूप को हम जानते तो हैं, किंतु बता नहीं सकते हैं, तो वे कहेंगे कि फिर न्याय और पवित्रता है के स्वरूप के सम्बंध में हमेशा से विचार क्यों होता रहा? सुकरात का कहना है कि न्याय और पवित्रता का सच्चा ज्ञान तो इन विवादों का निराकरण कर देगा और मनुष्यों के नैतिक निर्णयों तथा आचरण में एकरूपता ला देगा। निःसंदेह हमारे लिए मनुष्य के न्याय (उचित) सम्बंधी अज्ञान को ही उसके अनैतिक आचरण का एकमात्र कारण मान लेना बेतुका विरोधाभास है और यह संभव है कि ग्रीक मानस को भी यह दृष्टिकोण विरोधाभास युक्त लगा होगा, किंतु यदि हम न केवल सुकरात की, वरन् सामान्यतया प्राचीन दर्शन की स्थिति को समझने का प्रयास करें, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि यह विरोधाभास निम्न आभासी स्वयंसिद्धियों का लगभग अकाट्य निष्कर्ष है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति अपना हित (शुभ) चाहता है और यदि वह उसे प्राप्त कर सकता है, तो प्राप्त करता है। शायद ही कोई भी विरोधी इसे चुनौती देने का साहस कर सकेगा। वह इस बात से भी इंकार नहीं कर सकेगा कि न्यायशीलता और सद्गुण शुभ हैं तथा सभी शुभों में सर्वोत्तम भी हैं। उसके लिए यह अस्वीकार करना भी कठिन होगा कि जो लोग यह जानते हैं कि न्याय और उचित कर्म कौन से हैं वे उनके अतिरिक्त अन्य किसी कर्म को पसंद भी नहीं करेंगे और जो न्याय और उचित कर्मों को नहीं जानते हैं, वे चाहते हुए भी उन्हें नहीं कर सकेंगे[4]। इससे हम सीधे सुकरात के उस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि न्याय और सभी सद्गुण प्रज्ञा या शुभ के ज्ञान में निहित हैं।

आधुनिक विचारकों की दृष्टि में सद्गुण सम्बंधी यह दृष्टिकोण नैतिक

स्वतंत्रता का विरोधी होगा, किंतु इसके विपरीत सुकरात की मान्यता में मात्र ज्ञान ही मनुष्य को स्वतंत्र बना सकता है। उनकी मान्यता यह है कि सदाचरण ही वस्तुतः ऐच्छिक है। एक दुराचारी तो अपने अज्ञान के कारण वह करने को बाध्य होता है, जो उसकी वास्तविक इच्छा का विरोधी है, जबकि उसकी वास्तविक इच्छा ही उसके लिए सदैव ही सर्वोच्च शुभ है। मात्र ज्ञान ही व्यक्ति को अपनी वास्तविक इच्छा को पूर्ण करने के लिए स्वतंत्र बना सकता है।

यद्यपि सुकरात और सोफिस्ट विचारकों में विरोध है, फिर भी उस आधार भूत धारणा के सम्बंध में, जिस पर सोफिस्टों के नवीन दावे आधारित थे, सुकरात की उनसे सारभूत एकता परिलक्षित होती है। उनकी धारणा यह है कि मनुष्य के लिए जीवन जीने की समुचित पद्धति की प्राप्ति ज्ञान पर निर्भर है। सम्यक्रूपेण योग्य बुद्धि के पर्याप्त प्रशिक्षण के द्वारा ही जीवन जीने की सच्ची कला को जाना जा सकता है। यह मूलभूत धारणा सुकरात के बाद के सभी सम्प्रदायों के विकास में और उनकी विभिन्नताओं में यथावत् बनी रही। सुकरात के बाद ग्रीक दर्शन सदैव ही जीवन की सच्ची कला प्रकट करने का महत्वपूर्ण दावा प्रस्तुत करता रहा। यद्यपि भिन्न भिन्न सम्प्रदायों ने उसके क्षेत्र और पद्धतियों को अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया, तथापि हमेशा यह माना जाता रहा कि ज्ञान के द्वारा ही अच्छा जीवन जीया जा सकता है। इसके साथ ही अपने शिष्य प्लेटो के समान ही सुकरात राजनीति के क्षेत्र में भी ज्ञान की सर्वोपरिता को किसी प्रकार कम नहीं आंकते हैं। वे कहते हैं कि सच्चा सेनापति वह है, जो सैन्य संगठन की कला को जानता है, फिर चाहे वह सेनापति चुना जाए या नहीं। सभी लोगों के मतपत्र किसी अज्ञानी व्यक्ति को सेनापति के पद के योग्य नहीं बना सकते हैं। यह वस्तुतः प्लेटो की आदर्शवादी कल्पना की विशेष उड़ान नहीं थी, जिसमें उसने अपने आदर्श राज्य का पूर्ण नियंत्रण दार्शनिकों के हाथों में सौंपने की बात कही थी, अपितु यह तो उसके गुरु सुकरात के मुख्य सिद्धांत का सीधा क्रियान्वयन था, कि जो मनुष्य वास्तविक साध्य या शुभ का ज्ञान नहीं रखता है, वह अन्य मनुष्यों पर शासन करने के योग्य नहीं है।

यदि हम सद्गुण के ज्ञान को हित से भिन्न मानेंगे, तो फिर हमारा सुकरात द्वारा निदर्शित शुभ का ज्ञान भ्रांत होगा। उनके तर्क का बल सद्गुण और हित के प्रत्ययों की शुभ के अकेले प्रत्यय के साथ अवियोज्य एकात्मता में है। स्वयं सुकरात ने भी इनकी इस एकात्मता की खोज नहीं की थी, अपितु उसने भी सोफिस्टो के

समान ही इस एकात्मता की धारणा को उस युग की सामान्य विचारधारा से ग्रहण किया था, किंतु सद्गुण एवं हित की इस एकात्मता से व्यावहारिक निष्कर्ष निकालना और लोगों को इन निष्कर्षों से परिचित कराना सुकरात की तर्कपद्धति का प्राथमिक नैतिक कार्य था। जैसा कि झेनोफोन ने बताया है कि सुकरात की विधायक नैतिक शिक्षाओं का सार उनकी सत् की गम्भीर धारणा और मानवीय शुभ के सामान्यतया स्वीकृत विभिन्न घटकों की आवश्यक संगति में है। सभी लोग यह मानते हैं कि व्यक्ति के आत्मिक शुभों के सर्वोच्च मूल्यों के प्रति उनकी अटल निष्ठा थी। आज के समान ही उस युग में भी व्यक्ति के लिए ये आत्मिक शुभ उपलब्धि की अपेक्षा प्रशंसा के विषय ही अधिक थे। समस्त व्यावहारिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने वाले एक अयुक्तिसंगत आदर्श के साथ ही साथ इस धारणा से गुणों की ऐसी एकात्मता उत्पन्न होती है, जो सुकरात के व्यक्तित्व एवं शिक्षाओं, दोनों के द्वारा अभिव्यक्त होती है और जिन्हें प्लेटो के अनेक संवादों में अतुलनीय प्रभावशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। यहां हम आत्मत्याग को आत्मसम्मान के रूप में देखते हैं, जो उदात्त आध्यात्मिकता एवं स्वाभाविक विवेक के साथ मिश्रित है। चरित्र के उदारीकरण के लिए एक अदम्य उत्साह और उस उदात्त चरित्र को स्वयं में और दूसरे में प्रकट करने की एक सच्ची लगन है। यद्यपि एक शांत परिहासात्मक व्यंग्य के कारण यह बात पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाई है। लोकाचार के कर्त्तव्यों की स्पष्ट एवं दृढ़तापूर्ण स्वीकृति के साथ एक गहन एवं सूक्ष्म संदेहवाद उपस्थित है, यद्यपि यह संदेहवाद उस झिलमिलाती ज्योति के समान है, जो कि अपने विनाशकारी गुणों को खो चुकी है। हमारा सम्बंध सुकरात के व्यक्तित्व से नहीं, वरन् उनके सिद्धांतों से है, किंतु व्यक्ति और उसके सिद्धांतों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता है। नैतिक चिंतन के इतिहास की दृष्टि से भी यह मानना महत्वपूर्ण है। यद्यपि साध्य के प्रति दृढ़निष्ठा की आवश्यकता को एवं अंतदृष्टि की पूर्णता को सुकरात के सिद्धांतों में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है, तथापि ये गुण उनके सारे जीवन में अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुए हैं। वस्तुतः ये गुण उनके जीवन में इतनी पूर्णता के साथ उपस्थित थे कि जिसके कारण वे इनकी उपेक्षा करने की गलती कर बैठे। उनके बारे में यह सत्य है कि वे जिसको सुंदर एवं शुभ मानते थे, उसको अनिवार्य रूप से करते भी थे। जब दूसरे लोग शुभ को जानते हुए भी उसके विरुद्ध आचरण करते थे, तब उनके सम्बंध में सुकरात का सरलतम निर्णय यह होता था कि उन्हें वस्तुतः सच्चा ज्ञान नहीं है। अमूर्त्त शुभ का कोई

भी ऐसा विवरण दे पाना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाया, जो कि उन्हें संतुष्ट करता। जब वे एक बार ऐसा उत्तर देने के लिए विवश कर दिए गए, तो उन्होंने प्रश्नकर्त्ता को यह कहकर टाल दिया कि वे ऐसे किसी भी शुभ को नहीं जानते हैं, जो किसी विशेष के लिए शुभ नहीं हो। शुभ आत्मसंगत होता है, सौंदर्य लाभदायक होता है अथवा सद्‌गुणी सुखी होता है आदि कथनों को वे वास्तविक घटनाओं के द्वारा ही सिद्ध करने का प्रयास करते थे। उनके लिए भलाई करने का अर्थ सर्वकार्य करना और समुन्नत जीवन जीना–दोनों ही था। उनके साथ प्लेटो और अरस्तू के लिए भी यह केवल शाब्दिक अस्पष्टता नहीं, किंतु एक आधारभूत सत्य का प्रकटन था। वे यह मानते हैं कि ज्ञान ही सद्‌गुण है।

आत्मिक शुभ ही सब शुभों में सर्वोपरि हैऔर इन बातों का अनुसरण करने एवं इनका प्रसार करने के लिए व्यक्ति तन्मयतापूर्वक अति कठोर कष्टों एवं अभावों (दारिद्रता) को सहन करते हैं, तो इससे यही सिद्ध होता है कि वे इस बात का दृढ़ता पूर्वक प्रतिपादन कर रहे हैं। विलासपूर्ण जीवन की अपेक्षा ऐसा कठोर (कष्टमय) जीवन अधिक उत्तम है। उन्होंने अपने देश के कानून का उल्लंघन करने की अपेक्षा मृत्यु का वरण कर इस बात का पूर्ण प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है। सम्भवतया मृत्यु का आलिंगन करने में उनकी अभिरुचि का यही कारण था। उनके शुभ सम्बंधी दृष्टिकोणों की विविधता परिष्कृत एवं अपरिष्कृत स्थाई भावों के उस विलक्षण संयोग के द्वारा अधिक स्पष्ट हो जाती है, जो कि उनके मित्रता सम्बंधी कथनों में मिलता है। यदि शुभों में आत्मिक शुभ ही सर्वोत्तम है, तो हमारी बाह्य उपलब्धियों में अच्छा मित्र एक सबसे अधिक मूल्यवान् उपलब्धि होगा और ऐसे मित्र को प्राप्त करने का कोई भी प्रयत्न बहुत बड़ी बात नहीं होगी। इसके साथ ही अच्छी मित्रता उसकी उपयोगिता में ही प्रकट होती है। एक ऐसा मित्र, जो किसी काम का नहीं है, निरर्थक है। इस सेवा सम्बंधी कार्य को सुकरात ने सामान्य बुद्धि के अर्थ में ही विवेचित किया है, तथापि वे यह मानते हैं कि नैतिक विकास करना ही एक मित्र की दूसरे मित्र के प्रति की गई सर्वोच्च सेवा है।

यह माना जा सकता है कि सुकरात की इस प्रसिद्ध आलोचना के करने में एथेंस के नागरिक पूरी तरह गलत नहीं थे कि एक ऐसा तार्किक है, जिसने युवकों की नैतिकता को गिराया है, किंतु इसके साथ ही सुकरात के अनुयायी भी वहां तक इस आक्षेप का आवेशपूर्ण निराकरण करने में पूरी

तरह सही थे, जहां तक कि उनके गुरु की वैयक्तिक नैतिकता या उसके दार्शनिक लक्ष्यों एवं मान्यताओं का प्रश्न था। एक और जब हम झेनोफोन और प्लेटो की तुलना करते हैं, तो हम आवश्यक रूप से यह अनुभव करते हैं कि सुकरात के तर्कों के निषेधात्मक परिणाम उनके विधायक परिणामों की अपेक्षा तार्किक दृष्टि से अवश्य ही अधिक बलवान् रहे होंगे, ताकि वे किसी नैतिक उत्साह से रहित, किंतु बौद्धिक दृष्टि से अधिक सक्रिय एवं मर्म अन्वेषक मस्तिष्कों पर अपना पूर्ण प्रभाव डाल सकें। यद्यपि इसके साथ ही वे अपने व्यावहारिक ज्ञान एवं आचरण के द्वारा लिखित अथवा अलिखित नैतिक नियमों का पालन करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित भी करते हैं। उनका एक सच्चा अनुयायी यह मानने के लिए विवश होगा कि उनके आज्ञा पालन सम्बंधी तर्कों में विघातक तर्कों की अकाट्यता का अभाव है। दूसरी ओर सुकरातीय पद्धति के लिए यह भी आवश्यक होगा कि जिस विशिष्ट सदेहवाद को वह सतत् रूप से विकसित करती है उसे मानव की साधारण बुद्धि में उपस्थित स्थाई एवं सामान्य आस्था के साथ मिला दिया जाए। यद्यपि सुकरात सदैव ही जन साधारण की धारणाओं पर कुठाराघात करते हैं और उनकी असंगतियों के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि उन्हें यथार्थ ज्ञान नहीं माना जा सकता है, तथापि वे अपने तर्कों के आधार-वाक्य के रूप में सदैव ही जन साधारण के विचारों को लेते हैं। अक्सर वे अपने साथ वाद-विवाद करने वाले लोगों से ही अपने तर्क का आधार वाक्य ले लेते हैं, साथ ही वे यह भी मानते हैं कि ज्ञान जन साधारण के विचारों को उखाड़ फेंकने वाला नहीं, वरन् उनमें संगति बैठाने वाला है। यह तथ्य सत्य की प्राप्ति के लिए संवाद की अनिवार्यता से स्पष्ट हो जाता है। विचार-विमर्श (चर्चा) ही एक ऐसा मार्ग है, जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्ति की आशा की जा सकती है।

जिस ज्ञान का हमने उल्लेख किया, वह ज्ञान मनुष्य के प्रारंभिक शुभ का ज्ञान है और यही उनकी द्वन्द्वात्मक विचार पद्वति का मुख्य एवं प्राथमिक विषय है, किंतु हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि उन्होंने मानवीय जीवन पद्धति को विवेकपूर्ण बनाने के लिए केवल इस परम शुभ के ज्ञान को ही पर्याप्त मान लिया है। सुकरात न केवल शुभ सद्गुण और सुख को हमारी वास्तविक इच्छा मानते हैं, वरन् उसे करणीय भी मानते हैं। साथ ही व्यावहारिक बुद्धि के क्षेत्र में आने वाले सभी प्रत्ययों को परिभाषित करने का प्रयास करते है, चाहे

वे हमारे सामाजिक क्रियाकलापों से संबंधित हो या नहीं। वैयक्तिक जीवन के क्रियाकलापों से संबंधित अथवा वैयक्तिक जीवन के क्रिया-कलापों से मानवीय आवश्यकता की पूर्त्ति में सहायक साधारण-सी कला के प्रति भी उनके द्वारा दिया गया यह ज्ञान उनकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। जैसाकि हम पूर्व में बता चुके हैं, उन्होंने भौतिक विश्व के संबंध में मात्र काल्पनिक विमर्श को व्यर्थ और अनुपयोगी माना है। यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार किया है कि बाह्य वस्तुओं को मानव के लिए उपयोगी बनाने में हमारे क्रिया-कलापों का एक बहुत बड़ा भाग लग जाता है और इसलिए वस्तुओं और उनके गुणों का ज्ञान, जहां तक कि वे उपयोगी हैं, पूर्ण बौद्धिक आचरण के लिए आवश्यक है। वस्तुतः यह ज्ञान भी किसी दृष्टि से 'शुभ का ज्ञान' है। यह उस सापेक्षिक शुभ का ज्ञान है, जो कि जीवन के वास्तविक साध्य का साधन है। इस प्रकार सुकरात की दृष्टि में किसी भी बौद्धिक एवं सार्थक मानवीय श्रम का महत्व एवं मूल्य तभी है जब वह सामान्यतया सभ्य ग्रीक नागरिकों में निम्नकोटि के यांत्रिक एवं कठिन श्रम के प्रति पाई जाने वाली घृणा का मूलतः विरोधी हो। झेनोफोन ने सुकरात और एक कवच-निर्माता के बीच हुए एक संवाद को विस्तारपूर्वक उद्धृत किया है, जिसमें सुकरात कवच बनाने की सूक्ष्मताओं का पता लगाते हैं। यह भी देखने में आता है कि उनके वार्तालाप या संवादों का इसलिए उपहास किया जाता रहा है कि वे सदैव ही निम्न कोटि के व्यवसायों से अपने उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे हमेशा चमार, सुतार, ठठेरे और गडरियों का ही राग अलापते हैं। प्लेटो ने अपने ग्रंथ में न्यायाधीशों के सम्मुख सुकरात को अपने बचाव में निम्न तर्क देते हुए प्रस्तुत किया है। सुकरात कहते हैं कि 'सामान्य शिल्पी अपने व्यावसायिक ज्ञान के सम्बंध में राजनीतिज्ञों और प्राध्यापकों से भिन्न होता है। मानव जीवन के रूपांतरण के महान्कार्य में निश्चित साध्यों की प्राप्ति के लिए पूर्णतया बौद्धिक साधनों के उपयोग में निम्नकोटि के शिल्प ने मार्गदर्शन किया है और प्रगति की इस दौड़ में वे आगे निकल गए हैं। उन्हें जो कुछ सीखना था उसका बहुत बड़ा भाग वे सीख चुके हैं, जबकि जीवन की उच्च कलाएं और प्रशासन अभी भी अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही संघर्षरत है।

इस प्रकार यदि हम उनकी शिक्षाओं और चरित्र दोनों पर ही विचार करें और हमें ऐसा करना भी चाहिए, तो नैतिक-दर्शन के इस महान् अधिष्ठाता में निम्नलिखित ऐतिहासिक महत्व की विशेषताएं परिलक्षित होती हैं (1) एक ऐसे ज्ञान के प्रति तीव्र जिज्ञासा, जो हमे अभी प्राप्त नहीं है, किंतु यदि वह प्राप्त हो जाएगा, तो मानवीय

आचरण को पूर्ण बना देगा। यहां ज्ञान से तात्पर्य मुख्य रूप से चरम एवं सारभूत शुभ के ज्ञान से है और गौण रूप से उन सभी वस्तुओं एवं साधनों के ज्ञान से है, जो सापेक्षिक रूप से शुभ है और जिनके द्वारा मनुष्य को उस परम शुभ की प्राप्ति होती है। (2) असंगतिपूर्ण एवं जटिलताओं से युक्त शुभ और अशुभ की जन साधारण की मान्यताओं के प्रति अंतरिम निष्ठा और उन मान्यताओं के विभिन्न लक्ष्यों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की अविरत तत्परता। इसके साथ ही आत्महित के प्रमाणक के आधार पर दुर्गुणों की अपेक्षा सद्गुणों की श्रेष्ठता का प्रदर्शन। (3) व्यावहारिक धारणाओं के संगतिपूर्ण परिपालन में बाह्य रूप से सहज, किंतु वस्तुतः अपराजित वैयक्तिक दृढ़ता, जिसे उन्होंने अपने जीवन में प्राप्त कर लिया था। जब हम इन सब तथ्यों के प्रकाश में उन्हें देखेंगे, तो यह समझ सकेंगे कि किस प्रकार सुकरात के संवादों से ग्रीक नैतिक चिंतन की विभिन्न विचारधाराओं का उद्भव हुआ।

सुकरातीय सम्प्रदाय

चार विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय अर्थात् मेगेरियन, प्लेटोवादी; सिनिक एवं सिरेनेक सीधे–सीधे अपनी उत्पत्ति का निकटतम मूलकेंद्र सुकरातीय विचारधारा को मानते हैं। यद्यपि इनमें एक को दूसरे से पृथक् करने वाले वैचारिक मतभेद पाए जाते हैं, तथापि उन सभी पर अपने गुरु का प्रभाव परिलक्षित होता है। वे सभी इस सम्बंध में एकमत हैं कि मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण सम्पदा प्रज्ञा (विवेक) या ज्ञान है और ज्ञान में शुभ का ज्ञान ही सर्वोपरि है, किंतु यहीं उनकी समानता समाप्त हो जाती है। सुकरातीय विचारधारा के महत्वपूर्ण दार्शनिक पक्षों से विचारकों का जो वर्ग निर्मित हुआ, उनमें मेगरा के यूक्लिडस अग्रगण्य हैं। उन्होंने शुभ को अपरितोषीय अन्वेषण का विषय माना और नए सिरे से उसकी रहस्यात्मकता की गम्भीरतापूर्वक खोज प्रारम्भ की। शुभ की रहस्यात्मकता की इस खोज ने उसका तादात्म्य दृष्टिकोणों के रहस्यों के साथ कर दिया और इस प्रकार शुभ का अन्वेषण नीतिशास्त्र के क्षेत्र का अतिक्रमण कर तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में चला गया, किंतु जिन विचारकों की ज्ञान पिपासा सहज रूप में संतुष्ट हो चुकी थी और जो अपने गुरु की शिक्षाओं के रचनात्मक एवं व्यावहारिक पक्ष से प्रभावित थे, उन्होंने शुभ के अनुशीलन को एक सरल कार्य ही माना। वस्तुतः उन्होंने शुभ को एक ज्ञात तथ्य मान लिया था और वे शुभ के इस ज्ञान को दृढता के साथ आचरण के रूप में क्रियान्वित करने को ही दार्शनिक जीवन का मुख्य लक्ष्य मानते थे। इन विचारकों में सिनिक ऐन्टिस्थेनीज और सिरेनेक एरिस्टपस

प्रमुख थे। मात्र परम्पराओं या आवेगों के स्थान पर किसी संगतिपूर्ण सिद्धांत के द्वारा जीवन के कर्त्तव्यों की स्पष्ट स्वीकृति, इस बौद्धिक विवेक के द्वारा जीवन को प्रदत्त नैतिक मूल्यों की अनुभूति और सुकरात के समान सहज, शांत, अविचल एवं स्थिर मनः स्थिति को बनाए रखने के लिए उनके प्रयत्न ही वे आधार हैं, जिनके द्वारा हम एंटिस्थेनीज और एरिस्टिपस को सुकरातीय परम्परा का मानते हैं, न कि वह पूर्णता जिससे वे गु. के विधायक सिद्धांतों को दो परस्पर विरोधी अर्द्धवृत्तों में विभाजित करते हैं। इनके परस्पर विरोधी सिद्धांतों से हम यह कह सकते हैं कि जहां एरिस्टिपस सुकरात के उपदेशों की स्पष्ट सैद्धांतिक एकता को निगमित करने के लिए असंदिग्ध तार्किक प्रक्रिया को अपनाते हैं, वहां ऐन्टिस्थेनीज सुकरात के जीवन से स्वाभाविक निष्कर्ष निकालते हैं।

एरस्टिपस एवं सिरेनेक्स

एरिस्टिपस का कथन है कि आचरण में जो कुछ सुंदर और प्रशंसनीय है, वह उसकी उपयोगिता के गुण के कारण है और उपयोगी होने का तात्पर्य किसी अग्रिम शुभ का उत्पादक होना है। यदि सद्कार्य वस्तुतः वह कार्य है, जो इस शुभ के साधन के रूप में अंतर्दृष्टि और बौद्धिक विवेक के द्वारा किया जाए, तो निश्चित ही यह शुभ 'सुख' ही होगा। सभी अविकृत आवेग वाले प्राणी इस सुख को पाना चाहते हैं और इसके विरोधी दुःख से बचना चाहते हैं। अपने इस सुखवाद की पुष्टि के लिए वे उस सिद्धांत के द्वारा तात्त्विक आधार प्रस्तुत करते हैं, जिसके अनुसार बाह्य वस्तुओं के सम्बंध में हम हमारे मन पर पड़ने पर संस्कारों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जान सकते हैं। प्रोटागोरस का सापेक्षवाद उन्हें इस सिद्धांत की ओर ले गया। इस सिद्धांत का सीधा निष्कर्ष यह है कि इंद्रियों की निर्बाध गति, जिसे हम सुख कहते हैं, एक सज्ञेय शुभ है, चाहे वह फिर किसी भी स्रोत से आया हो। किसी भी प्रकार का सुख अपने–आप में दूसरे सुख से श्रेष्ठ नहीं होता है (अर्थात् सभी सुख समान स्तर के हैं), यद्यपि सुखों के कुछ प्रकार अपने दुःखद परिणामों के कारण त्याज्य माने जाते हैं। एरस्टिपस शारीरिक सुखों एवं दुःखों को ही सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं। यद्यपि वे अपने भौतिकवादी सिद्धांत के आधार पर यह मानते हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि उन्होंने विशुद्ध मानसिक सुखों के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है, उदाहरणार्थ अपनी मातृभूमि की समृद्धि को देखकर होने वाला सुख। एरस्टिपस यह मानते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित शुभ क्षणिक् है और उसे केवल क्रमिक रूप से अनेक अंशों में ही प्राप्त

किया जा सकता है। मात्र इतना ही नहीं, वे अनिश्चित भविष्य के लिए अपने को परेशान नहीं करते हुए, वर्त्तमान के सुख की उपलब्धि पर ही अधिक बल देते हैं। समय-समय पर परिस्थितियां जिन सुखों को प्रस्तुत करती हैं, उन सुखों का वासनाओं, पूर्वाग्रहों एवं अंधविश्वासों से अविचलित रहकर शांत, सुनिश्चित एवं कौशलपूर्ण चुनाव करने में प्रज्ञा (विवेक) की अभिव्यक्ति मानी जा सकती है। परम्परा के अनुसार उन्हें इस आदर्श को प्रभावक अवस्था प्राप्त करने वाला बताया जाता है। उनके अनुसार सामान्यतया बुद्धिमान् व्यक्ति को पूर्वाग्रहों से मुक्त होना चाहिए। एरस्टिपस रूढिगत नैतिकता के प्रति आदर की भावना को भी पूर्वाग्रहों में सम्मिलित करते हैं। यह रूढ़िगत नैतिकता सामान्य नैतिकता से भिन्न है क्योंकि उसके उल्लंघन के साथ वास्तविक दंड की धारणा जुड़ी हुई है। यद्यपि वे इस बात में सुकरात से सहमत हैं कि ये दंड वस्तुतः उसके अनुमोदन को तर्कसंगत बना देते हैं।

ऐन्टिस्थेनीज और सिनिक्स

ऐन्टिस्थेनीज और सिनिक्स सम्प्रदाय ने सुकरात के विचारों को एरस्टिपस और सिरेनेक्स सम्प्रदाय से भिन्न रूप में समझा है। यद्यपि दोनों ही समान रूप से यह मानते हैं कि शुभ एवं सद्गुण की खोज एवं परिभाषा के लिए चिंतनपरक अनुशीलन आवश्यक नहीं है। ऐन्टिस्थेनीज के अनुसार जिस सुकरातीय प्रज्ञा के क्रियान्वयन में मानव का कल्याण निहित है, वह कौशलपूर्ण प्रयासों में अभिव्यक्त नहीं होती है, वरन् मनुष्य की तुच्छ इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के विषयों की आंतरिक निस्सारता की स्पष्ट अनुभूति एवं सुखों की बौद्धिक उपेक्षा में अभिव्यक्त होती है। वस्तुतः उनकी दृष्टि में सुख एक बुराई है। उन्होंने कहा है कि सुखों के अधीन होने की अपेक्षा तो पागलपन अच्छा है। वे निर्धनता कठोर श्रम और अनासक्ति को आध्यात्मिक स्वतंत्रता एवं सद्गुणों की ओर प्रगति करने का एक आवश्यक साधन मानते हैं, वस्तुतः वे सुकरातीय आत्मशक्ति को बौद्धिक अंतर्दृष्टि से अनुपूरित करना चाहते हैं। वे यह भी मानते हैं कि अंतर्दृष्टि और अपराजेय आत्मसंयम के संयोग से एक ऐसी निरपेक्ष आध्यात्मिक स्वतंत्रता उपलब्ध की जा सकती है, जिसकी प्राप्ति पर मानव के पूर्ण कल्याण के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता है। काल्पनिक और परम्परागत आवश्यकताओं से ऊपर उठ जाने की उनकी इस सनक[7] की उनके शिष्य डायोजिनस ने अतिरंजितता के साथ प्रशंसा की है और इसी आधार पर उन्हें प्राचीन ग्रीक के सामाजिक इतिहास का विशिष्ट व्यक्ति बना दिया है। वे सुकरातीय पद्धति के उस

आत्मसंयम का एक सुस्पष्ट प्रभाव प्रस्तुत करते हैं, जो कि उनकी सनक के कारण उपहास का विषय बन गया है। उनकी दृष्टि में एक विचारक के लिए 'ज्ञान (प्रज्ञा)' और सदगुण के अतिरिक्त कुछ भी मूल्यवान् नही है। इस सिनिक मान्यता की व्यावहारिक अभिव्यक्ति दो रूपों में होती है (1) अपनी उन आवश्यक वासनाओं (क्षुधाओं) और इच्छाओं का दमन, जिनके कारण उस सब के लिए चिन्ता और श्रम करना होता है, जो कि प्राप्त होने पर निस्सार प्रतीत होते हैं। (2) जनसाधारण के अबौद्धिक पूर्वाग्रहों एवं परम्पराओं के प्रति उपेक्षा। इसी दूसरे पहलू में सिनिक विचारधारा की मौलिकता और सुकरात से उनकी विभिन्नता को देखा जा सकता है। सिनिक विचारक परम्परागत नियमों और रीति रिवाजों का केवल इस आधार पर पालन करना नही चाहतें है कि वे परम्परा से चले आ रहे हैं। वे जीवन का मार्गदर्शन करने के लिए केवल उन्हीं नियमों को स्वीकार करना चाहते हैं, जो कि प्रज्ञा से निष्पन्न होते हैं और सभी मनुष्यों पर केवल इसलिए लागू होते हैं कि वे बुद्धिमान् प्राणी है। यदि सभी मनुष्य बुद्धिमान होगें, तो शासन और विधि सम्बन्धी विभिन्नताएं समाप्त हो जाएंगी, तब केवल एक ही राज्य होगा और एक ही विधान होगा। वह विधान स्त्री, पुरुष, स्वामी एवं दास सभी के लिए समान होगा। तब गुलामी भी नहीं रहेगी, क्योंकि उस आदर्श राज्य में जो कुछ विवेकपूर्ण कार्य होंगे, उन्हें करने के लिए दूसरों की आज्ञाओं की आवश्यकता ही नहीं होगी और अविवेकपूर्ण कार्य करने के लिए कोई भी दूसरों की आज्ञा को नहीं मानेगा। इस प्रकार सिनिक विचारधारा में हम विश्व नागरिकता एवं विश्वबन्धुत्व का विचार पाते हैं, जो कि इनके पश्चात् स्टोइक सम्प्रदाय में अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है, फिर भी अबौद्धिक इच्छाओं एवं पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाने के अतिरिक्त प्रज्ञा और अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी सिनिक धारणाओं में किसी निश्चित विधायक अर्थ की कल्पना करना व्यर्थ होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि अबौद्धिक इच्छाओं एवं पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाने पर ही अधिक बल देते हुए उन्होंने इस स्वतंत्र बुद्धि को किसी निश्चित लक्ष्य की ओर निर्देशित नहीं किया, वरन् उसे व्यक्ति की स्वतंत्रता पर ही छोड़ दिया है। प्लेटो का कथन है कि यह कहना मूर्खतापूर्ण है कि ज्ञान ही शुभ है और जब यह पूछा जावे कि किसका ज्ञान शुभ है? तो कोई विधायक उत्तर न देकर केवल यह कहना कि 'शुभ का ज्ञान', किंतु सिनिक सम्प्रदाय ने इस असंगति से बचने के लिए कोई वास्तविक प्रयास किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता है।

प्लेटो (427 ई.पू. से 347 ई.पू.)

सुकरातीय परम्परा की हम दोनों ऐकान्तिक विचार–धाराओं अर्थात् सिनिक और सिरेनेक सम्प्रदायों की शेष रही हुई समस्याओं पर हम अरस्तु के परवर्ती सम्प्रदायों की चर्चा करते समय–विचार करेंगे। अभी हम सुकरातीय विचारधारा रूपी बीज किस प्रकार प्लेटोवाद रूपी मंजरी तथा अरस्तूवाद रूपी फल में विकसित हुआ, उसकी जटिल प्रक्रिया पर विचार करेंगे। परवर्ती पीढ़ी प्लेटों के संवादों में जिस प्रसिद्ध प्रत्ययवाद को पाती है, उसके उद्भव में पूर्ववर्ती अनेक तात्त्विक विचारणाओं एवं सुकरात का मिश्रित प्रभाव देखा जा सकता है, किंतु उसमें प्रत्येक विचार किस ढंग से और कितनी सुगमता के साथ एक दूसरे से संयोजित हुआ है, उसका अनुमान कर पाना भी कठिन है[9] प्रस्तुत विवेचना में हमनें प्लेटो के दृष्टिकोण पर सुकरात की शिक्षाओं के संदर्भ में ही विचार किया है, क्योंकि प्लेटो के प्रत्ययवाद का नैतिक पक्ष, जो कि हमारी इस विवेचना से संबंधित है, निश्चित ही उसका सुकरातीय परम्परा से सम्बन्ध है।

प्लेटो का नैतिक दर्शन एक अवरूद्ध जल–प्रवाह नहीं है, अपितु वह एक ऐसी सतत प्रवाहशील जलधारा है, जो कि सुकरात से प्रारम्भ होकर अरस्तु की पूर्ण एवं सुस्पष्ट विचार शैली की ओर गतिशील है, यद्यपि प्लेटो की शिक्षाओं में कुछ वैराग्यवादी और रहस्यवादी संकेत उपस्थित हैं, जो कि अरस्तु के चिन्तन में किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं होते हैं और प्लेटो की मृत्यु के साथ ही ग्रीक दर्शन से विलुप्त हो जाते हैं, तथापि उनकी ये शिक्षाएं नव-पाइथागोरसवाद और नव-प्लेटोवाद में पुनः अतिरंजित रूप में विकसित एवं पुनर्जीवित हो जाती है। सर्वप्रथम हम प्रोटागोरस नामक संवाद में प्लेटो के नैतिक विचारों से अंतर देख सकते हैं। इस संवाद में प्लेटो ज्ञान के विषय को परिभाषित करने का एक महत्वपूर्ण, किंतु स्पष्ट प्रारंभिक प्रयास करते हैं। वे अपने गुरु सुकरात के समान ही ज्ञान को सभी सद्गुणों का सार बताते हैं। वे यह भी मानते हैं कि ऐसा ज्ञान सुख और दुःख का मापक है, जहां सामान्य व्यक्ति भय या इच्छाओं का दास होकर वर्त्तमान की अपेक्षा भविष्य की अनुभूतियों का कम मूल्यांकन करता है, वहां बुद्धिमान् व्यक्ति इस गलती से बचता है। प्लेटो का यह सुखवाद पाठको को परेशानी में डाल देता है। सम्भवतः स्वयं प्लेटो ने भी इस सुखवाद को आंशिक सत्य की अभिव्यक्ति से अधिक स्वीकार नहीं किया होगा, तथापि जैसा कि सिरेनैक्स सम्प्रदाय (इसे यह नाम बाद में मिला)के ऐसे ही दृष्टिकोण

के संबंध में यह कहा गया कि जब भी कोई व्यक्ति सुकरात के उस सारभूत सिद्धांत को सुनिश्चित एवं सुस्पष्ट करने का प्रयास करता है, जो कि शुभ के सम्बंध में प्रचलित विभिन्न विचारों अर्थात् जो सुंदर, सुखद एवं उपयोगी में तादात्म्य करता है, तो वह सुखवाद ही एक सुस्पष्ट निष्कर्ष निकालता है। सम्भवतया प्लेटो ने इस निष्कर्ष को उस वैचारिक प्रक्रिया को पूर्ण करने के पहले ही स्वीकार किया होगा, जिसके द्वारा वे सुक़रातीय चिन्तन धारा को मानवीय आचरण की सीमाओं के परे ले जाकर एक व्यापक तत्त्वमीमांसा के रूप में विकसित कर सकें।

प्लेटो की इस वैचारिक प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है। सुकरात का कथन है कि 'यदि हम न्याय क्या है, यह जानते हैं, तो हम न्याय की परिभाषा दे सकते हैं या उसकी सामान्य विवेचना कर सकते हैं', इसलिए न्याय के सम्बंध में वास्तविक ज्ञान उन सामान्य तथ्यों एवं सम्बंधों का ज्ञान है, जो कि उन सभी व्यक्तिशः उदाहरणों मे पाए जाते हैं, जिन पर हम उन सामान्य ज्ञान के प्रयत्न को लागू करते हैं। पुनः यह कथन नैतिक तथ्यों के अतिरिक्त हमारे अनुशीलन एवं विचार–विमर्श के दूसरे तथ्यों के संबंध में भी उतना ही सत्य होगा, क्योंकि विशेष दृष्टांतों के साथ उस सामान्य प्रत्यय के इस संबंध को समग्र भौतिक विश्व पर लागू किया जा सकता है। इन विशेष तथ्यों के संबंध में विचार-विमर्श केवल उन सामान्य तथ्यों के माध्यम से ही कर सकते हैं, जिन्हें जाना भी जा सकता है। किसी प्रत्यय का सच्चा वैज्ञानिक ज्ञान सामान्य ज्ञान ही होगा, जो प्राथमिक रूप से विशेषों से संबंधित न होकर दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत उन विशेषों के सामान्य गुणों तथा तथ्यों से संबंधित होगा। वस्तुतः जब किसी विशेष प्रत्यय का विश्लेषण करते हैं, तो उसे सामान्य गुणों का एक योग ही पाते हैं। हमारे प्रामाणिक ज्ञान का विषय वही हो सकता है, जो कि वस्तुतः सत्तावान् है और इसलिए विश्व की सत्यता सामान्य तथ्यों या संबंधो में रही हुई है, न की उन विशेषों में, जो कि सामान्य के दृष्टान्त (अभिव्यक्तियां) मात्र हैं।

यहां तक तो प्रस्तुतिकरण की यह प्रक्रिया काफी सरल है, किंतु आगे यह समझ पाना कठिन होता है कि यह तार्किक वस्तुवाद इस प्रकार उस सारभूत नैतिक लक्षण को ग्रहण कर लेता है, जो कि हमारी अभिरुचि का मुख्य विषय है। यद्यपि प्लेटो का दर्शन संपूर्ण सत्तावान् विश्व से सम्बंधित है, तथापि उसके दार्शनिक अनुशीलन का चरम – लक्ष्य तो 'शुभ' ही है। उसके

दर्शन में इस शुभ को संपूर्ण सत्य एवं ज्ञान का अंतिम आधार माना गया है। इसके साथ ही विश्व के इस सारतत्त्व का तादात्म्यकरण विश्व के साध्य से किया गया है, जिसे अरस्तु की शब्दावली में आकारिक कारण का अंतिम कारण से तादात्म्य कह सकते हैं, किंतु प्रश्न यह है कि यह कैसे होता है?

सम्भवतः इसकी व्याख्या मानवीय क्रिया-कलापों के संबंध में पुनः सुकरातीय पद्धति का उपयोग करके ही की जा सकती है, क्योंकि सभी बौद्धिक क्रियाएं, जिनमें मानवीय श्रम को वर्गीकृत किया जा सकता है, किसी न किसी लक्ष्य से युक्त होती हैं। सभी विभिन्न कलाओं एवं व्यवसायों को उनके लक्ष्य एवं उपयोगों के द्वारा ही स्वाभाविक रूप से परिभाषित किया जा सकता है। इसी प्रकार विभिन्न कलाकारों और व्यवसायिकों का विवरण प्रस्तुत करने के लिए यह बताना आवश्यक है कि उनका साध्य क्या है अथवा उनकी सार्थकता किसमें है?

वस्तुतः, जिस लक्ष्य के लिए वे हैं, उसे प्राप्त करने में ही उनकी सार्थकता है। जो व्यक्ति चित्र नहीं बना सकता है, वह चित्रकार कहलाने का अधिकारी भी नहीं है (चित्रकार होने की सार्थकता चित्र बनाने में है।) सुकरात का वह बहुचर्चित उदाहरण लीजिए, वे कहते हैं कि एक वास्तविक राजा वही है, जो अपनी प्रजा का कल्याण करता है। यदि वह अपनी प्रजा का कल्याण नहीं करता है, तो उसे सही अर्थ में राजा भी नहीं कहा जा सकता है। सुकरातीय सिद्धातों पर परिनिर्मित एक सुव्यवस्थित समाज में प्रत्येक व्यक्ति का कोई न कोई उपयोग अवश्य होगा और उस व्यक्ति के जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह जिस कार्य के लिए उपयोगी है, उस कार्य को सम्पन्न करें। पुनः यह दृष्टिकोण सम्पूर्ण आंगिक जीवन के क्षेत्र में भी लागू किया जा सकता है। यदि आंख अपने देखने के कार्य को नहीं कर पाती है, तो वह ऐसी सार्थक आंगिक-संरचना नहीं है, जिसमें प्रत्येक अंग अपने लक्ष्य की दिशा में कार्यरत है, अर्थात् साधन साध्यों की जटिल सिद्धि में लगे हुए हैं, तो हम प्लेटों के इस कथन का तात्पर्य समझ सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु जिस साध्य की सिद्धि के लिए है, उस विशेष साध्य या शुभ की प्राप्ति जिस मात्रा में करती है, उसी मात्रा में उसके अस्तित्व की सार्थकता है, अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि उसने उस सीमा तक अपने आदर्श को चरितार्थ किया है (अपने प्रत्यय की यथार्थ रूप में अभिव्यक्ति की है), किंतु यह विशेष शुभ भी वस्तुतः तभी शुभ हो सकता है, जबकि यह परम् शुभ या पूर्ण शुभ से सुसम्बंधित हो। यह विशेष शुभ एक साधन है, जिसमें या जिसके द्वारा परमशुभ

आंशिक रूप से चरितार्थ होता है। यदि अवयवी जगत् के प्रत्येक अंग का सारतत्त्व या सत् अपने विशेष साध्य या शुभ में निहित है, तो सम्पूर्ण सत्ता का मूलाधार विश्व के परम साध्य या विश्वशुभ में ही उपलब्ध होगा। यदि विश्वशुभ ही सम्पूर्ण सत्य का आधार है, तो इस विश्वशुभ का ज्ञान ही मानवीय जीवन का मार्गदर्शक होगा, क्योंकि मनुष्य भी विश्व का ही एक अंग है और स्वयं में एक छोटा-सा विश्व है। उसकी अपनी न तो कोई ऐसी सत्ता है और न कोई ऐसा शुभ हो सकता है, जिसे उसने विश्वशुभ और विश्वसत्ता से प्राप्त नहीं किया हो। इस प्रकार मानवीय शुभ के अध्ययन के सम्बंध में सुकरातीय दर्शन की सीमाओं का उल्लंघन किए बिना ही प्लेटो ने मानवीय शुभ के प्रत्यय का उतनी गहराई तक अनुशीलन किया कि उसकी यह खोज बाह्य जगत के तात्विक स्वरूप के प्रारंभिक अन्वेषण तक चली गई थी, जहां से सुकरात वापस लौट गए थे। सुकरात की भौतिकी में कोई अभिरुचि नहीं थी, फिर भी उन्होंने अपने उच्चकोटि के चिंतन के द्वारा भौतिक विश्व के प्रयोजनमूलक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। उनके इस दृष्टिकोण के अनुसार भौतिक विश्व के सभी जंग किसी ईश्वरीय साध्य को चरितार्थ करने के लिए ईश्वरीय प्रज्ञा के द्वारा सुनियोजित किए गए हैं। इस सिद्धांत के प्रस्तुतिकरण में प्लेटो का योगदान यह है कि उन्होंने ईश्वरीय साध्य का तादात्म्य उस शुभ से कर दिया, जिसका ज्ञान सुकरात के अनुसार मानव जीवन की सभी समस्याओं का समाधान दे देता है। उसने इस ईश्वरीय साध्य को स्वयं ईश्वरीय सत्ता मान लिया था।

सम्भवतया धर्म-मीमांसा के साथ आचारमीमांसा को मिला देने के इस प्रयास से प्लेटो परिचित हो चुके थे। युक्लिटस की मान्यता यह थी कि वास्तविक सच एक ही है, जिसे हम शुभ, प्रज्ञा बुद्धि अथवा ईश्वर आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं। प्लेटो ने सुकरात के सुंदर एवं उपयोगी के तादात्म्यीकरण को एक गहन अर्थ प्रदान कर इस सूची में परम् सुंदर का नाम और जोड़ दिया। वे यह बताते हैं कि मनुष्य का सौन्दर्य प्रेम क्रमशः शरीर से आत्मा की ओर, विशेष से सामान्य की ओर अग्रसर होता रहता है और अंत में सम्पूर्ण सत्य एवं जीवन के सारतत्व तथा साध्य के प्रति आत्मा की उत्कण्ठा के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करता है।

हमें यह मान ही लेना होगा कि प्लेटो ने विचारों की एक लम्बी छलांग मारी है। उसने नीतिशास्त्र एवं सत्तामीमांसा के चरम प्रत्ययों में तादात्म्य कर दिया है। अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि वह कौन-सी अभिव्यक्ति थी, जो उन्हें उस

व्यावहारिक अनुशीलन की दिशा में ले गई, जहां से उन्होंने प्रारम्भ किया था। हमें यह भी देखना होगा कि प्रज्ञा, सद्गुण एवं सुख तथा इनका मानव-कल्याण से सम्बंध होने के बारे में प्लेटो के विचार क्या हैं। वस्तुतः इन प्रश्नों का उत्तर दे पाना सरल नहीं है। सर्वप्रथम तो हमें यह जान लेना चाहिए कि प्लेटो के समय में दर्शन बाजार-चर्चा का विषय न रहकर व्याख्यान-कक्ष का विषय बन गया था। सुकरात ने मानव जाति के एक ऐसे साधारण-सदस्य के लिए आचरण की सच्ची कला का विकास किया था, जो कि अपने साथियों के साथ एक व्यावहारिक जीवन जीता है, किंतु यदि प्लेटो के अनुसार अमूर्त्त प्रत्ययों का जगत् ही वास्तविक है और अनेकानेक वस्तुओं का यह विश्व मात्र उसकी प्रतिच्छाया है, तो फिर उच्चतम और सर्वाधिक वास्तविक जीवन, उस प्रथम अमूर्त्त प्रत्ययों के जगत में ही हो सकता है, इस दूसरे मूर्त्त जगत् में नहीं। मूर्त्त वस्तुएं, जिसका अस्पष्ट प्रकाशन है और जिस प्रकार या आदर्श की वे अपूर्ण अनुकृति है, उस अमूर्त सच के चिंतन में ही मनुष्य के सच्चे वैचारिक जीवन की सार्थकता होगी। मनुष्य की वास्तविक मनुष्यता उसके अपने विचारों (मनसा) के अनुरूप ही होती हैं। प्लेटो सुकरात के विचारों का अनुसरण करते हुए यह बताते हैं कि प्रत्येक जीवित प्राणी में अपने शुभ की इच्छा स्थायी और मूलभूत रूप से रही हुई है, जो कि ज्ञान की दार्शनिक उत्कण्ठा के द्वारा अपने उच्चतम रूप में अभिव्यक्त होती है। वे यह भी मानते हैं कि ज्ञान की यह उत्कण्ठा ऐन्द्रिक आवेगों के समान ही किसी ऐसे तथ्य के अभाव की अनुभूति से उत्पन्न होती है, जिसका कभी बोध हुआ हो और जिसकी आत्मा में अव्यक्त स्मृति रही हो। इस उत्कण्ठा की प्रखरता व्यक्ति की दार्शनिक क्षमता के अनुरूप ही होती है। वस्तुतः वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा किसी अमूर्त सत्य का ज्ञान प्राप्त करने में हम जिसे अभी तक अव्यक्त रूप से जानते थे, उसे अब स्पष्ट रूप में जानने लगते हैं। यद्यपि अपनेपन के कारण आत्मा बाह्य शरीर में कैद है और उसका वास्तविक स्वरूप भावनाओं और आवेगों से युक्त हो गया है, किंतु इस पतन के पूर्व आत्मा सत् और शुभ को साक्षात् रूप से जानता था। ज्ञान की प्राप्ति की इस प्रक्रिया में हम उस अवस्था की सुप्त स्मृतियों को ही पुनः स्पष्ट चेतना में लेते है। इस प्रकार हम प्लेटो के अनेक महत्वपूर्ण संवादों में प्रस्तुत इस विरोधाभास में फंस जाते हैं कि मृत्यु की सच्ची कला ही जीवन की सच्ची कला है, अर्थात् परमशुभ और परम सुन्दर के साथ घनिष्ठ एकात्मता को प्राप्त करने के लिए ऐन्द्रिक जीवन से ऊपर उठना होता है (ऐन्द्रिक जीवन से पूर्णतया ऊपर उठने का अर्थ मृत्यु ही है) दूसरी ओर सामान्य

मानवीय अभिरुचियों से पूर्ण दार्शनिक निरपेक्षता (तटस्थता) कभी भी इस जीवन में सम्भव नहीं है, क्योंकि दार्शनिक को भी इसी मूर्त्त ऐन्द्रिक जगत् में जीवन जीना होता है। प्लेटो ने सुकरात के ज्ञान और सद्‌गुण के तादात्म्य को स्वीकार किया है। जिसे शुभ की निरपेक्ष सत्ता का बोध है, केवल वही व्यक्ति मानव जीवन में सिद्धि के योग्य अपूर्ण एवं अस्थायी शुभों का अनुसरण कर सकता है। यह असंभव है कि व्यक्ति को शुभ का यथार्थ ज्ञान होते हुए भी वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में वह उनका आचरण नहीं करे। शुभ का सच्चा ज्ञान होने पर जब भी व्यक्ति के सम्मुख बौद्धिक चयन के हेतु कोई विकल्प प्रस्तुत होगा, तो वह अनिवार्यतया एक अच्छा व्यावहारिक व्यक्ति भी होगा। वह मनुष्यों में लोकप्रिय और देवताओं के स्नेह का पात्र होगा। साथ ही यदि समाज उसे अपनी राजनीतिक योग्यता को अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदान करेगा, तो वह एक अच्छा राजनेता भी सिद्ध होगा।

प्लेटो का सद्‌गुण संबंधी सिद्धांत

प्लेटो के दर्शन में व्यावहारिक शुभ के सामान्य लक्षणों का निर्धारण उसके विश्व संबंधी दृष्टिकोण के आधार पर होता है। यह माना जाता है कि मनुष्य की आत्मा को अपनी सामान्य एवं शुभ अवस्था में बुद्धि के द्वारा अनुशासित एवं संगति पूर्ण होना चाहिए। यहां प्रश्न यह उठता है कि यह अनुशासन की शक्ति एवं संगति साररूप से किस तत्त्व में निहित है? किंतु इस प्रश्न के प्लेटो के द्वारा दिए गए उत्तर की विवेचना करने के पूर्व यह जान लेना उचित होगा कि वे सुकरात के इस सिद्धांत को स्वीकार करते है कि सर्वोत्तम सद्‌गुण शुभ के ज्ञान से अवियोज्य है, किंतु जैसे-जैसे इस संबंध में प्लेटो का ज्ञान अधिक गहन और व्यापक होता गया, वे यह मानने लगे कि जो व्यक्ति दार्शनिक नहीं हैं, उनमें भी अपेक्षाकृत निम्नकोटि के सद्‌गुण होते हैं। यह स्पष्ट है कि यदि जिस शुभ को हमें जानना है, वह सभी वस्तुओं का अंतिम आधार है, तो उस शुभ के ज्ञान में दूसरे सभी ज्ञान भी निहित होंगे, किंतु इस शुभ का ज्ञान कुछ विशिष्ट एवं सुप्रशिक्षित व्यक्ति ही प्राप्त कर सकेंगे, लेकिन हम सभी सद्‌गुणों को केवल इन सुप्रशिक्षित लोगों से सीमित नहीं मान सकते। ऐसी स्थिति में सामान्य नागरिक के साहस, संयम और न्यायशीलता का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। यह सुस्पष्ट है कि जो व्यक्ति भय और इच्छाओं से संघर्ष करते हुए अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करता है, यद्यपि उसे मानव जीवन के शुभ और अशुभ का ज्ञान नहीं है, तथापि उसकी धारणाएं सम्यक् हैं, यह तो मानना ही पड़ेगा, किंतु उसे यह सम्यक्

दृष्टिकोण कैसे प्राप्त हो गया? प्लेटो का कहना है कि आंशिक रूप से यह प्रकृति का वरदान होता है या ईश्वरीय कृपा से प्राप्त होता है, यद्यपि इसके पूर्ण विकास के लिए परम्परा और अभ्यास की आवश्यकता है, इसलिए मानव जीवन में उच्च प्रकार के नागरिक सद्गुणों के प्रशिक्षण एवं अनुशासन का सर्वाधिक महत्व है। यद्यपि सद्गुण सम्बंधी इस प्रशिक्षण में शारीरिक एवं सौंदर्यपरक कलाओं की शिक्षा का सहयोग भी अपेक्षित होगा[10], किंतु नैतिक संस्कृति की शिक्षा केवल उन्हीं लोगों के लिए आवश्यक नहीं है, जो कि सद्गुण के जन साधारण के प्रमापक से ऊपर नहीं उठ सकते हैं, अपितु उन लोगों के लिए भी उतनी ही अथवा उससे अधिक आवश्यक है, जो कि दार्शनिक ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। वस्तुतः प्लेटो की यह स्पष्ट मान्यता है कि आत्मा में 'प्रज्ञा' को छोड़कर सभी सद्गुणों का विकास आदत एवं अभ्यास के द्वारा होता है। उन्हें अपना यह सिद्धांत सुकरात के उस सिद्धांत का विरोधी प्रतीत होता है, जिसके अनुसार शुभ का ज्ञान अपने साथ सभी सद्गुणों को ले आता है। उनका कहना है कि साधना से रहित आत्मा को ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता है। ज्ञान के लिए साधना अपेक्षित है, किंतु यह साधना मात्र बौद्धिक प्रशिक्षण नहीं है, अपितु इससे बहुत कुछ अधिक है। प्रश्न यह है कि यह साधना किस प्रकार की होगी? प्लेटो यह मानते हैं कि अबौद्धिक आवेग (वासनाएं) पथभ्रष्ट आत्माओं पर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं और उन्हें बौद्धिक निर्णयों (विवेक) के विरूद्ध कार्य को बाध्य करते हैं। जब साधना के द्वारा इन अबौद्धिक आवेगों को बुद्धि के अधीन कर दिया जाता है, तो आत्मा के विभिन्न अंगों में संगति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार प्लेटो सुकरात से भिन्न मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की नवीन दिशा ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार ये अबौद्धिक आवेग आत्मा के दो भिन्न-भिन्न पक्षों से सम्बंधित हैं, जिन्हें हम क्रमशः क्षुधात्मक पक्ष और मानसिक या गत्यात्मक पक्ष कहते हैं। प्लेटो ने आंतरिक अनुभव में संघर्षरत वासनाओं (आवेगों) के आधार पर इन दोनों पक्षों की एक दूसरे से तथा तीसरे बौद्धिक पक्ष से व्यावहारिक भिन्नता को स्पष्ट किया। प्रथम क्षुधात्मक पक्ष में ये सब इच्छाएं होती है, जो कि शारीरिक कारणों से उत्पन्न होती है और जिन्हें हम विशेष अर्थ में क्षुधाए कहते हैं। दूसरे आवेगात्मक या गत्यात्मक पक्ष को ऐसे संवेग-समूह का सामान्य स्रोत माना जाता है, जिनका सामान्य लक्षण सक्रिय एवं संघर्षात्मक क्रियाओं को प्रेरित करना होता है। इस संवेग-समूह के अंतर्गत क्रोध, साहस, लज्जा, मान-सम्मान की कामना एवं अपयश के प्रति घृणा आदि के भाव आते हैं, यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान इन

संवेगों को एक दूसरे से विशेष रूप में सम्बंधित नहीं मानता है। उपरोक्त दोनों पक्षों का नैतिक मूल्य अलग-अलग। है। दूसरा मानसिक पक्ष आत्म-संघर्ष में तीसरे बौद्धिक पक्ष का स्वाभाविक रूप से सहयोगी है और विशेष अभ्यास के द्वारा अपने (नैतिक) महत्त्व को अभिव्यक्त करने योग्य है, किंतु पहला क्षुधात्मक पक्ष अपेक्षाकृत रूप से निम्नस्तरीय है और बौद्धिक पक्ष से अनुशासित होने के अतिरिक्त उसका कोई सद्गुणात्मक (नैतिक) मूल्य नहीं है।

आत्मा के इस त्रिविध वर्गीकरण के आधार पर प्लेटो ने ग्रीक नैतिक चेतना में मुख्य रूप से स्वीकृत और परवर्ती युग में मुख्य सद्गुण के नाम से जानी जाने वाली चार प्रकार की अच्छाइयों को एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया। ये मुख्य चार सद्गुण निम्न हैं[11] (1) प्रज्ञा[12], (2) साहस या सहनशीलता, (3) संयम या अनुशासन, (4) न्याय या ईमानदारी। इन चारों में सबसे महत्वपूर्ण दो हैं- 1. प्रज्ञा और 2. न्याय (ईमानदारी)। प्रज्ञा अपने सर्वोच्च और आदर्श रूप में दार्शनिक के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान की धारक है और आत्मा के सभी पक्षों का नियमन करती है एवं उन विविध पक्षों में संगति स्थापित करती है। प्लेटो के अनुसार सामाजिक सम्बंधों में न्याय का मूलाधार प्रज्ञा है। इसी आधार पर उसे सामान्य कहा गया है- इसे हम न्याय भी कहते हैं। इस पद की विशेष व्याख्या सामाजिक सम्बंधों में अभियुक्त गुणों को ही प्रकट करती है। एक राजनीतिक समाज और उसके घटक व्यक्ति के पारस्परिक सम्बंध की प्लेटो की व्याख्या आंशिक रूप से उसके आत्मा के विविध पक्षों के विश्लेषण पर आधारित है। वह यह मानता है कि एक सुव्यवस्थित राज्य में प्रज्ञा से सम्बंधित एक शासक वर्ग होगा तो दूसरा साहस गुण से युक्त क्षत्रिय (संघर्ष करने वाला) वर्ग होगा, और दोनों ही वर्ग वणिकों के सामान्य समूह से अलग होंगे। समाज में वणिक-वर्ग का स्थान वही है, जो व्यक्ति के जीवन में क्षुधात्मक पक्ष के प्राबल्य के द्योतक है। इस वर्ग का कार्य समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना है। इस वर्ग का राज्य से सम्बंध केवल उसकी आज्ञाओं के पालन करने तक ही है। ऐसे राज्य में व्यक्ति और समाज का हित राज्य के उपरोक्त विभिन्न घटकों की उन सामंजस्य-पूर्ण क्रियाओं पर निर्भर है, जिसमें प्रत्येक घटक अपना उचित कार्य करता है। सामाजिक क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से इसे न्याय कहा गया है। इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि प्लेटो के दर्शन में दो आधारभूत सद्गुण प्रज्ञा और न्याय अपने सर्वोच्च रूप में किस प्रकार एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक प्राज्ञ आत्मा अनिवार्यतया

वही होगा, जिसके विभिन्न पक्ष एक दूसरे के साथ संगतिपूर्ण होकर कार्य करते हो। यह क्रिया तब तक सही ढंग से नहीं हो सकती है, जब तक कि तार्किक एवं नियामक पक्ष वस्तुतः प्राज्ञ न हो। पुनः शेष दो सद्‌गुण इस संश्लिष्ट आत्मा की प्रज्ञा से नियंत्रित क्रिया के ही दो भिन्न पक्ष हैं। साहस या सहनशीलता आत्मा के आवेगात्मक या संघर्षात्मक पक्ष की अच्छाई है। जब यह गुण बुद्धि के अधीन होता है, तो हमें यह बताता है कि जो वस्तुतः भयानक है उसी से भय खाना चाहिए, जबकि संयम या अनुशासन ईमानदारी (न्याय) से ठीक वैसे ही सम्बंधित है, जैसे कि उसका ही एक अंग हो। जहां साहस या सहनशीलता के गुणों का आत्मा के अबौद्धिक पक्ष या बौद्धिक पक्ष के प्रति समर्पण है, वहां संयम और अनुशासन विभिन्न सम्बंधित पक्षों में संगतिपूर्ण व्यवहार को सूचित करता है।

पोलिटिक्स नामक संवाद में प्लेटो ने साहस और अनुशासन (संयम) को दूसरे ढंग से विवेचित किया है। वहां प्लेटो उन्हें मानव के मौलिक स्वभाव का विरोधी बताते हैं, जिन्हें यदि अनियंत्रित छोड़ दिया जाए, तो वे नागरिकों के विरोधी वर्ग के द्वारा अतिवादिता के रूप में प्रकट होते हैं, यद्यपि एक प्राज्ञ राजनेता उन्हें उचित ढंग से समन्वित कर लेता है। पुनः प्लेटो ने अपने नीति सम्बंधी अंतिम लेख 'दि लाज' में नागरिकों के या लोकप्रिय प्रकार के साहस का स्थान निश्चित रूप से संयम की तुलना में निम्न माना है। इस लेख में आत्मा के विभिन्न पक्षों कां विश्लेषण परिपार्श्व में चला गया है और किसी रूप में संशोधित भी कर दिया गया है। यहां अबौद्धिक आवेगों में अंतर स्पष्ट किया गया है। यह अंतर दुःख से प्रत्युत्पन्न क्रोध, भय आदि आवेगों में और सुख के प्रत्युत्पन्न आवेगों में किया गया है, तथापि प्लेटो ने चारों सद्‌गुणों को अपने सर्वोच्च रूप में एक दूसरे से अविभाज्य तथा परस्पराश्रित माना है और सद्‌गुणों के चतुर्विध वर्गीकरण को बिना किसी आधारभूत परिवर्तन के स्वीकार किया है।

पुनः हमें यह भी देखना होगा कि केवल सद्‌गुण का ज्ञान से तादात्म्य ही पर्याप्त नहीं है। वह अज्ञान के अतिरिक्त दुराचार का दूसरा कारण भी है। यह कारण है आत्मा का आंतरिक संघर्ष और जीवन की अस्तव्यस्तता, जिसमें अबौद्धिक आवेग विवेक को कुण्ठित कर देते हैं। प्लेटो ने अपनी परवर्ती नैतिक विवेचना में इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

यदि हम बाह्य आचरण के उन विशेष रूपों को जानना चाहें, जिनमें

ये सद्‌गुण अभिव्यक्त होते हैं, तो हमें चिंतन के उन क्षेत्रों में प्रवेश करना होगा, जिन्हें वर्त्तमान में नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के अलग-अलग नामों से जानते हैं, यद्यपि प्लेटो ने इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया है। प्लेटो के अनुसार नागरिकों के कर्त्तव्य के विभिन्न क्षैत्रों की विस्तृत विवेचना एक ऐसी प्रबुद्ध व्यवस्था के द्वारा होगी, जो कि अपनी प्रजा की नैतिक अच्छाइयों के विकास को ही प्रजा का सच्चा कल्याण मानता है। विशेष बात यह है कि प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रंथ में प्रस्तुत अपनी आदर्श राज्य की कल्पना में क्रमशः उत्पन्न भावना और जीवन का वर्गीकरण छोड़ दिया है। साथ ही लैंगिक सम्बंध को भी केवल प्रजाति (नस्ल) के सुधार की दृष्टि से ही निश्चित किया है। कार्यों का विभाजन भी योग्यता के आधार पर किया गया है और राज्य शासन के द्वारा निरूपित नियमों के पालन को ही नैतिकता का सर्वस्व मान लिया है। प्लेटो ने केवल दार्शनिकों को ही शासन एवं शिक्षा के सामान्य कार्यों के अतिरिक्त अमूर्त्त चिंतन के उच्च क्षेत्र के योग्य माना है। उसके अपने लाज नामक ग्रंथ में विकसित स्त्री और सम्पत्ति के त्याग के आदर्श व्यावहारिक राजनीति के लिए बहुत ही ऊंचे हो गए हैं। उस ग्रंथ में शिक्षा, विवाह तथा नागरिकों का बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक का सम्पूर्ण जीवन (शासकीय) नियंत्रण का मुख्य विषय माना गया है। मात्र यही नहीं सभी प्रकार की उपासनाएं भी शासकीय नियंत्रण का विषय मानी गई थीं, ताकि वे नागरिकों को संतोषप्रद रूप से व्यापक एवं पूर्ण नैतिक मार्गदर्शन प्रदान कर सकें। वस्तुतः प्लेटो इस सम्बंध में सजग था कि यह सूक्ष्म नियंत्रण पूर्ण रूप से कानूनी बाध्यता के द्वारा सम्भव नहीं है, फिर भी वह मानता है कि जीवन के किसी एक भाग तक शासन को प्रेरणा, प्रोत्साहन और न्यायिक दंड का उपयोग करना चाहिए।

संक्षेप में उसके आदर्श का कार्य आधुनिक चर्च और आधुनिक राज्य-दोनों के कार्यों का मिलाजुला रूप है, फिर भी वह वैयक्तिक जीवन में जितनी अधिक कठोरता के साथ वैधानिक नियंत्रण लाना चाहता है, वह आधुनिक पाठक के लिए आश्चर्य का विषय है। प्लेटो ने नागरिक कानून के द्वारा व्यक्तिगत लाभ के लिए हस्तकौशल, फुटकर व्यापार एवं न्यायालयों में वकालत करने के कार्य पर पाबंदी लगा दी थी। नागरिक तीन वर्ष तक संगीत सीखने के लिए बाध्य थे। इसी प्रकार 18 वर्ष तक की उम्र के नागरिकों के लिए मद्यपान सर्वथा निषिद्ध माना गया था। 40 वर्ष की अवस्था तक सभी

को दावतों के सुखों से वंचित कर दिया गया था, इस उम्र के पश्चात् ही नागरिक यात्रा के अधिकारी माने गए थे। पैंतीस वर्ष के पश्चात् अविवाहित रहने के लिए उन्हें दंडित किया जाता था। देवताओं के अस्तित्व का निषेध करना या यह मानना कि देवता बलिदान और उपहार से संतुष्ट होते हैं, अवैधानिक माना गया था। काव्य रचना और संगीत को भी कठोर शासकीय नियंत्रण (सेंसरशिप) का विषय माना गया था। महाभोज (दावतें) कठोर व्यय-नियामक नियमों के अधीन माने गए थे। विधान और पूरक आदेश- दोनों ही नागरिकों के लिए विधायक एवं नियम रक्षक की आप्तता के आधार पर बिना किसी के स्वीकृत किए जाते थे। केवल दार्शनिकों को ही विधानों की तार्किक समीक्षा के योग्य माना गया था।

प्लेटो का सुख सम्बंधी दृष्टिकोण और उसका मानवीय सुख से सम्बंध

जब हम यह मान लें कि हम नागरिक सद्गुण और दर्शन-दोनों के स्वरूप का पूर्णरूपेण विवेचन कर चुके हैं, फिर भी यह प्रश्न शेष रह जाता है कि हमारा यह विवेचन कहां तक मनुष्य के परमशुभ का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। यहां हमें गलती और भ्रम से बचने के लिए यह ध्यान रखना होगा कि सुकरात और प्लेटो में इस सम्बंध में कभी भी कोई विवाद नहीं रहा है कि व्यक्ति का परम शुभ उसका अपना हित या कल्याण है[13]। वस्तुतः सुकरात एवं प्लेटो-दोनों ने ही अनेक बार अपने तर्कों के द्वारा इसका समर्थन किया है। दोनों के अनुसार मुख्य व्यावहारिक प्रश्न, जिस पर अविश्वास और विरोध हो सकता है वह यह नहीं है कि मनुष्य का परम शुभ उसका स्वयं का कल्याण या हित है, वरन् यह है कि प्रज्ञा, सुख, सम्पत्ति और सम्मान आदि विशेष विषय, जिन्हें शुभ या वांछनीय माना जाता है, वे व्यक्ति के कल्याण में किस सीमा तक साधक हैं। सुकरात और प्लेटो-दोनों यह मानते हैं कि शुभ से सम्बंधित अन्य प्रश्नों के समान ही इस प्रश्न का भी सही उत्तर देने के लिए हमें शुभ के सामान्य प्रत्यय का यथार्थ तात्पर्य एवं स्वयं शुभ की वास्तविक प्रकृति को जानना होगा, किंतु जब प्लेटो का प्रत्ययवाद (आदर्शवाद) उसके स्वयं के मस्तिष्क में पूर्ण स्पष्ट हो गया और वह स्वतः शुभ का अर्थ समझ गया, तो समग्र सुसंगठित विश्व का साध्य और सार-तत्त्व तथा प्रत्येक व्यक्ति के परम शुभ की खोज का विषय अनिवार्यतया उस तत्त्वमीमांसा सम्बंधी खोज, जिसके द्वारा वह विश्व का रहस्य पाना चाहता था, से भिन्न हो गया। यदि हम यह भी मान लें कि स्वतः शुभ या निरपेक्ष शुभ सभी वस्तुओं का अंतिम आधार है, तो भी वह क्या है। प्लेटो और अरस्तू-दोनों ही और यहां तक

कि सुकरात भी 'शुभ', जिसके सम्बंध में सिनिक्स और सिरेनेक्स में विवाद रहा हुआ है और जिसका प्लेटो अपने फिलेक्स नामक संवाद में सिनिक्स और सिरेनेक्स के साथ विचार विनिमय करता है, यह कोई अधिक 'यथार्थ' तथ्य ही होगा। वस्तुतः वह उस संवेदनात्मक जगत् का ही कोई तथ्य होगा जिसमें मनुष्य वास्तविक जीवन जीता है। इस यथार्थ मानवीय शुभ की समुचित परिभाषा क्या होगी? क्या यह प्रज्ञा या सद्गुण की साधना में निहित है? अथवा क्या सुख उस शुभ का एक घटक है और यदि वह सुख उस शुभ का एक अंग है, तो उसका महत्व क्या है?

इन प्रश्नों पर प्लेटो के विचारों में हमें बहुत से उतार चढ़ाव देखने को मिलते हैं। प्रोटागोरस नामक संवाद में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करने के पश्चात् कि सुख शुभ है, वह एक दूसरी अति की ओर जाता है तथा फीडो और गोरगिजस नामक संवादों में इस बात को मानने से इंकार कर देता है कि सुख किसी भी रूप में शुभ है मात्र इतना ही नहीं, स्पष्ट रूप से तो वह सुख को ऐसा वास्तविक सारभूत शुभ ही नहीं मानता है, जिसकी एक दार्शनिक खोज करता है, वरन् सुख को वह एक भौतिक, क्षणिक एवं एक प्रक्रिया मात्र मानता है। वे अनुभूतियां, जिन्हें अक्सर सुख मान लिया जाता है वे दुःख के साथ जुड़ी हुई होती है, जबकि शुभ कभी भी अशुभ (बुराई) के साथ नहीं रह सकता है। सुखद अनुभूतियां केवल दुःखद आकांक्षाओं की पूर्ति है और उनके हटा देने पर समाप्त हो जाती है, जहां तक सामान्य बुद्धि सम्यक् रूप से कुछ सुखों को शुभ के रूप में स्वीकार करती है, यह उनकी किसी अग्रिम शुभ की उत्पादन क्षमता आधार पर ही माना गया है। प्लेटो के लिए यह दृष्टिकोण सुकरात के परम्परा में रहते हुए भी उस परम्परा के प्रति विद्रोह था। सुख को सारभूत और निरपेक्ष शुभ नहीं मानना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उसे यथार्थ मानव जीवन के वास्तविक कल्याण में सम्मिलित नहीं किया जाए। अंततोगत्वा वह केवल स्थूल एवं पाशविक सुख ही था, जो आकांक्षा के दुःख के साथ स्थायी रूप से जुड़ा हुआ है। 'रिपब्लिक' में प्लेटो दार्शनिक या सद्गुणी जीवन की आंतरिक सर्वोच्चता के प्रश्न पर सुख के प्रमापक के आधार पर विचार करने से कोई विरोध नहीं है, ऐसा मानता है उनका तर्क यह है कि केवल अच्छा दार्शनिक व्यक्ति ही सच्चे सुख का उपभोग करता है। जबकि संवेदनशील व्यक्ति दुःखद आकांक्षाओं और उन तटस्थ दुःखरहित अवस्थाओं के बीच झूलते हुए अपना जीवन व्यतीत करता है, जिन्हें वास्तविक सुख मान लेता है। लाज में इससे भी अधिक स्पष्टता के साथ यह कहा गया है कि जब हम देवताओं के

नहीं, मनुष्य के सम्बंध में विचार कर रहे हों, तो हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि जिस उत्कृष्ट एवं उच्च जीवन की हम प्रशंसा करते हैं, वह जीवन वही है, जिसमें दुःखों की अपेक्षा सुखों की अधिकता है। यद्यपि प्लेटो ने उत्कृष्ट (सर्वोत्तम) और सुखप्रद में महत्वपूर्ण, वास्तविक एवं अवियोग्य सम्बंध माना है, तथापि वह सुख पर यह बल केवल जन साधारण के लिए ही देता है। फिलेक्स में सुख और प्रज्ञा के दावों के मध्य दार्शनिक दृष्टि से की गई तुलना में उसने सुख को पूरी तरह से एक बुराई या निम्न कोटि का बताया है।[14] यद्यपि यथार्थ मानवीय शुभ के घटकों के पूर्ण विवरण में रंग, रूप और स्वर सम्बंधी सुखों तथा बौद्धिक व्यायाम अन्य सुखों एवं क्षुधाओं की आवश्यक संतुष्टियों का स्थान स्वीकार किया गया है, किंतु उन्हें निम्नकोटि का ही माना गया है। इसके साथ ही अपने परवर्ती विचारों में वह ऐन्द्रिक एवं स्थूल संतुष्टियों सम्बंधी सुख के घनात्मक गुणों का निषेध करने सम्बंधी अतिवादिता से भी बचता है। निश्चित ही वे शरीर के अंगों को अपनी स्वाभाविक दशा में लाने के लिए की गई परिपूर्तियों की अवस्थाएं हैं, जिनमें सुखनिहित है[15]। वे यह मानते हैं कि ऐन्द्रिक संतुष्टियों का सुख सम्बंधी सामान्य मूल्यांकन बहुत अधिक सीमा तक भ्रांतियुक्त ही होता है। उनमें सुख की असत् प्रतीति शारीरिक अंगों की पूर्ववर्ति या सहचारी दुखद अवस्थाओं से उनके विरोधी होने के कारण उत्पन्न होती है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि शुभ और सुख के सम्बंध के बारे में किसी प्रकार का पेचीदा (उलझन भरा) और सूक्ष्म (नाजुक) संतुलित दृष्टिकोण प्लेटो के सम्प्रदाय में अधिक समय तक मान्य नहीं रह सका और जैसा कि हमें अरस्तू के खंडन से ज्ञात होता है, प्लेटो के उत्तराधिकारी स्पेयूसीयस के प्रभाव से बाद में प्लेटोवादियों के मुख्य वर्ग ने सुखवाद विरोधी दृष्टिकोण अपना लिया था।

प्लेटो और अरस्तू

जब एक अध्येता प्लेटो से अरस्तू की ओर जाता है, तो वह तत्काल इन दोनों दार्शनिकों के सोचने समझने के ढंग और उनकी साहित्यिक रुझान सम्बंधी विरोध से अवगत हो जाता है। यह समझना सरल है कि क्यों उनकी विचार प्रणालियां की सामान्य तथा व्यवहारिक रूप में एक दूसरे की विरोधी मानी जाती है। अपने तत्त्वमीमांसा एवं नीतिशास्त्र सम्बंधी ग्रंथों में प्लेटो और प्लेटोवादियों की अरस्तू के द्वारा की गई आलोचना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, तो भी प्लेटो की मृत्यु के दो शताब्दी के पश्चात् एस्कालन के एन्टीओकस

ने 'अकादमी'[16] के नाम से जानी जाने वाली अध्ययनशाला, जिसका जन्मदाता प्लेटो माना जाता था, के अध्यक्ष के रूप में उस संदेहवाद का निरसन कर दिया, जो कि इस बीच के काल में बहुत समय तक प्लेटो के पारम्परिक सिद्धांत के रूप में माना जाता रहा था। नैतिकता के सम्बंध में उसने जिस बात (सिद्धांत) का स्पष्टीकरण किया, उसके सम्बंध में प्लेटो और अरस्तू एकमत थे, ऐसा उसका निश्चित दावा था। अधिक गहराई से उसका अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होता कि उसके इस दावे की पुष्टि के कुछ तात्त्विक आधार भी थे। यद्यपि अरस्तू अपने गुरु (प्लेटो) से मानवीय शुभ के सिद्धांत की रूपरेखा के सम्बंध में पूर्ण सहमत है, तथापि चाहे हम उसके नीतिशास्त्र का दूसरे शास्त्रों से सम्बंध के विषय में विचार करें या उसके सद्गुणों की व्यवस्था के विस्तार में जाएं, अरस्तू का प्लेटो से मतभेद स्पष्ट है। इपीक्यूरीयनों की परवर्ती की दृष्टि से इन दोनों पर दृष्टिपात करें या विचार करें, तो व्यावहारिक रूप से इनका यह विरोध भी समाप्त हो जाता है। यहां तक कि जिस मुख्य विचार बिंदु पर अरस्तू प्लेटो के विरोध में जाता है, वहां भी बाहर से जितना विरोध परिलक्षित होता है, वस्तुतः उतना विरोध नहीं है। अपने गुरु की मान्यताओं के जिस भाग पर अरस्तू वस्तुतः आक्षेप करता है, वे चिंतन से निष्पन्न न होकर कल्पना से प्रसूत ही हैं। प्लेटो की वैचारिक कल्पना अरस्तू के विश्लेषण के माध्यम से ही मुख्य विधायक परिणामों की स्पष्टता को प्राप्त होती है।

जैसा कि हमने देखा, प्लेटो के अनुसार एक परम विज्ञान या परम प्रज्ञा है, जिसका अंतिम विषय निरपेक्ष शुभ है। इसी निरपेक्ष शुभ के ज्ञान में सभी विशेष शुभों का अथवा जिन्हें हम बौद्धिक रूप से जानना चाहते हैं, उनका ज्ञान निहित है। सभी व्यावहारिक सद्गुण उसी निरपेक्ष शुभ के ज्ञान में अंतर्भूत हैं। कोई भी व्यक्ति, जो वस्तुतः यह जानता है कि वह शुभ क्या है, वह उस शुभ की उपलब्धि करने में भी असफल नहीं हो सकता है, अपितु उसके द्वारा वह तात्त्विक चिंतन और व्यावहारिक बुद्धि में तादात्म्य कर देता है, इस दृढ़ धारणा के बावजूद भी प्लेटो के लेखनों में उस निरपेक्ष शुभ के ज्ञान के द्वारा मानवीय कल्याण के व्यावहारिक निष्कर्षों को निकालने का कोई गम्भीर प्रयास दृष्टिगत नहीं होता है, साथ ही उसके ग्रंथों में उस निरपेक्ष शुभ के आधार पर विशिष्ट कलाओं और विज्ञानों का वर्णन तो नगण्य ही है। उसका कहना है कि जीवन विज्ञान या जीवन जीने की कला को ही अपने साध्य को स्पष्ट करना है। उसके अनुसार यह जीवन जीने की कला एक राजनीति है, क्योंकि अरस्तू के अनुसार

मानवीय कल्याण राजनीतिक संस्थाओं पर निर्भर रहता है, इसलिए निरपेक्ष शुभ का ज्ञान उसमें बिलकुल उपयोगी नहीं होगा, जैसे यह ज्ञान विशिष्ट कलाओं और हस्तकौशल में उपयोगी नहीं होता है। इस प्रकार अरस्तू जिस बात का प्रतिषेध करता है, उसे सिद्ध करने के लिए प्लेटो ने कोई निश्चित तर्क प्रस्तुत नहीं किए हैं। जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं, अरस्तू चिंतन-विज्ञान या प्रज्ञा, जो कि शाश्वत और अव्यय सत्य से सम्बंधित है और व्यावहारिक बुद्धि या राजनीतिज्ञ के आदर्श, जिसका साध्य मानवीय या व्यावहारिक शुभ है, में स्पष्ट अंतर करता है। यह अंतर उस स्पष्ट रुप से स्वीकृत सिद्धांत का विरोधी है । प्लेटो 'फ लेयस' नामक संवाद में शुभ सम्बंधी विवेचना को पूर्णतया मानवीय शुभ से सम्बंधित करता है और यह बताता है कि क्रमशः 'विवेक' और 'सुख' उस मानवीय शुभ के निर्माण का दावा करते हैं। यह केवल 'ईश्वर सम्बंधी विचार' के प्रसंग में ही विश्व-शुभ (सुसंगठित विश्व के शुभ) की सांकेतिक चर्चा करता है, जो कि वस्तुतः हमारी प्रस्तुत विवेचना की सीमा से परे है। पुनः, आचारिक राजनीति के अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ दि लाज में उसकी विशिष्ट तत्त्वमीमांसा कहीं भी परिलक्षित नहीं होती है। दूसरी ओर, अरस्तू के द्वारा प्रस्तुत मानवीय शुभ और ईश्वरीय शुभ का सम्बंध इतना निकट का है कि हम यह नहीं मान सकते हैं कि प्लेटो ने उन्हें इससे भी अधिक निकट होने की कल्पना भी की होगी। अरस्तू की दृष्टि में जगत् का तात्त्विक शुभ सामान्य अमूर्त्त विचार की विशुद्ध क्रिया है। वह एक साथ विषय और विषयी दोनों ही है। वह स्वतः अपरिवर्तनशील (कूटस्थ) और नित्य है, साथ ही वास्तविक जगत् में परिवर्तन की समग्र प्रक्रिया का अंतिम कारण एवं प्रथम स्रोत भी है। अरस्तू और प्लेटो-दोनों ही सामान्य अमूर्त्त चिंतन की प्रक्रिया के समान ही यह मानते हैं कि विशुद्ध चिंतनात्मक प्रज्ञा मानवीय अस्तित्व का सर्वोत्तम प्रकार है। दार्शनिक व्यक्ति यथासम्भव ऐसा जीवन जीना ही चाहेगा, यद्यपि एक मनुष्य होने के नाते उसे जनसाधारण के जीवन के आचार व्यवहार से भी सम्बद्ध होना पड़ेगा और इस क्षेत्र में उसे पूर्ण नैतिक अच्छाइयों (प्रकर्ष) की उपलब्धि के द्वारा ही अपने सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति होगी। निस्संदेह अरस्तू के द्वारा नैतिक अच्छाई को देवताओं से असम्बंधित मानने का प्रयास प्लेटो के इस सिद्धांत कि न्यायी व्यक्ति देवताओं का प्रिय होता है । विरोधी है, किंतु यहां भी इस विरोध की दूरी को कम किया जा सकता है। यदि हम यह ध्यान में रखें कि प्लेटो के न्याय का सारतत्त्व संगति पूर्ण क्रिया है। निस्सदैह अरस्तू का सुख को दैवीय सत्ता का गुण मानना उसके प्लेटो

से गम्भीर एवं तात्विक विरोध को स्पष्ट करता है किंतु यह भिन्नता व्यावहारिक महत्त्व की नहीं है। फिर भी यह दैवीय और मानवीय शुभों की तुलना को कुछ अधिक बोधगम्य ही बनाती है। पुनश्च प्लेटो के समान अरस्तू का भी सुकरात के इस सिद्धांत से विरोध है कि सभी सद्‌गुण ज्ञान है यद्यपि यह विरोध प्लेटो की अपेक्षा मूलतः अधिक व्यापक नहीं है फिर भी अरस्तू ने इसे अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। प्लेटो और अरस्तू दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की ऐच्छिक क्रिया का उद्देश्य वही होता है जो उसे शुभ दिखाई पड़ता है और वह पूर्ण सद्‌गुण अनिवार्यतया व्यावहारिक प्रज्ञा या नैतिक अंतर्दृष्टि से निगमित होता है। यदि वह प्रज्ञा या अंतर्दृष्टि यथार्थ या क्रियात्मक हो । यद्यपि दोनों यह स्वीकार करते हैं, कि नैतिक अंतर्दृष्टि की यह सत्यता केवल बुद्धि का कार्य नहीं है किंतु वह आत्मा के बौद्धिक और अबौद्धिक या अर्द्ध बौद्धिक पक्षों के मध्य सम्यक् सम्बंध स्थापित करने पर निर्भर है और उसके अनुसार सद्‌गुण की शिक्षा के लिए स्वाभाविक अशुभ से निवृत्तियुक्त मन पर सजग अनुशासन की अपेक्षा केवल शाब्दिक आदेश कम महत्वपूर्ण है। निस्संदेह यही सिद्धांत अरस्तू के चिंतन में स्पष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान रखता है। निश्चित ही अरस्तू अपने गुरु प्लेटो की अपेक्षा यह कहकर एक कदम आगे रखता है। वह कहता है कि सत्कार्य का मुख्य गुण यही है कि वह स्वतःसाध्य के रूप में या केवल (अपने) सद्‌गुणात्मक सौन्दर्य के लिए ही चुना गया हो, किंतु उपरोक्त कथन में वह इस मान्यता को सूत्रबद्ध कर देता है, जिसकी उसके गुरु ने अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से उसे प्रेरणा दी थी। अंत में सुख और मानव कल्याण में सम्बंध के प्रश्न पर अरस्तू का दृष्टिकोण प्लेटो के उन विचारों से, जो कि उसके परवर्ती संवादों में मिलते हैं बहुत अधिक भिन्न नहीं है। यद्यपि वह सुखवाद विरोधी है और उस ऐकान्तिक दृष्टिकोण का विरोध करता है, जो कि स्पियुसीपस के प्रभाव से प्लेटो वाद में आया था। अरस्तू के दृष्टिकोण में सुख मानव कल्याण का प्राथमिक घटक नहीं है, किंतु उसका एक अभिन्न उपलक्षण (गौण गुण) है। मानवीय कल्याण वस्तुतः किसी प्रकार की उत्तम क्रिया को कौशल पूर्वक सम्पादित करना है चाहे उसका साक्ष्य या लक्ष्य अमूर्त सत्य हो या सदाचरण हो। ज्ञान और सद्‌गुण, उनसे प्राप्त होने वाले सुख के आधार पर बौद्धिक चयन के विषय नहीं है तो भी सुख इन सभी क्रियाओं का पोषण करता है और एक प्रकार से उन्हें पूर्ण करता है जो किसी अनुपात में क्रिया की उत्तमता (अच्छाई) से भी अधिक श्रेष्ठ एवं वरेण्य है। निस्संदेह अरस्तू सुख की प्रकृति के सम्बंध में प्लेटो

की आलोचना करते हैं। उनका तर्क यह है कि हम सुख को मात्र एक 'प्रक्रिया' या संतुष्टि के रूप में नहीं देखते हैं संतुष्टि सुख के भौतिक पक्ष को ही बताती है न कि उसके आत्मिक या मानसिक पक्ष को। किंतु इससे दोनों विचारकों की सामान्य नैतिक सहमति प्रभावित नहीं होती है। भ्रष्ट या अनैतिक सुख, वास्तविक एवं सच्चे सुख नहीं है। इस मूलतया प्लेटोवादी सिद्धांत को अरस्तू के विचारों में देखकर हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

मानव कल्याण के सम्बंध में अरस्तू का दृष्टिकोण

जब हम तीनों दार्शनिकों के नैतिक दर्शन की तुलना करते हैं, तो निम्न निष्कर्ष निकलते हैं। हमारी दृष्टि में मानवीय शुभ के प्लेटो और अरस्तू के दृष्टिकोणों में यदि कोई महत्वपूर्ण अंतर है, तो वह यह है कि तात्त्विक रूप से अरस्तू के विचारों की सुकरात नैतिक शिक्षाओं के विधायक पक्ष से अधिक निकटता एवं समरूपता है, यद्यपि उनका प्रस्तुतिकरण अधिक शास्त्रीय एवं पाण्डित्य पूर्ण ढंग से हुआ है और वे सुकरात के आधारभूत विरोधाभास का अधिक स्पष्ट रूप में निरसन करते हैं। यद्यपि सुकरातीय आगमन विधि प्लेटो के संवादों का महत्वपूर्ण लक्षण है किंतु उनकी नीतिशास्त्र की आदर्श विधि विशुद्ध रूप से निगमनात्मक ही है। वे नैतिकता के क्षेत्र में सहज बुद्धि को एक ऐसा अस्थाई चरण और प्रारम्भ-बिन्दू मानते हैं जिसके द्वारा मन निरपेक्ष शुभ के ज्ञान की प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ सके। प्लेटो यह मानते हैं कि केवल उसी निरपेक्ष शुभ के ज्ञान के द्वारा ही विशेष शुभों के प्रत्ययों को सही ढंग से समझा जा सकता है। अरस्तू नीतिशास्त्र में प्लेटो के अनुभवातीतता के सिद्धांत को समाप्त कर उनकी शिक्षाओं में मौलिक सुकरातीय आगमन विधि[17] को शेष रखते है। यह आगमन विधि जोकि जनसाधारण के धारणाओं से निर्मित और उसी से सत्यापित भी है। वस्तुतः उनके लेखन के उतार चढ़ाव को भली भांति तब ही समझा जा सकता है कि जब हम उनकी लेखन शैली को सुकरातीय परिसंवाद के उस रूप में देखें जो कि अब एकालापी[1] है और विवाद चर्चा के स्थान पर व्याख्यान कक्ष का विषय बन गई। इस प्रकार सुकरातीय आगमन प्रणाली द्वारा वे हमे अपने नीतिशास्त्र सम्बंधी ग्रंथ में मानवीय शुभ या परमशुभ की ओर ले जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी भी क्रियाकलाप को किसी परिणाम की प्राप्ति की अपेक्षा के साथ ही करता है चाहे वह परिणाम अपने आप के लिए हो (स्वतःसाध्य हो) या किसी अन्य साध्य का एक अन्य साधन हो। किंतु स्पष्ट बात यह है कि सभी कार्य केवल किसी साध्य के साधन के रूप में नहीं

किए जाते हैं, इसलिए कोई भी हो परम साध्य अवश्य ही होना चाहिए। वह विज्ञान या अध्ययन जो कि इस चरम साध्य की खोज करता है वह उन सभी कलाओं का नियामक होगा जिनकी उपयोगिता है या जिनका कोई विशेष साध्य हैं। हम देखते हैं कि मनुष्य सामान्यतया किन्हीं साध्यों को स्वीकार कर लेता है और हम उस साध्य को कल्याण करने में समर्थ होने के बारे में सहमत भी हो सकते हैं[18], किंतु उन साध्यों के स्वरूप के सम्बंध में मनुष्यों के विचार भिन्न भिन्न होते हैं, तो हम किस प्रकार सही दृष्टिकोण को प्राप्त कर सकते हैं? हम यह जानते हैं कि मनुष्यों को उनके कार्यों के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है और उसी आधार पर सम्बोधित किया जाता है जैसे सुनार, लुहार आदि। सभी प्रकार के मनुष्यों और मनुष्य शरीर के सभी अंगों के अलग-अलग विशेष कार्य हैं और कार्य करने वाले का या अंगों का मूल्यांकन भी उनके कार्यों के आधार पर ही होता है, वे अपने कार्य करने के ढंग पर ही अच्छे या बुरे कहे जाएंगे। इस आधार पर क्या हम यह अनुमान नहीं कर सकते हैं कि मनुष्य का मनुष्य के रूप में विशेष कार्य है और उसका कल्याण या उसके कर्मों का शुभत्व मनुष्य के लिए नियत कार्य को मानवीय अस्तित्व की सामान्य विशिष्टता अर्थात् बौद्धिकता के द्वारा सम्यक् प्रकार से सम्पादित करने में है। यही बौद्धिकता ही मनुष्य का विशिष्ट गुण है।

पुनश्चद्व जनसाधारण के विचारों के प्रति सुकरातीय आदर केवल उन्हीं रूपों में ही प्रकट नहीं हुआ है, जिनके आधार पर अरस्तू अपनी मौलिक धारणा पर पहुंचता है, वरन् उसने इस धारणा की जिस ढंग से विवेचना की है, उसमें भी समान रूप से परिलक्षित होता है, यद्यपि प्रथमतः अरस्तू की दृष्टि में पूर्ण शुभ (पूर्ण कल्याण) मनुष्य का अपने दिव्य-पक्ष अर्थात् शुद्ध तार्किक बुद्धि के उपयोग में निहित है। मानवीय शुभ की इस धारणा के और केवल इसी धारणा के प्रस्तुतिकरण के द्वारा वे अपने को विरोधाभास से दूर रखते हैं। उनके ग्रंथ के एक बड़े भाग में उन निम्न श्रेणी शुभों की विवेचना की गई है, जिनकी क्षुधात्मक या वासनात्मक (अर्द्ध-बौद्धिक)पक्ष की क्रियाशीलता के द्वारा एवं बुद्धि के नियंत्रण में व्यावहारिक जीवन में उपलब्धि की जाती है। इस प्रकार कर्म-कौशल को व्यापक बनाया गया है और उसे सुख के साथ जोड़ दिया गया है। वस्तुतः सुख ऐसे कौशलयुक्त कार्यों से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, फिर भी यह उसका पूरी तरह से पर्यायवाची नहीं है, जिसे ग्रीक नागरिक मानवीय कल्याण (शुभ) के लिए अनिवार्य जानते थे। वस्तुतः हम यह मान सकते हैं कि

अरस्तू के अनुसार मानवीय कार्यों के समुचित सम्पादन के लिए अनिवार्यता एवं पूर्व आवश्यकता के रूप में भौतिक सम्पदा की सीमित आवश्यकता को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार अरस्तू का चिंतन यह स्वीकार करता है कि गरीब व्यक्ति को कोई भी सुख नहीं है, लेकिन सुख के अतिरिक्त अन्य शुभ भी है, जैसे-सौन्दर्य, कुलीनता, सन्मति-कल्याण आदि, जिनकी उपस्थिति या अनुपस्थिति का मानवीय कल्याण (शुभ) के सामान्य दृष्टिकोणों पर प्रभाव पड़ता है, यद्यपि उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से भी सदाचरण के लिए महत्वपूर्ण नहीं बताया जा सकता है। अरस्तू न तो इन्हें अपने शुभ (श्रेयस) की दार्शनिक धारणा से बहिर्गत करते हैं और न अपनी औपचारिक परिभाषा में उन्हें सम्मिलित ही करते हैं। यह सुविचारित लचीलापन (मध्यम मार्ग) उनके आधारभूत सिद्धांतों में और उनकी समग्र नैतिक विवेचना में परिलक्षित होता है। वे स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि यह विषय पूर्णतया वैज्ञानिक विवेचन के योग्य नहीं है। अरस्तू का उद्देश्य मानवीय शुभ का कोई पूर्ण निश्चित सिद्धांत देना नहीं है, अपितु उनका कार्य मानवीय शुभ के अधिक महत्वपूर्ण घटकों का व्यावहारिक पूर्ण विवरण देना है।

अरस्तू की मान्यता यह है कि जनसाधारण के लिए शुभ जीवन का सबसे महत्वपूर्ण घटक कर्म-कौशल में निहित है और यह कर्म कौशल विभिन्न नैतिक उत्तमताओं (प्रकर्षों) प्रत्ययों से निर्धारित होता है। अरस्तू हमेशा उनकी व्याख्या अपने युग की सामान्य नैतिक चेतना के विश्लेषणात्मक निरीक्षण के द्वारा निकाले गए परिणामों के द्वारा प्रस्तुत करते हैं। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार की भौतिक सत्यता को हम विशेष भौतिक निरीक्षण के आगमन के द्वारा प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार नैतिक सत्य को विशेष नैतिक धारणाओं की सजग तुलना के द्वारा ही पाया जा सकता है। शुभ और अशुभ (बुराई) के सम्बंध में मानवीय निर्णयों की विभिन्नता और विरोध के कारण सभी नैतिक प्रश्नों के पूर्ण निश्चित एवं स्पष्ट उत्तर पाना सम्भव नहीं है, तथापि चिंतन के द्वारा कुछ विरोधी दृष्टिकोणों का निरसन और कुछ का समन्वय किया जा सकता है और अंततोगत्वा वह चिंतन हमें नैतिक सत्य का व्यावहारिक रूप से सारतत्त्व प्रदान करता है। सहज बुद्धि के प्रति इस निष्ठा के कारण यद्यपि अरस्तू के सद्गुण सम्बंधी विवरण में पूर्णता तथा गहनता-दोनों की कमी रही है, तथापि इसके साथ ही यहां सुंदर और शुभ जीवन के तत्कालीन ग्रीक आदर्श[19] के विश्लेषण के रूप में ऐतिहासिक अभिरुचि विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

अरस्तू का सद्‌गुण सम्बंधी सिद्धांत

प्रारम्भ में हम नैतिक उत्तमता (प्रकर्ष) या सीमित अर्थ में सद्‌गुण की सामान्य परिभाषा पर विचार करेंगे। इस पद का अर्थ केवल स्वाभाविक अनुभूति या अनुभूत्यात्मक नवावेश अर्थात् क्रोध, भय, घृणा आदि नहीं माना जा सकता है ? क्योंकि मात्र इस रूप में वे प्रशंसा या निंदा के विषय नहीं है। इसका तात्पर्य एक ऐसी परिपक्व आदत है, जो ऐसे नियम एवं अनुशासन के अंतर्गत किसी क्रिया को बार-बार करने से निर्मित होती है, और जिसमें अनुचित के आधिक्य और अनुचित की कमी से बचने का प्रयास किया गया हो और जिसमें पूर्ण वर्णित स्वाभाविक संवेगों का सीमित एवं नियंत्रित रूप से संवेदन किया गया हो, ताकि सद्‌गुणी व्यक्ति बिना किसी आंतरिक संघर्ष के कर्म-संकल्प कर सके और उस कर्म संकल्प को अपने परिणामों में प्रकट कर सके। सद्‌गुण भी तांत्रिक कौशल (कर्म-कौशल) के समान ही अभ्यास का परिणाम है, किंतु सद्‌गुण कर्म-कौशल से इस अर्थ में भिन्न है कि सद्‌गुणात्मक कार्यों का ऐच्छिक चयन उनके आंतरिक नैतिक सौंदर्य के लिए होता है, किसी बाह्य साध्य की सिद्धि के लिए नहीं होता है।

सुकरात के सद्‌गुण सम्बंधी विचारों में प्लेटो द्वारा किए गए संशोधन और विकास के आधार पर निष्कर्ष निकालते हुए अरस्तू सद्‌गुण सम्बंधी सामान्य धारणा को क्रमशः आगे ले जाते हैं। अरस्तू की विशेष सद्‌गुणों की सूचि आंशिक रूप से प्लेटो के आधार पर बनाई गई है और प्लेटो की उस सूचि में जन-सामान्य की धारणाओं के आधार पर वृद्धि की गई है तथा सहज बुद्धि के प्रति अपनी निष्ठा के आधार पर उन्हें परिभाषित किया गया है, किंतु अरस्तू और प्लेटो मुख्य सद्‌गुण सम्बंधी विवेचना में एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। प्लेटो सामान्यतया स्वीकृत सद्‌गुणों की मूलभूत एकता तथा उनकी पारस्परिक अंतर्निहितता को स्वीकार करते हैं और अपने विवरण में प्रत्येक सद्‌गुण को इतना व्यापक बनाते हैं कि उसे सामान्य सद्‌गुण माना जा सके, जबकि वे उन पदों को जन-साधारण की धारणाओं से लेकर भी अपनी विश्लेषणात्मक बुद्धि और आगमन पद्धति के आधार पर उन्हें संकीर्ण रूप में परिभाषित करते हैं। प्रज्ञा तथा ईमानदारी के प्रत्ययों को स्वतंत्र विवेचना के लिए छोड़कर वे साहस और संयम से अपनी विवेचना प्रारम्भ करते हैं। वे प्लेटो के समान साहस और संयम को आत्मा के अबौद्धिक पक्ष की अच्छाई

(उच्छमता) मानते हैं। साहस की वह अधिक जागरुकता एवं सूक्ष्मता से विवेचना करते हैं। प्रचलित प्रशंसा और निंदा के आधार पर वे उन्हें महत्व देते हैं। अपने संकुचित एवं कठोर अर्थ में 'साहस' शब्द का समुचित प्रयोग युद्ध के संदर्भ में भी किया गया है। जहां मृत्यु वरेण्य हो, ऐसे प्रसंगों में मृत्यु का निर्भयतापूर्वक सामना करने में यह अभिव्यक्त होता है और ऐसे प्रसंग मुख्यतया युद्ध में ही आते हैं। निश्चित ही समुद्री तूफान में एक साहसी व्यक्ति निर्भय होगा, किंतु वह सही अर्थों में साहस[1] को अभिव्यक्त नहीं कर सकेगा, क्योंकि ऐसी संकटकालीन मृत्यु से वरेण्य या महान् कुछ भी नहीं है। पुनः, सम्यक् साहस वही होगा, जो कि एक सद्गुण हो और जिसमें साहसिक कार्य का चयन उसकी अपनी आंतरिक महानता या शुभता के लिए हुआ हो। सम्यक् साहस को 'नागरिक साहस' से भी पृथक् करना होगा, जिसका प्रेरक अपमान या पीड़ा का भय है। इसी प्रकार उसे अनुभव के आधार पर जाग्रत आत्मविश्वास या जोश के रूप में अज्ञान मात्र भौतिक साहस या भावावेश से भी पृथक् करना होगा, यद्यपि भावावेश उसकी कच्ची सामग्री है, जिसे उच्च लक्ष्य से युक्त करके सद्गुण के रूप में विकसित किया जा सकता है।

जिस प्रकार साहस[20] का अर्थ युद्ध के संदर्भ में माना गया है, उसी प्रकार उस समय के उपयोग के अनुसार मिताचार (संयम) शब्द का प्रयोग भूख, प्यास और कामवासना सम्बंधी सुखों के संदर्भ में हुआ है। मिताचारी (संयमी) व्यक्ति इन क्षुधाओं या वासनाओं में अनुचित रूप से रत नहीं रहता है और इनके उपभोग का अति आनंद नहीं लेता है, चाहे वह उपभोग एवं तज्जनित संतुष्टि वैधानिक ही क्यों न हो। न वह अनावश्यक रूप से उन सुखों की चाह करता है और न उनकी अनुपलब्धि से दुःखी होता है। यह ध्यान देने योग्य है कि अरस्तू के अनुसार मिताचार वस्तुतः उस सद्गुण के संदर्भ में अनुचितता के अभाव पक्ष का सूचक होती है। क्षुधात्मक (आवेगात्मक) सुखों के प्रति अत्यधिक संयम मनुष्यों में मुश्किल से ही पाया जाता है। विशेष रूप से मिताचार के संदर्भ में पुनः यह भी ध्यान रखना होगा कि अपने सही अर्थ में मिताचार के सद्गुण में आत्म निरोध में अरस्तू ने महत्वपूर्ण अंतर माना है। सद्गुण वह है, जिसमें उचित कार्य का सम्पादन बिना आंतरिक संघर्ष के होता है, जबकि आत्म निरोध में कुपथगामी वासनाओं से संघर्ष करना होता है। मुख्यतया यह देखने में आता है, ग्रीक भाषा में 'अल्प निरोध'

और उसके विरोधी शब्द केवल शारीरिक क्षुधाओं के संदर्भ में ही प्रयुक्त किए जाते हैं, क्रोध आदि दूसरे अबौद्धिक आवेगों के सम्बंध में उनका प्रयोग गौण अथवा लाक्षणिक रूप में ही किया गया है। साहस और मिताचार (संयम) के पश्चात्, जो कि मनुष्य की आदिम या पाशविक इच्छा और अनिच्छा के नियमन से सम्बंधित है, अरस्तू सद्गुणों की एक दूसरी जोड़ी प्रस्तुत करता है, जो कि क्रमशः मनुष्य की सुसभ्य एवं सुसंस्कृत इच्छाओं और साध्यों के मुख्य विषय सम्पत्ति और सम्मान से सम्बंधित है।[21] इनमें से प्रत्येक का हमें उन अच्छाइयों से अंतर करना पड़ेगा, जिन्हें सब कोई प्राप्त कर सकते हैं और जिन्हें कुछ चुने हुए लोग ही प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार सम्पत्ति के सम्बंध में भी समुचित साधन वाला व्यक्ति ही उदार बन सकता है। उदारता के सद्गुण का तात्पर्य है, बिना अपव्यय किए योग्य विषयों पर मुक्त हस्त (खुले दिल से) व्यय करना या दान देना। यद्यपि इसमें सभी प्रकार के असम्मानजनक साधनों से धन प्राप्ति को वर्जित माना गया है, किंतु ज्ञान एवं वैभव का यह भव्य गुण केवल अधिक सम्पत्ति और उच्च सामाजिक सम्मान वाले व्यक्ति के लिए ही प्राप्तव्य है। उनके लिए यह आवश्यक है कि वे देवताओं को वही भेंट चढ़ाएं, शानदार (भव्य) दावतें दें, अच्छी संगीत मण्डली रखें अथवा युद्ध-पोत से सज्जित रहें। नियम या परम्परा के इन व्यय साध्य कार्यों को करना ऐथेन्स में एक अन्यत्र सम्पत्तिशाली नागरिकों पर लगाया गया एक प्रकार का अतिरिक्त कर भार था, किंतु यह स्पष्ट है कि वे इन्हें दिखावे के अवसर होने के कारण उत्साहपूर्वक अपनाते थे। यह कि व्यावहारिक जीवन में सम्पत्तिशाली व्यक्ति को शादी की दावतों में तथा मनोरंजन करने वाले समूह गायकों को रंगीन वस्त्रों से सजाने में अतिरंजित अभद्रता से बचना होता था। इसी प्रकार मनुष्य का सम्मान या यश कीर्ति के लिए उचित प्रयत्न भी अरस्तू के द्वारा विशिष्ट सद्गुण का क्षेत्र माना गया है, यद्यपि उसे इसके लिए तत्कालीन नैतिकता के शब्दकोष में कोई शब्द नहीं मिला है। जैसे कि देखा जाता है वह महत्वाकांक्षी व्यक्ति और अमहत्वाकांक्षी व्यक्ति - दोनों को ही कभी प्रशंसा के पात्र और कभी निंदा के पात्र मानता है, किंतु उच्चमना व्यक्ति के द्वारा अभिव्यक्त बाह्य शुभों में मन की इस सर्वोत्तम अभिवृत्ति (रुझान) का चित्रण करने में विशेष रुचि रखता है। उच्चमना व्यक्ति वह है, जो उच्चकोटि के गुण धारण करता है तथा अपनी योग्यता के अनुसार अपना मूल्यांकन करता है। उच्चमना होने का यह गुण सम्पादित सद्गुणों का ताज (मुकुट) है, क्योंकि दूसरे सद्गुण इसमें अंतर्निहित होते ही हैं या दूसरे सद्गुणों का इसमें

सद्भाव होता है और यह उन्हें बढ़ावा देता है। फिर भी इसके अंतर्गत कोई भी विशेष दुर्गुण अच्छाई की छोटी सी भी मात्रा का विरोधी हो जाएगा। इस सद्गुण की पूर्णता से युक्त उच्चमना व्यक्ति प्रतिष्ठित व्यक्तियों के द्वारा दिए जाने वाले बड़े सम्मान को पाकर भी गर्वोन्मत नहीं होगा, क्योंकि जो उसका प्राप्तव्य है उसकी अपेक्षा से वह कुछ भी नहीं है। वह जन साधारण की अपेक्षा नहीं रखता है तथा उस सम्मान से, जो कि ये उसे देते हैं पूरी तरह उदासीन रहता है, जिन लक्षणों के द्वारा अरस्तू महान् जीवन के इन गुणों की विस्तार से चर्चा करता है, वे ईसाई आदर्शों से अपने विरोध के कारण अधिक रोचक हो गए हैं। सामान्यतया उच्चमना व्यक्ति धनी और कुलीन होगा। वह दूसरों पर कृपा-दृष्टि करना पसंद करेगा, किंतु किसी की कृपा-दृष्टि (अनुग्रह) प्राप्त करने में वह शर्मिंदा होगा। किसी ने उस पर अनुग्रह किया है, इस बात की याद दिलाई जाना भी पसंद नहीं करेगा। वह सभी प्रकार की पराधीनता से बचता है। जब कभी कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं करना होता है, तो वह निष्क्रिय एवं प्रमादी रहता है। वह दोस्ती और दुश्मनी-दोनों के सम्बंध में खुले दिल वाला होता है, क्योंकि वह किसी से भी डरता नहीं है। जन-साधारण के प्रति उसका रुख व्यंग्यात्मक रहता है, इसे छोड़कर वह सामान्यतया निष्कपट एवं विद्वेष से दूर होता है, गप्पबाज नहीं होता है, जीवन की छोटी-छोटी आवश्यकताओं के प्रति वह चिंतित नहीं रहता है। किसी (आश्चर्य) से चकित नहीं होता है। उसकी प्रशंसा नहीं करता है। उसकी चाल धीमी, स्वर गम्भीर और वाणी विवेकपूर्ण होती है। सम्मान से सम्बंधित सद्गुणों के पश्चात् सज्जनता आती है। यह नैतिक गुण सीमित नाराजगी के अवसरों में अभिव्यक्त होता है, अरस्तू के सद्गुणों की यह सूची सामाजिक व्यवहार की अच्छाइयों से सम्बंधित है, अर्थात् मैत्री (खुशामद एवं रूखे मन के रुम में बीच का माध्य) और सच्चाई प्रभावशाली प्रत्युत्पन्नमति से समाप्त होती है। अपने ऐतिहासिक महत्त्व के अतिरिक्त भी विषय के प्रति स्थाई अभिरुचि उत्पन्न करने की दृष्टि से सद्गुणों और दुर्गुणों का यह विवरण एक प्रामाणिक एवं सूक्ष्म विश्लेषणात्मक अनुशीलन प्रस्तुत करता है, किंतु यह मानवीय आचरण पर व्यापक दृष्टिकोण से गंभीर विचार करने के प्रयास पर आधारित नहीं दिखाई देता है। यह मात्र जीवन के विभिन्न अंगों, कार्यों और सम्बंधों के लिए समुचित शुभता के प्रतिमानों को प्रस्तुत करता है। यह साहस का क्षेत्र युद्ध के संकट तक और मिताचार का सम्बंध दैहिक सुखों तक सीमित कर देता है। इसी प्रकार उदारता का अर्थ स्वहित और लोकहित के व्यय में अंतर नहीं करना, उसके विवेंचन

की अपूर्णता और सतहीपन का परिचायक है। इसमें नैतिक प्रत्ययों के सम्बंध में जन साधारण की धारणाओं का विश्लेषण ही प्रमुख रहा है। अरस्तू का सद्‌गुण का सामान्य सिद्धांत भी उसकी विवेचना को वस्तुतः सुव्यवस्थित बनाने में अधिक उपयोगी नहीं है। सद्‌गुण का स्वर्णिम माध्य या माध्यावस्था का उसका सिद्धांत भी सदैव ही सद्‌गुण की बुराइयों की अधिकता और अल्पता के मध्य कहीं स्थित है। निस्संदेह कलाकृतियों के समान ही मानवीय जीवन का अच्छा परिणाम पाने के लिए नियमन और मर्यादा की आवश्यकता को अभिव्यक्त करना महत्वपूर्ण तथ्य है, किंतु अरस्तू का सद्‌गुण और दुर्गुण का यह मात्रात्मक विवरण उस अवस्था में भी भ्रांत है, जहां पर असंगति स्पष्ट नहीं है। वह कभी-कभी ऐसे विवेचनों में सनकीपन और अपने अतर्कसंगत दृष्टिकोण का परिचय देता है। उदाहरणार्थ- घमण्ड और बनावटी विनम्रता के बीच एक यथातथ्यता का माध्य प्रस्तुत करते समय वह ऐसा परिचय देता है।

न्याय, मित्रता और व्यावहारिक बुद्धि के सम्बंध में अरस्तू के विचार

अरस्तू ने न्याय या ईमानदारी के मुख्य सद्‌गुण को सद्‌गुणों की पूर्वोक्त सूची में छोड़ दिया है और उसका अलग से विवेचन किया है। उनके इसे छोड़ने का आंशिक कारण तो यह है कि प्लेटो की सद्‌गुण की धारणा से मिश्रित और जन साधारण द्वारा प्रयुक्त इस शब्द के दो भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। अपने व्यापक अर्थ की दृष्टि से यह नियमों के उल्लंघन का विरोधी है अर्थात् नियम पालन करना है, जिसे हमने ईमानदारी के नाम से बताने का प्रयास किया है।[22] इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से यह समग्र सद्‌गुणों का ही आधार बन जाता है। अपने संकुचित अर्थ में यह न्याय का सूचक है जो कि अनुचित आचरण या शोषण का विरोधी है। इस संकुचित अर्थ में न्याय को वह प्रथमतया दो भागों में वर्गीकृत करता है-1. वितरण सम्बंधी न्याय जो कि सार्वजनिक सम्पत्ति, पद आदि को वर्ग के सदस्यों में ही उनके योगदान के अनुरूप समविभाजन में प्रकट होता है। 2. प्रति-पूर्त्ति न्याय जो जिसका अहित किया गया उस व्यक्ति के लाभ के लिए उसकी नुकसानी के समान अनुपात में नुकसान करने वाले व्यक्ति से क्षतिपूर्त्ति करवाने से सम्बंधित है। पुनः यह न्याय यह भी बताता है कि वस्तुओं के विनिमय में न्याय तब प्राप्त होता है, जब विनिमय की दो वस्तुओं में उनके मूल्यों की अपेक्षा से समान अनुपात होता है, अर्थात् एक ओर की गुणात्मक उच्चता को दूसरी ओर की मात्रात्मक उच्चता (अधिकता) से संतुलित किया जाता है। यद्यपि यह कथन

निदेशनात्मक है, तथापि विशेष स्थिति में न्यायोचित भाग क्या होगा? अथवा न्यायोचित नुकसानी तथा न्यायसंगत मोल तोल क्या होगा? इसका निश्चय करने में यह कोई भी मार्गदर्शन नहीं देता है। अब ग्रीक नैतिक चिन्तन में बहुचर्चित इस प्रश्न पर भी विचार करना अपेक्षित है कि न्याय प्राकृतिक है या परम्परागत है? अरस्तू की मान्यता यह है कि नागरिक न्याय में इन दोनों तत्त्वों की उपस्थिति है, जैसा कि राज्य के नागरिकों को दिए गए वैधानिक अधिकारों की सुरक्षा में हम पाते हैं। चूंकि उन अधिकारों की सम्यक् परिभाषा के लिए उन बहुत सी बातों का निर्णय करना होता है, जिन्हें वह प्राकृतिक न्याय के रूप में अनिर्णित ही छोड़ देता है, किंतु अरस्तू न तो इन दोनों पक्षों को अलग करने का प्रयास करता है और न प्राकृतिक (स्वाभाविक) न्याय के उन सारभूत सिद्धांतों को प्रतिपादित करता है, जिनसे वैधानिक राज्य के नागरिकों के प्राकृतिक अधिकारों को निर्गमित किया जा सके। यद्यपि यह समानता की आवश्यकता को प्रतिपादित करता है तथा उस समानता को मात्र वैधानिक नियमों के अक्षरशः पालन से प्राप्त न्याय की अपेक्षा उच्च प्रकार की मानता भी है। जब लिखित वैधानिक नियमों की शाब्दिक व्याख्या, उन विशेष अप्रत्याशित घटनाओं के सम्बंध में दी जाती है, तो वे अपने प्रयोजन की सिद्धि में असफल हो जाती हैं, तब समानता पर आधारित न्याय ही उसका निर्देशन करता है।[23]

अरस्तू की सद्गुण सम्बंधी विवेचना में आधुनिक पाठक को यह कमी सबसे अधिक खलती है कि उसने अपने लेखनों में अस्पष्ट रूप से उदारता के अपूर्ण स्वरूप के अतिरिक्त कहीं भी परोपकार का स्वतंत्र उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि किसी रूप में मानव हृदय को एक दूसरे से जोड़ने वाले मैत्री भाव की विवेचना के द्वारा इस कमी की पूर्ति करने का प्रयास किया है। यह पारस्परिक अनुग्रह चाहे अपने कठोर अर्थ में सद्गुण न हो, किंतु यह मानवीय कल्याण का अवियोज्य अंग अवश्य है। राज्य के सदस्यों को एक सूत्रता में साधने वाले के रूप में यह एक न्यायाधीश की अपेक्षा एक विधायक का विषय अधिक है। अपने सीमित एवं गम्भीर अर्थ में जिसे हमने विशेष रूप से मित्रता की संज्ञा दी है, यह मित्रता आनंद की पूर्णता के लिए आवश्यक है, यहां तक कि दार्शनिक का आनंद भी उसके बिना पूर्ण नहीं होता है। मित्रता का सही आधार अच्छा है कि पारस्परिक स्वीकृति है। यद्यपि ऐसे भी पारस्परिक सम्बंध है जो मित्रता के नाम से जाने जाते हैं, किंतु केवल (पारस्परिक) उपयोगिता या सुखोपलब्धि पर निर्भर होते हैं। किंतु इनमें सच्ची मित्रता के लिए आवश्यक लक्षण

की कमी है। सच्ची मित्रता का लक्षण दूसरे की भलाई (हित) की कामना उनकी भलाई के लिए ही करना है, इसलिए सच्ची मित्रता केवल भले लोगों में ही हो सकती है। मित्रता उनके आनंद को सहानुभूति के माध्यम से ऐसी जीवन की चेतना का विकास करते हुए पूर्ण बनाती है, जो कि स्वतः शुभ है। विशेष रूप से यह उन्हें अपने सद्‌गुणों की अपेक्षा भी वैचारिक आनंद देती है। वे यह सोचकर आनंद प्राप्त करते हैं कि योग्यतम उपलब्धियां उनकी स्वयं की है, यद्यपि अरस्तू मित्रता के आधार के इस आदर्श के विवेचन को मानवीय मैत्री की स्वाभाविक अवस्थाओं की व्यावहारिक विवेचना के द्वारा अधिक पूर्ण बनाता है।[24] उदाहरणार्थ, पैतृक सम्बंध में मित्रता बहुत कुछ शारीरिक एकता की भावना से उत्पन्न होती है। बालक के प्रति वात्सल्य भाव वस्तुतः एक प्रकार का विकसित आत्म प्रेम ही है।

नैतिक अच्छाइयों (प्रकर्षों) के विवेचन के बाद अरस्तू बुद्धि का विश्लेषण करते हैं। इस विवेचन में मुख्य प्रश्न बुद्धि के दो प्रकारों अर्थात् विमर्शात्मक प्रज्ञा और व्यावहारिक प्रज्ञा, जिन्हें प्लेटो ने एक ही प्रत्यय में मिश्रित किया है, के पारस्परिक सम्बंध का निर्धारण करना है। जैसा कि हमने देखा, अरस्तू की मान्यता यह है कि विमर्शात्मक प्रज्ञा नैतिक प्रश्नों का समाधान करने में कोई मार्गदर्शन नहीं देती है, तथापि यह उसी अर्थ में व्यावहारिक मानी जा सकती है, जहां तक कि इसका अभ्यास मानवीय क्रियाओं के सर्वोच्च लक्षण (अर्थात् बौद्धिकता) के रूप में होता है। यह मानवीय शुभ को परिभाषित तो नहीं करती है, किंतु यह उस शुभ का सर्वोत्तम अंग है। दूसरी ओर, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, यदि हम व्यावहारिक बुद्धि को नैतिक अच्छाइयों से परिपूर्ण मानें तो वह उनमें अंतर्निहित है। क्योंकि किसी भी विशेष स्थिति में भावनाओं एवं कार्य की उस समुचित सीमा, जिसमें पूर्ण सद्‌गुण निहित है, का निर्धारण व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा होता है और इसे नैतिक अच्छाई से अलग अस्तित्ववान नहीं माना जा सकता है। हम किसी व्यक्ति को केवल उसके बुद्धि-चातुर्य, जिसे एक दुराचारी व्यक्ति भी प्रदर्शित कर सकता है, के आधार प्राज्ञ (समझदार) व्यक्ति नहीं कहते हैं। वह व्यक्ति जिसे हम प्राज्ञ (समझदार) व्यक्ति मानते हैं उसे केवल साध्य के लिए साधनों को चयन करने में ही चतुर नहीं होना चाहिए तथापि अरस्तू की दृष्टि में जिससे उचित कार्य का निर्धारण होता है, उस व्यावहारिक न्याय के सामान्य स्वरूप का निर्माण करना कठिन है। वस्तुतः अरस्तू के लिए भी इस मुद्दे को सरलतापूर्वक स्पष्ट कर देना तब तक सम्भव नहीं था, जब तक कि वह जन

साधारण के विचारों और मानव जाति के व्यवहारों से, बौद्धिक कार्य सम्बंधी अपने दृष्टिकोण के गम्भीर अंतर के महत्व को स्थापित नहीं कर देता है। सद्गुणात्मक आचरण सम्बंधी दृष्टिकोण के लिए जिस तर्क की अपेक्षा है उसका एक ही रूप होगा। उसमें साध्य वाक्य किसी सद्गुण के विशिष्ट लक्षण की स्थापना करता है और एक या एक से अधिक पक्ष वाले वाक्य यह बताते हैं, कि लक्षण इन दी हुई परिस्थितियों के आचरण के रूप में होता है। चूंकि अरस्तू की दृष्टि में शुभाचरण के लिए यह आवश्यक है कि उसका साध्य उसी में निहित होना चाहिए और उसे (किसी अन्य साध्य के साधन के रूप में नहीं वरन्) स्वतः साध्य के रूप में चुना जाना चाहिए, किंतु वह उसे अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करता है कि व्यावहारिक तर्क सामान्यतया इस प्रकार का नहीं होता, अपितु व्यावहारिक तर्क में कार्य किसी बाह्य साध्य के साधन के रूप में होता है। जबकि वह विशुद्ध विमर्शात्मक जीवन की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन या राजनीतिक जीवन की निम्नता को सिद्ध करना चाहता है, तो उस समय वह उसे व्यावहारिक या राजनीतिक जीवन के लक्षण के रूप में मानने पर बल देता है। यद्यपि सामान्य बुद्धि यह स्वीकार करती है कि सद्गुण शुभों का उत्तमांश है और निश्चय ही वह यह भी स्वीकार करता है कि व्यावहारिक बुद्धि (प्रज्ञा) का उपयोग मुख्यतः उन निम्न शुभों में होता है। मैं, जिन्हें अरस्तू ने मानवीय कल्याण की उपलब्धि के लिए उपयोगी और आवश्यक मानते हुए भी अलग कर दिया था। उसका परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक बुद्धि के प्रत्यय को स्पष्ट करने के प्रयास में हम निरंतर जन साधारण के विचारों, जिन्हें पूरी तरह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है और उन आदर्श विचारों के मध्य झूलते रहते हैं, जो कि उसके नैतिक दर्शन की नींव के पत्थर के रूप में आवश्यक हैं।

संकल्प के सम्बंध में प्लेटो और अरस्तू के विचार

एक दूसरा भी पहलू है, जिसमें नैतिक कार्य और बुद्धि के संबंध के प्रश्न पर अर्थात् संकल्प की स्वतंत्रता के प्रश्न पर अरस्तू के दृष्टिकोण में आधुनिक पाठक अस्पष्टता पाता है। प्लेटो और अरस्तू-दोनों के सम्बंध में यह कहा जा सकता है कि उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के निष्कर्ष इस संकल्प की स्वतंत्रता के प्रश्न पर एक विरोधी सिद्धांत की स्थापना के लिए उन्हें बाध्य करते हैं। वे भी इस बात को स्वीकार करते हैं और (अपने सिद्धांतों में) लागू भी करना चाहते हैं। निर्धारणवाद उन्हें बुराई (के उत्तर) से बचने का

एक खतरनाक बहाना प्रतीत होता है और वे उसका खण्डन और प्रतिषेध करने की भी बहुत इच्छा भी रखते हैं, किंतु उनके मनोवैज्ञानिक सिद्धांत में नैतिक बुराई (पाप) के ऐच्छिक चयन के लिए कोई स्थान नहीं है। यह ईसाई नैतिक चेतना में बुरे संकल्प का प्राथमिक और प्रमुख तत्त्व है और इस प्रकार वे दुराचारी व्यक्ति पर उसके कार्य के प्रति समग्र एवं अंतिम उत्तरदायित्व डालने में अनिवार्य रूप से असफल हो जाती हैं। मन की वे अवस्थाएं, जिन्हें वे दुराचरण का अव्यवहित पूर्ववर्ती (कारण) मानते हैं, दो हैं?[1] पराजित बौद्धिक निर्णय पर अबौद्धिक आवेगों का वर्चस्व और बिना विचार किए ही किसी कार्य हेतु तत्पर हो जाना और 2.शुभ प्रतीत होने वाले अशुभ का गलत चयन। दोनों ही स्थितियों का जो विवरण इन दोनों विचारकों ने प्रस्तुत किया है, उससे तो कार्य पूर्व निर्धारित या नियत ही प्रतीत होता है। जैसा कि प्लेटो ने स्पष्ट कहा है कि काल की दृष्टि से परिवेश बुरे संकल्प का पूर्ववर्ती होता है और इस प्रकार बुरा कार्य अपने कारण से नियत होता है। यद्यपि यह सत्य है कि दुराचरण के अंतिम कारण की नियतता का निरसन करने के लिए प्लेटो ने स्वयं अथक प्रयास किए हैं। रिपब्लिक के अंत की एक कथा में तथा लाज में उसने दृष्टिकोण की अर्धकाल्पनिक एवं अर्द्धलोकप्रिय अभिव्यक्तियों में वह यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक आत्मा अपने दुराचरण के लिए पूर्ण उत्तरदायी है। किंतु अपने मानवीय कार्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण में प्लेटो संकल्पों को सदैव ही या तो शुभ की प्रत्याशा की बुद्धि से अथवा आवेगों अथवा क्षुधाओं की बुद्धि के प्रति अंध या अस्त व्यस्त विरोध से निर्धारित मानता है। आवेगों (वासनाओं) से निर्धारित होने की अवस्था में बुद्धि के अपूर्ण नियंत्रण की सम्पूर्ण व्याख्या विकृत आत्मा की मूलभूत रचना है और जो उन बाह्य प्रभावों के द्वारा होगी, जिन्होंने उसके विकास को प्रभावित किया है[1]। इसी प्रकार दुराचारी व्यक्ति के कार्यों की जिस 'संकल्प स्वतंत्रता' का अरस्तू विवेचन करता है वह भी उसके निर्मित चरित्र और उपस्थित बाह्य प्रभावों के द्वारा उस क्षण में होने वाले निर्धारण से मुक्त नहीं है और इसलिए आधुनिक दार्शनिक अर्थ में उसे वस्तुतः स्वतंत्र कर्तृत्व नहीं कहा जा सकता है। अरस्तू के अनुसार दुराचारी व्यक्ति जहां तक कि वह किसी संकल्पित उद्देश्य से कार्य करता है, वह उसे ही चुनेगा, जो उस समय उसे शुभ प्रतीत होगा और यह प्रतीति चाहे कितनी भ्रांत भी क्यों न हो? तथापि उस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता है। जैसा कि अरस्तू का कहना है, हम यह मान सकते हैं कि यह उसका पूर्व का अशुभाचरण ही है, जिसके कारण अशुभ भी उसे शुभ प्रतीत होता है, किंतु यह तर्क केवल तभी

तक सबल प्रतीत होता है, जब तक कि हम पूर्व दुराचरण पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं और उसके कारण की खोज करते हैं। अरस्तू के अनुसार यदि यह आचरण भी उद्देश्यपूर्ण था, तो वह भी उसी प्रकार किसी उद्देश्य से हुआ होगा जो कि शुभ प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः शुभ नहीं था और यह आभास (प्रतीति) पुनः उसके पूर्व के कारण होगा। इस प्रकार जैसे जैसे उद्देश्य पूर्ण कार्यों की श्रृंखला के प्रारम्भ की खोज करते रहेंगे संकल्प की स्वतंत्रता मृग मरीचिका के समान आगे बढ़ती रहेगी और हम कहीं भी नहीं रुक सकेंगे (तार्किक दृष्टि से यह अवस्था दोष होगा)।

यह बता देना उचित होगा कि बुरी इच्छाओं की उत्पत्ति के सम्बंध में प्लेटो के सिद्धांत में जो असंगति हम पाते हैं, वे केवल उसके सिद्धांत के नैतिक पक्ष की दृष्टि से ही है, धार्मिक पक्ष की दृष्टि से नहीं है, किंतु इस दृष्टिकोण को अपनाने में ऐसी कोई कठिनाई नहीं है कि सामान्य विचार की शुद्ध शाश्वत सत्ता में, जिसका प्लेटो ने और बाद में अरस्तू ने ईश्वरीय सत्ता से तादात्म्य किया है, न तो कोई बुराई (पाप) ही है और न उसका कोई कारण ही है, इसलिए पाप पूरी तरह से वास्तविक ऐन्द्रिक जगत् की अपरिहार्य स्थितियों में ही उत्पन्न होता है। मैं जो कहना चाहता हूं वह केवल यह कि प्लेटो संगतिपूर्ण ढंग से वैयक्तिक आत्मा में पाप (बुराई) की उत्पत्ति को नहीं मान सकता है। यदि हम यह भी कहे, जैसा कि शायद अरस्तू कहता था कि दुराचरण अपने प्रारम्भ में आवेगात्मक था और जैसे जैसे बुरी आदतें निर्मित होती गई, वैसे क्रमशः ऐच्छिक (संकल्पिक) बनता गया, तो भी यह बताना और भी सरल होगा कि अरस्तू का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कोई भी दार्शनिक संगति को प्रस्तुत नहीं करता है, जिसके आधार पर आवेगात्मक अशुभ कार्यों का उत्तरदायित्व कर्त्ता पर डाला जा सके। क्योंकि जब भी वह मध्य की उस अवस्था का विश्लेषण करता है, जिसमें अनुचित कार्य यह जानते हुए कि यह अनुचित फिर भी किया गया, तो उसकी व्याख्या यही होगी कि उस क्षण में मन में वस्तुतः ऐसा ज्ञान नहीं हुआ था। आवेग या क्षुधा के कारण वह अचेतन अवस्था में ही हो गया था।

स्टोइकवाद की ओर

सम्भवतया कुल मिलाकर अरस्तू के किसी नीतिशास्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी अधिकृत रचना नहीं मिलती है, जिसमें नीतिशास्त्र सम्बंधी प्रामाणिक और सूक्ष्म विचारों का प्रतिपादन किया गया हो। यद्यपि पाठक को यह रचना भी एक प्रकीर्ण और अपूर्ण ग्रंथ ही लगती है। आधुनिक यूरोपीय चिंतन

के निर्माण में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसके प्रभाव को हम सम्यक् प्रकार से इसी आधार पर समझ सकते हैं कि उसकी मृत्यु के पश्चात् पांच शताब्दियों तक उसके चिंतन का प्रभाव बना रहा, जबकि सुकरात की परम्परा से उत्पन्न अंध-सम्प्रदाय ग्रीक रोमन संस्कृति पर तब भी हावी थे। निस्संदेह अरस्तू के इस संक्रमणक सम्प्रदाय का सीमित प्रभाव अंशतः विशुद्ध चिंतनात्मक जीवन को उत्पेरित करने के आधार पर ही है,[25] जो कि अरस्तू के नीतिशास्त्र को दूसरे परवर्ती सम्प्रदायों से अलग करता है। उस युग में जबकि दर्शन का नैतिक प्रयोजन पुनः, महत्वपूर्ण बन गया था, यह जन साधारण की नैतिक चेतना के अत्यधिक प्रतिकूल था। पुनः, अंशतः अरस्तू की विश्लेषणात्मक सुस्पष्टता मानव की नैतिक आकांक्षा और उन सिद्धांतों के समन्वय के हेतु सुकरात के प्रयासों में उठने वाली कठिनाइयों को विशेष प्रधानता दे देती है, जिनके आधार पर जन-साधारण के परस्पर निंदा और प्रशंसा या अनुमोदन करने में सहमत होते हैं तथा जिसके द्वारा उनके व्यावहारिक तर्क सामान्यतया निष्पादित होते हैं। सहज बुद्धि के इन दो पहलुओं के बीच होने वाले संघर्ष का निवारण बहुत ही गम्भीर था और मनुष्य जाति की नैतिक चेतना अरस्तू की अपेक्षा भी इसके प्रभावशाली समर्थन की अपेक्षा करती है। उसकी इस मांग की पूर्त्ति एक सम्प्रदाय के द्वारा की गई, जिसने जीवन के नैतिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण का कल्पना की पहुंच से पूर्णतः और निश्चितता के साथ अलग कर दिया और जो व्यावहारिक अच्छाई को मनुष्य की आदर्श प्रज्ञा का सर्वोच्च परिणाम और अभिव्यक्ति मानता है, साथ ही जो सम्पूर्ण मानवीय जीवन को समाविष्ट करने वाले तथा नियमबद्ध विश्व प्रक्रिया के साथ उसके सम्बंध को अभिव्यक्त करने वाले सिद्धांत के द्वारा कर्त्तव्य के सामान्य प्रत्यय को स्पष्ट रूप से एक सम्पूर्ण एवं संगतिपूर्ण सिद्धांत के साथ बांधता है। उस पोर्च, जिसमें इसके मूल संस्थापक[26] झेनो सदैव उपदेश दिया करते थे, के नाम पर यह सम्प्रदाय स्टोइक इसीलिए कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के नैतिक सिद्धांतों का बौद्धिक उद्गम सिद्धांततः सिनिक्स के माध्यम से सुकरात तक खोजा जा सकता है। यद्यपि इनके दर्शन का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसे अकादमीय-सम्प्रदाय के प्रथा का परिणाम माना जा सकता है। स्टोइक और सिनिक दोनों ही इस मौलिक सिद्धांत को सूक्ष्मता के साथ प्रतिपादित करते हैं कि मात्र यह व्यावहारिक बुद्धि ही है, जिसका वे सद्गुण से तादात्म्य करते हैं और जो आत्मा की ही एक स्थिति है या उसके अंतर्गत है [27]। यही मानवीय कल्याण के लिए पर्याप्त है। यह सत्य है कि सिनिक्स वैराग्यमय

कल्याण के निषेधात्मक पहलू पर अधिक बल देते हैं, जो वैराग्ययुक्त कल्याण शारीरिक स्वास्थ्य एवं शक्ति, सुंदरता, सुख, सम्पत्ति, उत्तम जन्म और यज्ञ (समर्पण) कीर्ति की उपलब्धि से स्वतंत्र हैं, जबकि स्टोइक कल्याण के विधायक पहलू को अधिक महत्व देते हैं। उनके अनुसार दृढ़ कष्ट सहिष्णुता (दुःखों से आत्मशांति का भंग नहीं होना) प्रसन्नता और आध्यात्मिक आनंद प्रज्ञा की उपलब्धि से अनिवार्यतया प्राप्त हो जाते हैं, यद्यपि यह अंतर सिनिक्स और स्टोइक विभेद का आधार नहीं है। वस्तुतः स्टोइक भी भौतिक आवश्यकताओं की सीमा रेखा को कठोरतापूर्वक कम से कम करने की सिनिक मान्यता का जन साधारण की इच्छाओं और दार्शनिक लक्ष्यों के मूलभूत विरोध को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने का विचार किए बिना ही समर्थन करते हैं, जो कि न तो आवश्यक है, न स्वाभाविक ही, तो भी विशेष परिस्थितियों में मनीषियों के द्वारा लाभप्रद रूप से अपनाया जा सकता है।[28]

स्टोइकवाद (निर्विकार मनीषी)

तब वह ज्ञान या प्रज्ञा जो कि मनुष्य को पूर्ण और स्वतंत्र बनाती है, इस बात में निहित है और जिस पर सिनिक और स्टोइक-दोनों ही इस बात में सहमत हैं, वही महत्त्वपूर्ण तथ्य है, जिसके आधार पर विवेकशील और अविवेकशील में अंतर किया जा सकता है और वह इस स्वीकृति पर निर्भर है कि मनुष्य का सम्पूर्ण शुभ ज्ञान अथवा प्रज्ञा में ही निहित है। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि स्टोइक और सिनिक भी सुकरात के समान ही यह मानते हैं कि शुभ का ज्ञान जीवन में शुभ की उपलब्धि से भिन्न नहीं हो सकता है, यद्यपि वे यह मानते हैं कि ऐसे जीवन की समयावधि अधिक महत्वपूर्ण नहीं होती है। कोई भी व्यक्ति, जिसने एक क्षण के लिए भी पूर्ण प्रज्ञा की उपलब्धि कर ली है, वह मानवीय कल्याण की पूर्णता को प्राप्त कर लेगा। उस अलगाव के पश्चात्, जिसे प्लेटो से अरस्तू के विचारों की ओर बढ़ते हुए देखा था, स्टोइक का पुनः सुकरात की और लौटना बहुत ही ध्यान देने योग्य है। यह उनके मनोविज्ञान में बौद्धिक आत्मा की एकता पर दिए गए बल पर निर्भर है। यह बौद्धिक आत्मा ही मानवीय चेतन क्रियाओं का मूल स्रोत है। यह बौद्धिक आत्मा की एकता ही उन्हें कार्यों की प्रेरणा के उस प्लेटोवादी विश्लेषण को स्वीकार करने से रोकती है, जिसमें कि कार्यों की प्रेरणा का विश्लेषण, नियामक तत्त्व और वह तत्त्व, जिसके नियमन की आवश्यकता है, के

आधार पर किया गया है। वे यह मानते हैं कि जिसे हम कहते हैं, वह भी उस बौद्धिक आत्मा की ही रूग्ण एवं विकृत अवस्था है, जो श्रेय क्या है और अश्रेय क्या है? इसके सम्बंध में गलत निर्णय देती है। इन्हीं आवेगात्मक भ्रांतियों से एक सच्चे प्राज्ञ मनुष्य को मुक्त होना चाहिए। वस्तुतः प्राज्ञ व्यक्ति भौतिक क्षुधाओं के प्रलोभन के प्रति सजग होगा, किंतु वह उन्हें वास्तविक शुभ का विषय मानने की गलती नहीं करेगा और इसलिए वह उन वस्तुओं की उपलब्धि की आशा अथवा उनकी अनुपलब्धि के भय से ग्रस्त नहीं होगा, क्योंकि इन आवेगों में यह भाव निहित है कि वे ही शुभ हैं। इसी प्रकार यद्यपि वह दूसरे मनुष्यों के समान ही दैहिक दुःखों से युक्त हो सकता है, किंतु वे शारीरिक दुःख उसे मानसिक दुःख अथवा पीड़ा नहीं देंगे। बड़ी से बड़ी वेदना भी उसकी इस स्पष्ट मान्यता को विचलित नहीं कर सकती है कि वे शारीरिक दुःख सच्ची बौद्धिक आत्मा से पृथक् हैं। ये सभी विषय, जो कि सामान्यतया मनुष्य की आकांक्षा, भय एवं हर्ष-विषाद के भाव को उत्तेजित करते हैं, वे एक मनीषी में इन अवस्थाओं को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह उन विषयों को वस्तुतः शुभ या अशुभ नहीं मानता है, इसलिए हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि मनीषी पूर्णतया संवेगों से रहित व्यक्ति हैं, उनमें भी वास्तविक शुभ की उपलब्धि की समुचित गौरव भावना होती है तथा बुद्धि जिसे वरेण्य अथवा हेय बताती है[29], उसके प्रति आकर्षण (राग) अथवा विकर्षण (द्वेष) होता है। किंतु वे वासनाएं, जिनके प्रति साधारण मनुष्य के मन में लगाव होता है उन्हें प्रभावित नहीं करती है। किंतु ऐसे वासना से रहित, शांत एवं निरावेगी मनीषी सांसारिक मनुष्यों में कठिनता से ही पाए जाते हैं, इस तथ्य को परवर्ती स्टोइक विचारक भी स्वीकार करते थे। उन्होंने यह माना था कि प्राचीन युग के एक या दो महान् नैतिक व्यक्तियों ने इस आदर्श को उपलब्ध किया था, किंतु इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं किउन महान् पुरुषों के अतिरिक्त भी सभी दार्शनिक उस आदर्श की दिशा में प्रगति की ओर उन्मुख हैं। यद्यपि उनकी यह स्वीकृति प्रज्ञा के व्यापक दावों के प्रति उनकी पूर्ण श्रद्धा की धारणा को समाप्त नहीं करती है। उस प्रज्ञा में निहित उसके विशिष्ट मूल्य की आस्था ही उन लोगों के लिए दृढ़ निष्ठा का आधार है, जिन्होंने उसे उपलब्ध किया है[30]। इस आस्था के अभाव में कोई भी कार्य विवेकयुक्त या सद्गुणात्मक नहीं हो सकता है। ज्ञान का अभाव ही पाप है और उचित और अनुचित का अंतर निरपेक्ष है। यह मात्रा का अंतर नहीं है। सभी पाप समान ही है, यदि कोई छोटी सी आज्ञा का भी उल्लंघन करता है, तो वह समग्र नियम को तोड़ने का

दोषी है। इसी प्रकार प्रज्ञा की किसी एक अभिव्यक्ति में भी, जिसे सामान्यतया किसी विशेष सद्गुण के रूप में जाना जाता है, सम्पूर्ण प्रज्ञा सम्मिलित रहती है। स्टोइकी ने भी विशेष सद्गुणों के वर्गीकरण की अपनी योजना के आधार के लिए प्लेटो के चतुर्विध विभाजन को ही स्वीकार किया है। यद्यपि ये सद्गुण एक-दूसरे से भिन्न हैं या उनमें वही प्रज्ञा विभिन्न सम्बंधों में उपस्थित रहती है?इस सूक्ष्म प्रश्न पर वे सहमत नहीं होते हैं।

स्टोइकवाद में संकल्प की स्वतंत्रता और निर्धारण

क्या इस दुर्लभ और अमूल्य प्रज्ञा की उपलब्धि मनुष्य के लिए सम्भव है? अथवा क्या मानवीय कमजोरियां वस्तुतः अनैच्छिक हैं? बुराइयां अनैच्छिक हैं, इस सिद्धांत में नैतिक उत्तरदायित्व के लिए एक स्पष्ट खतरा निहित है। बुराई की अनेच्छिकता का यह सिद्धांत सुकरात के ज्ञान और सद्गुण के तादात्म्य का स्वाभाविक निगमन प्रतीत होता है, इसीलिए जैसा कि हमने पूर्व में देखा था, अरस्तू ने भी इस सिद्धांत के निरसन के लिए प्रयत्न किया था और अपने इस प्रयास में उसने इस विरोधाभास को समाप्त करने में निहित गम्भीर कठिनाइयों को इंगित किया था। जहां तक यह मान लिया जाता है कि कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे ऐच्छिक उद्देश्य की उपलब्धि के विरोध में भी कार्य कर सकता है, जो कि उसे उचित प्रतीत होता है। अरस्तू का सुकरात से मतभेद भी उसे इस धारणा को अस्वीकार करने की दिशा में नहीं ले जा सका, जबकि स्टोइक के लिए, जो कि मूलभूत सुकरातीय स्थिति की ओर लौटे हैं यह कठिनाई और अधिक स्पष्ट हो गई है। वस्तुतः जो दार्शनिक यह मानता है कि सद्गुण ही ज्ञान है, उसे इस विरोधाभास के दो विकल्पों में से एक को चुनना होता है। उसे या तो यह मानना पड़ेगा कि बुराई अनैच्छिक है या यह मानना पड़ेगा कि अज्ञान ऐच्छिक है। इस उभयतोपाश का यह दूसरा पहलू नैतिकता की दृष्टि से किसी सीमा तक कम खतरनाक है और इसीलिए स्टोइक्स ने इसे चुना है, किंतु वे भी अपनी उलझनों से नहीं बच सके और इस प्रकार विचार के दूसरे ओर मानवीय संकल्प की सीमा की अति व्यापकता की ओर चले गए। उनके भौतिक विश्व के दृष्टिकोण में भी उतना ही कट्टर निर्धारणवाद आ जाता है। यदि किसी व्यक्ति की बुराइयां पूरी तरह पूर्व निर्धारित हैं, तो ऐसा पापी व्यक्ति कैसे उत्तरदायी होगा? स्टोइकों ने उसका उत्तर यह दिया है कि यह भ्रांति, जो कि दुराचरण का सार है, इस सीमा तक ऐच्छिक है कि यदि व्यक्ति अपनी बुद्धि का उपयोग करता तो उसे दूर किया जा सकता था। निःसंदेह यह

व्यक्ति आत्मा की आंतरिक शक्ति और दृढ़ता पर निर्भर है[31] कि उसकी बुद्धि का ऐसा प्रभावपूर्ण उपयोग किया जा सके, किंतु नैतिक उत्तरदायित्व का अनुरक्षण इस आधार पर माना गया कि अनुचित कार्य किसी अन्य बाह्य कारण से नहीं, वरन् व्यक्ति स्वयं से ही प्रारम्भ होता है।

स्टोइक प्रज्ञा और प्रकृति

इस सबके आधार पर हमें स्टोइक प्रज्ञा के व्यावहारिक विधायक तथ्यों के निर्धारण का एक रास्ता प्राप्त हुआ है। हम उस निष्फल वृत्त से किस प्रकार ऊपर उठें कि (1) प्रज्ञा ही सम्पूर्ण अशुभ है और (2) प्रज्ञा शुभाशुभ या ज्ञान है? हम शुभ आचरण के विभिन्न घटकों का निर्धारण करने के लिए कौनसी पद्धति अपना सकते हैं? स्टोइक वाद और सिनिकवाद-दोनों ही अपने सिद्धांतों को पूर्णता देने के लिए किसी ऐसी पद्धति की अपेक्षा करते हैं, क्योंकि दोनों ही सम्प्रदाय यह मानने को तैयार नहीं थे कि मनीषी जो कार्य करने का संकल्प लेते हैं, वह उतना निष्काम होता है, जितना कि जब किसी काम को आ पड़ने पर उदासीन भाव से किया जाता है। शर्त यह है कि वह उस निष्कामता की पूरी जानकारी रखकर कार्य करे, तथापि सिनिकों ने इस आवश्यकता के लिए कोई दार्शनिक प्रावधान नहीं किया है। वे सद्गुण का वही अर्थ समझकर संतुष्ट हैं, जो कि साधारण व्यक्ति समझता है, फिर भी उनका स्वतंत्रता का विचार उन्हें उपलब्ध पूर्वाग्रहों और नियमों के निरसन की ओर ले गया। दूसरी ओर स्टोइकों ने न केवल कर्तव्यों के विस्तृत विवरण के लिए ही कार्य किया, अपितु उन्हें एक सामान्य सिद्धांत के अंदर समन्वित करने के लिए भी विशेष प्रयत्न किया। जीवन के सभी अवसरों के लिए संयोग मिल जाते हैं और वे अनुकूल बन जाते हैं[32]। उन्होंने इसे किसी सामान्य सूत्र के आधार पर समझने का विशेष प्रयत्न किया था। उन्होंने यह कार्य प्रकृति के प्रत्यय के विधायक अर्थ के माध्यम से किया। सिनिको ने प्रमुखतया उन परम्पराओं के विरोध के रूप में, जिनसे वे अपने ज्ञान के द्वारा स्वतंत्र हुए थे इसका निषेधात्मक रूप में उपयोग किया। प्रकृति के प्रत्यय के इस निषेधात्मक उपयोग में भी यह बात निहित है कि मनुष्य में जो सृजनात्मक प्रवृत्तियां है, वे स्वाभाविक है, अर्थात् वे सामाजिक परम्पराओं और रूढ़ियों से स्वतंत्र और अदूषित हैं और अभिव्यक्त कार्यों में अपना सम्यक् प्रभाव डालती हैं, किंतु यह प्रतीत होता है कि बाल आचरण के लिए एक सामान्य सिद्धांत के रूप में प्रकृति के अनुरूप जीवन की स्वीकृति झेनो की अकादमी की शिक्षाओं के प्रभाव के

फलस्वरूप ही हुई। यद्यपि जो प्राकृतिक है, वही प्रामाणिक है, यह कैसे हो सकता है? जब तक कि प्रकृति, जिसकी कि व्यवस्थित सृष्टि का मनुष्य एक भाग है, स्वयमेव किसी रूप में बौद्धिक न हो या दैवीय नियम और प्रज्ञा की अभिव्यक्ति न हो अथवा उसका मूर्त रूप न हो? दैवीय विचारों से युक्त एवं संयोजित सृष्टि की धारणा किसी न किसी रूप में उन सभी दर्शनों में पाई जाती है, जो कि सुकरात को अपने विचार परम्परा का प्रवर्तक मानते हैं। इन दार्शनिकों का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग इस दृष्टिकोण को स्वीकार करता है कि यह दैवीय विचार ही इस विश्व की वास्तविक सत्ता है यह सर्वेश्वरवादी सिद्धांत स्टोइको के मानवीय सुख से पूरी तरह संगत है, किंतु वे द्रव्य को आध्यात्मिक रूप में स्वीकार करने में अक्षम हैं - यह मानकर दैवीय विचार प्राथमिक एवं विशुद्ध अत्यंत सूक्ष्म आग्नेय शक्तिरूपी भौतिक द्रव्य का ही एक कार्य है, वे अपने सर्वेश्वरवाद का भौतिक पक्ष प्रस्तुत करते हैं, जिसे उन्होंने हेराक्लाइट्स के सिद्धांत से ग्रहण किया है। वे यह मानते हैं कि भौतिक विश्व ज्यूस से विकसित हुआ है। वस्तुतः यह विश्व उस शाश्वत द्रव्य का रूपांतरण है, जिसमें अंततः वह उत्पन्न होकर पुनः मिल जाएगा। शाश्वत द्रव्य ज्यूस की दैवीय आत्मा की निर्मात्री शक्ति से चारों ओर से घिरा हुआ है और उसके दूरदर्शी नियमों के द्वारा पूर्णतया व्यवस्थित है।[33]

विश्व के इस प्राथमिक तत्त्व को अपने भौतिक पक्ष की दृष्टि से मूलतः एक बहुत ही अधिक लोचपूर्ण पिण्ड माना गया था, जो कि बाद में घनीकरण के परिणाम स्वरूप असमान घनत्व और दबाव के चार तत्त्वों में विभाजित हो गया। सद्गुण के दूसरे इंद्रियानुभव से ज्ञातगुणों की व्याख्या पृथ्वी और पानी में और कुछ स्थितियों में आग और हवा में भी - ये दोनों तत्त्व सूक्ष्म और लोचपूर्ण है। विभिन्न दबाव की ईथर की धारा के प्रवाह के आधार पर की गई सबसे अधिक बेतुकी वैचारिक अस्पष्टता हमें यह लगती है कि ईथर प्रवाहों के अथवा अरस्तू की भाषा में कहें तो इन आकारों के मिलने से भिन्न-भिन्न प्रकार के अथवा अर्द्ध भिन्न प्रकार के पदार्थों की रचना हुई। इस प्रकार विश्व मूलतः दैवीय है और समग्र रूप से अपनेआप में पूर्ण है। इसके विभिन्न विभागों में जो कमियां दिखाई देती हैं उन्हें उस परम प्रज्ञा की दृष्टि से क्षणिक ही मानना चाहिए। वे यह बताती हैं कि कैसे विषमताओं को सम, अव्यवस्थित को सुव्यवस्थित और अप्रिय को प्रिय किया जाता है[34]। भौतिक विश्व के इस ईश्वर परक दृष्टिकोण का स्टोइक नीतिशास्त्र पर दोहरा प्रभाव पड़ा। इससे प्रथम तो उनकी यह

मान्यता बनी है कि मानवीय कल्याण के लिए प्रज्ञा पूर्णतया सक्षम है, जो कि ब्रह्माण्डीय सत्ता का मूल है और दूसरे इसमें धार्मिक एवं सामाजिक भावनाओं के लिए एक वातावरण प्रस्तुत किया है। प्रज्ञा की साधना (अभ्यास) को ईश्वरीय द्रव्य के एक अंश के विशुद्ध जीवन के रूप में माना गया है। वस्तुतः यह सत्य है कि वस्तुतः व्यक्ति में ईश्वर है। बुद्धि, जिसकी सर्वोच्चता को उन्होंने स्वीकार किया था, वह ज्यूस की, सभी देवताओं की और बौद्धिक मनुष्यों की बुद्धि थी, जो उनकी अपनी बुद्धि की अपेक्षा कम नहीं थी। इस प्रकार उस बुद्धि (प्रज्ञा) की किसी एक व्यक्ति में उपलब्धि (सिद्धि) भी सभी बौद्धिक प्राणियों का सामान्य शुभ था। एक सत या मनीषी अपनी एक अंगुली को भी सम्यक् या उचित रूप से नहीं पसार सकता है यदि उस प्रसारण से दूसरे सभी मनीषियों को कोई लाभ नहीं होता है और न वह यह कह सकता है कि वह ज्यूस के लिए उसी प्रकार उपयोगी है, जैसाकि ज्यूस उसके लिए उपयोगी है। हम यह जानते हैं कि बौद्धिक प्राणियों की बुद्धि की इस एकता की धारणा में मित्र तथा अच्छी संतान का होना भी मनीषी का एक बाह्य शुभ माना गया है। पुनः, इसी बुद्धि की एकता के प्रत्यय से मानवीय जीवन के उच्च एवं भिन्न पक्षों में समन्वय करने का प्रयास किया गया है। इससे इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि अबौद्धिक मनुष्य भी अपनी मूल रचना की दृष्टि से देवी कृति है। उसकी चेतन क्रियाओं में निहित बौद्धिक संकल्प ही इसका संकेत है। वस्तुतः, मानवीय जीवन की प्रथमावस्था में, जब तक कि बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं होता है, प्राकृतिक आवेग ही हमारा निर्देशन करते हैं, बाद में बुद्धि निर्देशन का कार्य करने लगती है। इस प्रकार प्रकृति के अनुरूप जीवन जीने का सिद्धांत जब मनुष्यों को एक बुद्धिमान् प्राणी मानकर लागू किया जाता है तो उस स्थिति में इसे दो रूपों में समझा जा सकता है? एक तो यह कि बुद्धि को शासन करना है, दूसरा यह कि शासन व्यावहारिक रूप में किस प्रकार किया जाए। दूसरे प्राणियों के समान ही मनुष्य में उसके जन्म से ही प्राकृतिक आवेग आत्मरक्षण के लिए एवं शारीरिक स्थिति को अपनी मौलिक एकता में बनाए रखने के लिए तत्पर रहते है। जब बुद्धि का विकास हो जाता है और जब बुद्धि अपने को अपने सम्पूर्ण शुभ के रूप में जान लेती है, तब भी ये प्राथमिक प्राकृतिक साध्य (आवश्यकता) और इनके प्रत्येक के बाह्य विषयों के रूप में बने रहते हैं, जिन्हें बुद्धि अपना लक्ष्य बनाती है। बुद्धि उसी अनुपात में इन्हें अपना लक्ष्य बनाती है, जिस अनुपात में इन्हें वरण किया जाता है और इनके विरोधी का निरसन किया जाता है। इनका अपना कुछ मूल्य भी है। वस्तुतः

इस 'चयन' या अस्वीकृति के यथोचित सुसंगत अभ्यास में ही प्रज्ञा की व्यावहारिक उपयोगिता प्रकट होती है। इसी आधार पर स्वास्थ्य, शक्ति सम्पत्ति और सम्मान[35] आदि सभी या अनेकों चीजे सामान्यत शुभ मानकर मांग ली जाती हैं और वे मनीषी के चयन के सीमा क्षेत्र में आ जाती हैं। यद्यपि व्यक्ति का वास्तविक शुभ पूर्णतया चयन करने वाली प्रज्ञा में ही निहित रहता है, चयन की जाने वाली वस्तु में नहीं, जिस प्रकार कि एक धनुर्धारी चिड़िया की आंख को अपना लक्ष्य तो बनाता है, किंतु वह लक्ष्य उसका साध्य नहीं होता है, उसका साध्य तो उसका वैध करके[36] अपनी कला का प्रदर्शन करना होता है।

उपरोक्त अंतर की उदाहरण सहित व्याख्या हमें स्टोइको की व्यावहारिक शिक्षाओं के एक उदाहरण में मिलती है। यह उदाहरण है उनके द्वारा आत्महत्या को दिया गया प्रोत्साहन। उनके द्वारा आत्महत्या के लिए दिया गया यह प्रोत्साहन आधुनिक पाठक को कभी कभी उलझन में डाल देता है। प्रथमतया सहनशीलता सद्‌गुण उनकी अनुशंसा और संसार की दैवीय व्यवस्था में उनके विश्वास से तुलना करने पर हमें इसे असंगत पाते हैं। मनुष्य सामान्यतया दुःखों से उबकर आत्महत्या की ओर प्रवृत्त होता है, किंतु एक मनीषी जिसके लिए दुःख कोई बुराई नहीं है, कैसे दैवीय प्रज्ञा के द्वारा प्रदत्त अपने पद को छोड़कर आत्महत्या की ओर अग्रसर हो सकता है? इस सम्बंध में स्टोइको का उत्तर यह है कि यद्यपि दुःख बुराई नहीं है, किंतु फिर भी यदि दुःखरहित अवस्था सम्यक् तथा प्राप्तव्य है तो दुःख वह विकल्प है जिसका निरसन किया जाना है। दूसरी ओर प्रज्ञा की दृष्टि से भी जीवन शुभ नहीं है यद्यपि जीवन का रक्षण सामान्यतया अच्छा माना जाता है किंतु ऐसे अवसर भी आते हैं जब मनीषी को अभ्रांत एवं स्वाभाविक रूप से ऐसा लगता है कि जीवन की अपेक्षा मृत्यु ही वरेण्य है। स्टोइक मानते हैं कि ऐसा बोध विकलांगता, असाध्य रोग और घोर विपत्तियों यहां तक कि अत्यधिक पीड़ा की अवस्था में भी होता है। यदि ऐसा बोध स्पष्ट है तो प्रकृति या ईश्वर के (आत्महत्या) इन निर्देशनों के पालन में बुद्धि और शक्ति की अभिव्यक्ति उतनी ही उचित होगी, जितनी दूसरे अवसरों पर सुख एवं दुःख के प्रलोभनों का प्रतिरोध करने में होती है।

अभी तक हमने मनुष्य की प्रकृति के सम्बंध में उसके सामाजिक सम्बंधों से अलग हटकर विचार किया है, किंतु यह स्पष्ट है कि सद्‌गुणों का क्षेत्र तो सामान्यतया इन्हीं मानवीय सामाजिक सम्बंधों में रहा हुआ है और यह बात स्टोइकों

के कर्त्तव्यों के विवरणों में पूरी तरह स्वीकार की गई है। वस्तुतः उनके द्वारा न्याय के स्वाभाविक सिद्ध करने का आधार यह है कि मनुष्य की मानसिक एवं दैहिक संरचना में इस बात के प्रमाण हैं कि उसका जन्म स्वयं के लिए नहीं वरन् मनुष्य जाति के लिए हुआ है। स्टोइकों की रचनाओं में व्यावहारिक नैतिकता के सम्बंध में महत्वपूर्ण विवेचन मिलता है। तथापि यहां हमें मुख्य रूप से स्वाभाविक शब्द के दो अर्थ दिखाई देते हैं प्रथम अर्थ यह है कि जिसका अस्तित्व वस्तुतः सभी जगह या अधिकांश भाग में है और दूसरा अर्थ यह है कि जो अस्तित्व बना लेगा यदि मनुष्य के जीवन की मूलभूत योजना का पूरी तरह पालन किया जाता है। हम देखते हैं कि स्टोइकों ने इन दो पहलुओं के मध्य स्पष्ट समन्वय करने का कोई प्रयास नहीं किया है। अरस्तू ने हमें बताया था कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से एक राजनीतिज्ञ प्राणी है। स्टोइकों के 'स्वभाव' के आदर्श दृष्टिकोण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य विश्व-बंधु है, क्योंकि यह एकीकृत दृष्टिकोण उनकी विश्व की मान्यता का सीधा निष्कर्ष था। सभी बौद्धिक प्राणियों में निहित समान बुद्धि के आधार पर समानता है और वे स्वाभाविक रूप से सामान्य नियम से युक्त एक समाज की रचना करते हैं। उनका कथन है कि ज्यूस के इस नगर (विश्व) के सभी सदस्यों को अपने संविदाओं का पालन करना चाहिए, व एक-दूसरे का नुकसान नहीं करना चाहिए, परस्पर हानि से बचाने के लिए एकता से रहना चाहिए आदि। ये कथन स्पष्टतया स्वाभाविक नियम को अभिव्यक्त करते हैं। पुनः, यह भी आवश्यक माना गया कि मानव समाज के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उसके सदस्य आपस में लैंगिक सम्बंध रखें, संतान उत्पन्न करे और संतान की शिक्षा-दीक्षा एवं पालन पोषण की चिंता करें, किंतु मानव स्वाभाविक काम प्रवृत्ति से ऊपर उठकर लैंगिक सम्बंधों के निर्धारित करने का कोई प्रयत्न नहीं करते हैं। इस प्रकार हम झेनो में भी प्लेटो के समान ही पत्नी-समुदाय की धारणा पाते हैं। जो कि झेनो के (काल्पनिक) आदर्श राष्ट्र मंडल की एक विशेषता थी। दूसरे स्टोइक भी उसकी इस मान्यता को स्वीकार करते रहे और परम्परागत लैंगिक नैतिकता के नियमों की रूढ़िवादिता और सापेक्षिकता की कटु एवं विरोधाभासपूर्ण आलोचना करते रहे। पुनः यह सम्प्रदाय कठोरतापूर्वक इस बात को भी मानता था कि सिवाय मनीषियों के शासन के कोई भी नियम सही या बंधनकारक नहीं है। मनीषी ही सच्चा शासक या राजा है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्टाइकों की प्रकृति भी रूसो की प्रकृति के समान ही क्रांतिकारी होने का खतरा उठाती है, तथापि व्यवहारिक रूप में उसका यह

विद्रोहात्मक पक्ष अधिकांशतया पृष्ठभूमि में ही रखा गया है। एक आदर्श समाज का बौद्धिक-नियम, विधायक-अध्यादेशों और यथार्थ समाज के रीतिरिवाजों से अविरोध पूर्वक एवं अभिन्न रहा है। प्रत्येक व्यक्ति को परिवार, जाति, मातृभूमि और सामान्यतया दुर्बल व्यक्ति, मानवों को आपस में बांधने वाले स्वाभाविक बंधन की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी और उसके आधार पर न्याय की बाह्याभिव्यक्ति का रेखांकन किया गया था। पुनः हम स्टाइको के सामाजिक मर्यादा सम्बंधी कर्तव्यों के दृष्टिकोण में और लोकमान्य धर्म के प्रति उनकी अभिवृत्ति में, जो अस्वभाविक रूढ़िग्रस्तता है, उसके निराकरण की प्रवृत्ति तथा जो स्वभाविक एवं प्रचलित है उसके रक्षण की प्रवृत्ति के बीच एक लचीला समन्वय पाते हैं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति अपने-अपने ढंग से प्रकृति के अनुकूल जीवन के सिद्धांत के प्रति अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त करती है।

स्टोइक एवं सुखवादी

जिन्हें व्यक्ति की बुद्धि प्राथमिकता देती है, उन प्राकृतिक साध्यों में स्टोइक शारीरिक दुःखों से मुक्ति का भी समावेश करते हैं, किंतु बुद्धि के इस व्यावहारिक क्षेत्र में भी उन्होंने सुख को कोई स्थान देने से इंकार कर दिया। उनकी मान्यता है कि 'सुख' निर्दोष प्राकृतिक आवेग का विषय नहीं है, किंतु प्राकृतिक आवेगों के द्वारा अपने साध्यों की उपलब्धि का परिणाम है अथवा उनका परवर्ती विकास है। इस प्रकार ये इपीक्यूरीयनवाद का इस आधार पर भी विरोध करने का साहस करते है कि सभी प्राणी स्वभावतया सुखापेक्षी हैं। इपीक्यूरीयनवाद प्रत्यक्षतः इसी पर बल देता है। उनके अनुसार सुख का अर्थ मात्र शारीरिक क्षुधाओं की पूर्त्ति भी नहीं है। उदाहरणार्थ क्रिसीपस अरस्तू के विरोध में यह निर्णायक तर्क देते हैं कि विशुद्ध चिंतन भी एक प्रकार का मनोरंजन है अर्थात् सुख है। उनके अनुसार सद्गुणात्मक आचरण से होने वाली प्रफुल्लता और प्रसन्नता भी कल्याण (शुभ) का आवश्यक अंग नहीं है, अपितु मात्र उनका अवियोज्य गौण गुण है। इस प्रकार परवर्ती संशोधन[37] के द्वारा स्टोइकवाद में प्रसन्नचित्तता या मानसिक शांति को यथार्थ परम साध्य मान लिया गया और सद्गुणात्मक आचरण को केवल उसका साधन बताया गया। झेनो के दर्शन के अनुसार इस साध्य की उपलब्धि उस भावना में नहीं, जो कि उसे प्राप्त करती है वरन् उस शुभ संकल्प में है जो कि सम्यक् जीवन का सारतत्त्व है। चूंकि किसी भी प्रकार की सुखद अनुभूति में सदैव कल्याण के मुख्य तत्त्व का समावेश होता है। प्राज्ञ व्यक्ति की सद्गुणात्मक आनंद की

प्रशांत मनः स्थिति और कठिनतम दुःखों में मन की निराकुलता अधिकांश लोगों के लिए स्टोइकवाद का प्रमुख आकर्षण रही है।

इस प्रकार हम यह भलीभांति कह सकते हैं कि एक ही प्रकार के 'आनंद' के लिए स्टोइको एवं इपीक्यूरीयनो ने मानव जाति को परस्पर विरोधी विचार दिए है। फि र भी जीवन में आने वाले परिवर्तनों एवं संयोगों से ऊपर उठकर मन की शांत स्थिति के लिए अपेक्षित (मानसिक) स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए, इच्छा की दार्शनिक विशेषता दोनों ही विचारधाराओं में समान रूप से पाई जाती है। यद्यपि स्टोइक इस सम्बंध में अधिक सबल दावा प्रस्तुत करते हैं,[38] उनके आदर्श मनीषी का शुभ (कल्याण) न केवल बाह्य वस्तुओं और शारीरिक स्थितियों से ही स्वतंत्र है, वरन्-काल की सीमा रेखा से ऊपर भी है। मात्र प्रज्ञा के अभ्यास में ही इस शुभ की सम्पूर्ण सिद्धि निहित है। उसे कालावधि के आधार पर बढ़ाया नहीं जा सकता है। यद्यपि यह विरोधाभास तीव्र है, किंतु यह स्टोइकवाद की आत्मा के साथ पूर्ण संगति रखता है। हम यह जानकर और भी अधिक आश्चर्यचकित होते हैं कि इपीक्यूरीयन मनीषी भी स्टोइक मनीषी के समान ही संकटों में भी आनंदित होगा। उसका आनंद भी पूरी तरह से अंतर्दृष्टि और सम्यक् विचार पर निर्भर रहता है। भाग्य का उसके साथ कुछ भी सम्बंध नहीं है, उसका मन जीवन की स्वाभाविक सीमाओं को जान चुका होता है, अतः वह समय की सीमितता में भी अक्षुण्ण रहता है। इस प्रकार संक्षेप में मानवीय अस्तित्व की स्थितियों से अपूर्णता का निरसन करने में इपीक्यूरियस भी झेनो से कोई कम कठिन प्रयास नहीं करते हैं। यही विशेषता इपीक्यूरीयनवाद और अरिस्टीपास के स्थूल सुखवाद के मुख्य अंतर की कुंजी है। स्थूल सुखवाद मनुष्य के परम साध्य को गवेषणा का अत्यंत सरल एवं स्पष्ट उत्तर देता है। किंतु इसके अतिरिक्त जब वह अबाध गति से एवं समान रूप से विकसित होता है, तो सामान्य नैतिक चेतना पर आघात करने के लिए उत्तरदायी होता है, वह (नैतिकता की) रक्षा करने में एवं उसे पूर्णता प्रदान करने में सर्वसम्मति से असफल हो जाता है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है 'मनुष्य का दैवीयकरण ही उसका शुभ है।[39]

ग्रीक दृष्टिकोण में दर्शन को शुभ जीवन के विज्ञान के साथ ही साथ शुभ जीवन जीने की कला भी मान लिया गया था और सुखवादी दर्शन सुख को साधारण अर्थ में ग्रहण करने पर सुख प्राप्ति की अनिश्चित एवं अनाचाही कला ही सिद्ध करती है। दार्शनिक चिंतन की प्रवृत्ति चिंतक की आत्म चेतनता के विकास द्वारा अक्सर इस

सुख के साध्य की उपलब्धि के विरोध में ही जाती है, ताकि बाह्य वस्तुओं के उस सामान्य सम्बंध को, जिस पर साधारण सुखों की रुचि निर्भर रहती है, समाप्त किया जा सके, इसीलिए हम पाते हैं कि सिरेनिक सम्प्रदाय के परवर्ती विचारक स्वतः ही इस मौलिक धारणा में परिवर्तन करने के लिए बाध्य हुए। थिजोडोरस ने शुभ को केवल सुख से भिन्न प्रज्ञा पर आधारित प्रसन्नता के रूप में परिभाषित किया। जबकि हेगेशिअस ने दावा किया कि आनंद अप्राप्य है और बुद्धि (प्रज्ञा) का मुख्य कार्य सभी सुखद वस्तुओं के प्रति उदासीन भाव रखकर दुःखरहित जीवन जीना है, किंतु इन परिवर्तनों के कारण इस दर्शन के प्रति जन साधारण की सुखान्वेषी प्रवृत्तियों का समर्थन था, वह इसने भी दिया। वस्तुतः, हेगेशिअस के साथ सुख का साध्य सुख के विरोध में बदल गया। किसी को यह जानकर आश्चर्य नहीं होगा कि ये सुखवादियों के कथन आत्म- हत्या के प्रेरक होने से वर्जित कर दिए गए थे। यह स्पष्ट है कि यदि किसी व्यापक एवं ठोस आधार पर दार्शनिक सुखवाद की स्थापना की जाती है, तो वह दार्शनिक सुखवाद अपने शुभ के प्रत्यय के सम्बंध में किसी न किंसी रूप में, साधारण व्यक्ति स्वाभाविक रूप से क्या चाहता है और दर्शन यथासम्भव रूप से क्या दे सकता है, इसका समन्वय ही होगा। यह यथार्थ और आदर्श का समन्वय इपीक्यूरस के द्वारा कुछ अधिक कठोरता के साथ कार्यान्वित किया गया। इपीक्यूरस के दर्शन ने अपने दोषों के साथ भी समय की परिभाषा में लम्बे युग तक जीवित रहकर अपनी विशिष्ट शक्ति का परिचय दिया है। उसका दर्शन छः शताब्दियों की सुदीर्घ कालावधि तक अपनी शिष्य परम्परा की सम्पूर्ण श्रद्धा का केंद्र बना रहा।

इपीक्यूरस (341-270 ई.पूर्व)

इपीक्यूरस परिस्टिपस के समान ही स्पष्टतया यह मानते है कि सुख ही एक मात्र परम शुभ है और दुःख ही एक मात्र अशुभ है। अपने दुःखद परिणामों को उत्पन्न करने वाले सुख के अतिरिक्त कोई भी सुख अस्वीकृत करने योग्य नहीं है और सिवाय उन दुःखों के, जो कि अधिक सुख के साधन हैं। कोई भी दुःख वरण किए जाने योग्य नहीं है। समस्त नियमों एवं रीति-रिवाजों का पालन उनके उल्लंघन के साथ जुड़े हुए दण्ड पर पूरी तरह निर्भर करता है। संक्षेप में सभी प्रकार का सदाचरण और चिंतन कार्य, यदि वह कर्ता के जीवन में आनंद की अभिवृद्धि नहीं करता है तो निरर्थक और अनुपयोगी है। इपीक्यूरस यह बात भी स्पष्ट कर देते हैं कि सुख से उनका तात्पर्य वही है, जो कि एक साधारण व्यक्ति का है। यदि सुख में से क्षुधाओं एवं इंद्रियों की संतुष्टि

को अलग कर दिया है, तो सुख का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दर्शन अत्यधिक विषयासक्ति के अनुकूल है, किंतु जब हम यह मान लेते हैं कि शारीरिक अथवा मानसिक सुख के उच्चतम बिंदु की उपलब्धि केवल पीड़ाओंया बाधाओं को हटाने से ही होती है, तो हमारा सुख सम्बंधी दृष्टिकोण ही बदल जाता है। तब सुख में केवल रूपांतरण ही होता है, उसमें वृद्धि नहीं होती है, इसलिए शरीर जिससे सर्वाधिक संतुष्टि को प्राप्त कर सकता है, वह भौतिक सम्पदा है, जो कि उस संतुष्टि को प्राप्त करने का सरलतम साधन है और उस भौतिक सम्पदा का उपार्जन प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। यह सिद्धांत प्लेटो के रिपब्लिक में प्रस्तुत ऐन्द्रिक सुखों के प्रति अपनाए गए हीन दृष्टिकोण से काफी निकटता रखता है, किंतु हमें सावधानीपूर्वक उससे इसकी भिन्नता को समझ लेना होगा। प्लेटो का कहना था कि ऐन्द्रिक सुखवादियों के द्वारा केवल जीवन की आवश्यकताओं से उत्पन्न दुःख की निवृत्ति को सुख मानने की गलती उसके दुःख विरोधी होने के कारण भ्रमवश हो जाती है, किंतु इपीक्यूरस की मान्यता यह है कि जैविक आवश्यकताओं की संतुष्टि से शांत एवं मन के अनुकूल अनुभूति होती है, ऐसा दुःख जो आकांक्षाओं से अविक्षुब्ध नहीं होने वाले सामान्य जीवन का सहगामी है। यह मन की संतुलित अवस्था (स्थिरमति) का सुख ही विधायक सुखों के गुण में उच्चतम कोटि का है। स्थूल सुखवाद (मनोवाद) और सिरेनेक दर्शन से इपीक्यूरीयनवाद का दूसरा एवं सुनिश्चित अंतर यह है कि यद्यपि शरीर ही सब सुखों का मूल आधार है तथापि मानसिक सुख एवं दुःख शारीरिक सुख-दुःख की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उनमें स्मृति और प्राग्ज्ञान से उत्पन्न भावों का संचयन भी होता है। यदि इन दोनों स्थितियों को स्वीकार कर लिया जाए तो इपीक्यूरस भी अपने मनीषी के लिए आनंद की वह निरापद अवधारणा प्रदान करने में सक्षम है, जिसे सुख के लिए किए गए प्रयासों के द्वारा स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं किया जा सकता है। वह अपने अनुयायियों से यह वादा भी नहीं करता है कि शारीरिक सुखों पर शारीरिक दुःखों की कभी भी प्रधानता नहीं होती है, यद्यपि वह इस विचार से कि सभी दैहिक दुःख या तो क्षणिक होते हैं या उनमें उतनी तीव्रता नहीं होती है, सांत्वना देनें का प्रयत्न करता है। यह सम्भव है कि क्षणिक समय के लिए दुर्वासनाएं मनीषी के मन में भी अधिक दुःख पैदा कर सकती है तथापि मनीषी के लिए हमेशा यह संभव है कि वह मानसिक सुखों के द्वारा मन में संतुलन को बनाए रख सकता है तथा यदि उसका मन भविष्य के निरर्थक भय से उत्पन्न विक्षोभों से मुक्त रखा जाए, तो वह

वर्तमान शुभ का यथार्थ परिणाम प्रस्तुत कर सकता है। मन की इस अविक्षुब्ध (प्रशांत) अवस्था की प्राप्ति के लिए दर्शन महत्वपूर्ण एवं अपरिहार्य है। क्योंकि मनुष्य को भविष्य के प्रति सर्वाधिक भय अपनी मृत्यु की आशंका से तथा देवताओं की नाराजगी की आशंका से उत्पन्न होता है और इन आशंकाओं के स्रोत को भौतिक विश्व और उसमें मनुष्य के स्थान के वास्तविक ज्ञान के द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है। नीतिशास्त्र जिस मुक्ति की आवश्यकता बताता है, वह भौतिक शास्त्र के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

इपीक्यूरस ने हेमाक्रिटस[40] के अनुसरण से इसे खोजा है। हेमाक्रिटस ने इस भौतिक विश्व की संरचना को किसी नियामक प्रज्ञा के हस्तक्षेप से रहित पूरी तरह यांत्रिक बताया है। इस सिद्धांत में देवता सृष्टि की संरचना के दृष्टिकोण से निरर्थक हो जाते हैं, किंतु इपीक्यूरस नास्तिक नहीं है। वह जन साधारण की इस धारणा को स्वीकार करता है कि ईश्वरीय कृपा प्राप्त एवं अमर प्राणियों का अस्तित्व है। मात्र यही नहीं वह यह भी मानता है कि मनुष्यों को समय समय पर जाग्रत अवस्था या स्वप्नों में उनकी प्रतिछाया का दर्शन होता है किंतु वह मानता है कि उनके क्रोध या प्रतिशोध से डरने का कोई कारण नहीं है। पुण्यात्मा एवं पूतात्मा देवताओं को कोई कष्ट नहीं है और न वे किसी को कष्ट देते ही हैं। वे न किसी पर कुपित होते हैं और न किसी पर प्रसन्न होते हैं।

इस प्रकार, मरणोपरांत जीवन की आशंका को दूर किया जा सकता है, किंतु मृत्यु की आशंका बनी रहती है, परंतु इपीक्यूरस का कहना है कि यह आशंका भी केवल वैचारिक भ्रम के कारण है। मृत्यु हमे भयानक इसलिए लगती है कि हम भ्रमवश यह मान लेते हैं, हमें मृत्यु प्राप्त होती है, किंतु सत्य है कि मृत्यु अनुभूत नहीं होती है। जब तक हम हैं कि मृत्यु नहीं है और जब मृत्यु है, हम नहीं हैं। मृत्यु कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक हम है, मृत्यु हमसे अनुपस्थित है और जब मृत्यु होती है तो हम नहीं होते हैं (जब हम होते हैं, तो मृत्यु नहीं होती और जब मृत्यु होती है, तो हम नहीं होते हैं)। इस प्रकार वस्तुतः हमारे लिए मृत्यु है ही नहीं, मनीषी मृत्यु के विचार को ही त्याग देता है और अमरता की भावना से जीवन जीता है, वह प्रशांत एवं अनुद्विग्न अस्तित्व के आनंद से युक्त जीवन जीता है । ऐसे जीवन की सीमाएं होती हैं। यह हम पूरी तरह जानते हैं फिर भी वे सीमाएं हमारी अनुभूति का विषय नहीं है। संयम और धैर्य प्रज्ञा के आधार पर दृढ़तापूर्वक निर्मित दार्शनिक जीवन

की अभिव्यक्ति के प्रकार हैं, किंतु यह बात इतनी स्पष्ट नहीं है कि इपीक्यूरीयन मनीषी सदैव ही न्यायी होगा। शायद वह न्याय को स्वतः शुभ स्वीकार नहीं करेगा। इपीक्यूरस का कहना है कि स्वाभाविक न्याय केवल नुकसान को रोकने के लिए स्वार्थों का समझौता है। निस्संदेह मनीषी भी अपने साथियों के द्वारा किए जाने वाले नुकसान से बचने के लिए इस समझौते को स्वीकार करेगा, किंतु यदि वह यह पाता है कि छद्म अन्याय सुविधाजनक एवं संभव है, तो वह इसका पालन क्यों करेगा? इपीक्यूरस स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि उनका उद्देश्य व्यक्ति को दुःखद चिंताओं से मुक्त करना है, क्योंकि (वस्तुओं की) प्राप्ति की सतत् आकांक्षा अपरिहार्य होगी, किंतु वे यह मानते हैं कि उनका यह उद्देश्य संगतिपूर्ण है और न्याय वास्तविक सुखद जीवन से अवियोज्य है। इसी प्रकार का एक सच्चा, किंतु आंशिक सफल प्रयत्न अपने स्वहितवादी सुखवाद को समाज विरोधी निष्कर्षों से मुक्त रखने के लिए मित्रता के मूल्य के बहुत ही अधिक उन्नयन में मिलता है। वे यह मानते हैं कि मित्रता पूरी तरह से पारस्परिक उपयोगिता पर निर्भर है फिर भी एक मनीषी अवसर आने पर मित्र के लिए अपना जीवन दे देगा। मित्रों के सहित शुभों के समुदाय को पूर्ण करने में उनकी आपत्ति यह है कि इस सुझाव में पारस्परिक पूर्ण विश्वास के मित्रता के गुण का अभाव परिलक्षित होता है। ये कथन अधिक आश्चर्यजनक हैं क्योंकि अनेक स्थितियों में इपीक्यूरस का आदर्श मनीषी मानवीय सम्बंधों से एक विवेकपूर्ण निर्लिप्तता का परिचय देगा, वह न प्रेम ही करेगा, न परिवार का पिता ही बनेगा और न किसी आपवादिक स्थिति के अतिरिक्त राजनीतिक जीवन में ही प्रवेश करेगा। वस्तुतः विशुद्ध स्वहित पर आधारित निष्ठापूर्ण मित्रता का यह विरोधाभास इपीक्यूरस की शिक्षाओं के उन विचार बिंदुओं में से एक है, जिन पर इपीक्यूरीयनों में मतवैभिन्य तथा असमंजस पाया जाता है। यद्यपि इपीक्यूरीयनों ने इपीक्यूरस के इस सिद्धांत को पूरी तरह स्वीकार किया, तथापि उसकी भिन्न भिन्न व्यवस्थाएं की।[41] इपीक्यूरस एक उत्साही, ममतामय और विशेष रूप से आंतरिक सहानुभूतियों का व्यक्ति था। उसके व्यक्तित्व की इन विशेषताओं ने उसकी शिक्षाओं की तार्किक संगतियों में जो कमी थी, उसकी पूर्त्ति की है, ऐसा हम विश्वास कर सकते हैं। उसने दार्शनिक वर्ग के जिस सामाजिक भाईचारे का अपने बगीचे में संवर्द्धन किया था, वह उसके सम्प्रदाय का आश्चर्यजनक तथ्य रहा है। मनीषियों के संगतिपूर्ण एवं सुचारू रूप से चलने वाले भाईचारे के जिस आदर्श का स्टाइको और इपीक्यूरस ने साथ साथ पोषण किया था, वह इपीक्यूरीयनों के

राजनीतिक विराग, वाद विवादों से विमुखता, सादा जीवन और अविक्षुब्ध विश्रान्ति के आधारों पर सरलतापूर्वक उपलब्ध किया जा सकता है। इस सबका अनुगमन आकस्मिक रूप से अणुओं के मिलन से निर्मित इस दुनिया से परे पृथक् देवताओं के शाश्वत सुख के अनुगमन के समान है।

परवर्ती ग्रीक दर्शन

समानान्तर रूप से उत्पन्न एवं विकसित जिन दो दर्शनों का हमने अभी विवेचन किया है, उन्होंने जहां तक कि नीतिशास्त्र का सवाल है ईसा की दूसरी शताब्दी के अंत तक, जबकि स्टोइकवाद पूरी तरह समाप्त हो गया था। अधिक प्रभाव पूर्ण ढंग से प्राचीन विश्व का ध्यान आकर्षित किया था। किंतु इन दोनों सम्प्रदायों के साथ ही साथ प्लेंटो और अरस्तू के सम्प्रदाय भी अपनी परम्परा की अविच्छिन्नता तथा कम या अधिक रूप में सशक्त जीवन्तता को बनाए हुए थे। ग्रीक रोमन संस्कृति के स्वीकृत तथ्य के रूप में दर्शन इन चारों शाखाओं में बंटा हुआ माना जाता था। यद्यपि इन चारों सम्प्रदायों का आंतरिक इतिहास भिन्न-भिन्न था। हम अरस्तू के नीतिशास्त्र में कोई भी ध्यान देने योग्य विकास नहीं पाते हैं। अरस्तू के अनुयायियों की दार्शनिक शक्ति अपने गुरु की व्यापक प्रतिभा के उत्तराधिकार से किसी प्रकार दब गई थी[42] और उनके बहुमुखी क्रियाकलापों के उदाहरणों से विभ्रांत हो गई थी। पुनः, इपीक्यूरीयनों के सम्प्रदाय अपने प्रवर्त्तक की मान्यताओं की, बिना किसी विकल्प के स्वीकृति के आधार पर एक दार्शनिक सम्प्रदाय के स्थान पर धर्म पंथ कहे जाने के योग्य बनाए गए थे। दूसरी ओर, प्लेटो के दार्शनिक सम्प्रदाय की परम्परा का बाहरी प्रारूप परिवर्तनों के कारण बहुत कुछ रूप में विकृत हुआ है, इसीलिए दर्शन के इतिहासकार उसके सम्प्रदाय को एक दार्शनिक सम्प्रदाय (अकादमी) नहीं, वरन् अनेक सम्प्रदाय (अकादमी) मानते हैं। हमें पुरानी अकादमी के नैतिक सिद्धांत के दो मुख्य रूप देखने को मिलते हैं, जिन्होंने शीघ्र ही अपने गुरु यानी प्लेटो की मुख्य अकादमी का स्थान ले लिया[43] - (1) स्पीयूसिपस के मार्गदर्शन में इस बात को अस्वीकार कर दिया गया कि सुख मानवीय कल्याण का एक अंग (घटक) है और इसके साथ ही प्रकृति की अनुरूपता को मुख्य व्यावहारिक सिद्धांत मान लिया था। इन दोनों विचारों ने पुरानी अकादमी को स्टोइकवाद के निकट ला दिया। वस्तुतः इन दो सिद्धांतों में सुनिश्चित अंतर यह था कि स्टोइको ने

जिन्हें 'वरेण्य' माना, अकादमी के विद्वानों ने उसे 'शुभ' के रूप में स्वीकार किया। अकादमी के विद्वानों ने शुभ के पुराने त्रिवर्गीय विभाजन को स्वीकार किया, अर्थात् 1. आत्मा का शुभ अर्थात् सद्गुण, 2. शरीर का शुभ अर्थात् स्वास्थ्य एवं अंगों को कार्य के पूरी तरह योग्य होना और 3. बाह्य शुभ, जैसे- सम्पत्ति, शक्ति, सम्मान आदि। इस वर्गीकरण के अनुसार उन्होंने यह माना कि सद्गुण मुख्य शुभ है, किंतु यह शुभ का एकमात्र घटक नहीं है[44]। जब प्लेटो के सम्प्रदाय की तेजस्विता सदेहवाद (लगभग 275-100 ई.पू.) में तिरोहित हो गई, तब एक दूसरा दृष्टिकोण अस्तित्व में आया, जो इससे बहुत अधिक भिन्न तो नहीं है, किंतु बाह्य परिस्थितियों को अधिक महत्व देता है। इसे अरस्तू के चक्रमण सम्प्रदाय के द्वारा स्वीकार किया गया था। यह चक्रमण सम्प्रदाय नैतिकता और कल्याण के सम्बंध में संतुलित[45] परम्परागत दृष्टिकोण को जो स्टोइक विरोधाभास के विरोध में था और जो अपने मनीषा को ही निरपवाद रूप से सभी वांछनीय गुण का श्रेय प्रदान करने पर जोर देता था।

अकादमी का संशयवाद एवं समन्वयवाद

आर्कसिलिक्स (315 ई.पू. से 240 ई.पू.) के नेतृत्व में प्लेटो के सम्प्रदाय ने दार्शनिक संदेहवाद की महत्वपूर्ण दिशा ग्रहण की। यहां हमें यह ध्यान रखना होगा कि अकादमी के विद्वान् चिंतक अरस्तू के परवर्ती युग के प्रथम संदेहवादी नहीं थे। इनके पूर्व भी झेनो एवं इपीक्यूरस के समकालीन इलिस के पायरो का यह सिद्धांत था कि परम्परागत मान्यताओं को पूर्णतया त्याग देना एवं वासना रहित आत्मा के समत्व की उपलब्धि ही सबसे अच्छा मार्ग है, जिसका गुणगान स्टोइको एवं इपीक्यूरीयनों ने भी किया था। पायरो और आर्कसीलिक्स में कितनी समानता है, यह निश्चित रूप से जान लेना कठिन है, क्योंकि जब प्लेटो की वैयक्तिक शिक्षा की परम्परा समाप्त हो गई थी, तब पायरो के सिद्धांत के प्रभाव के अतिरिक्त भी प्लेटो के बहुत से संवादों में सशक्त रूप से अभिव्यक्त सुकरातीय पद्धति के निषेधात्मक पहलू ने उन व्यक्तियों को, जिन्होंने प्लेटो के ग्रंथों के माध्यम से प्लेटो के सिद्धांतों को समझा था, सदैहवाद की दिशा में किस प्रकार तीव्रता से अग्रसर किया, यह हम सरलतापूर्वक जान सकते हैं। यहां तक कि रिपब्लिक जैसे विधायक संवाद में भी प्लेटो ने इस इंद्रियानुभूति के विषय तथ्यात्मक जगत् को जिसमें दार्शनिक का कार्य करना होता है, सही अर्थ में ज्ञान का विषय न मानकर धारणा का विषय माना है, इसलिए

आर्केसिलअस का प्लेटो को उस ऐन्द्रिक बोध की परम्परागत निश्चितता का निषेध करने वाला मानना ठीक था।

यह स्टोइक विरोधाभास है, जिसे स्टोइकों ने ग्रहणशील संस्कार माना था। आर्केसिलिकस का यह मानना भी ठीक लगता है कि प्लेटो ने यह शिक्षा दी थी कि संभाव्यता को कल्याण की दिशा में मनुष्य का मार्गदर्शन होना चाहिए[46]। आर्कसिलिअस के नैतिक शिक्षाओं के संबंध में विस्तार से हम बहुत कम जानते हैं, किंतु उसके विद्वान उत्तराधिकारी कार्नेडिस (जन्म 213 ई.पू. मृत्यु 128 ई.पू.) ने नैतिक दृष्टि से उसके सदैहवाद का उपयोग एक खतरनाक पद्धति के रूप में किया। यह कहा जाता है कि रोम में (155 ई.पू.) दार्शनिकों के सुप्रसिद्ध प्रतिनिधित्व के अवसर पर एक दिन न्याय के पक्ष में तर्क उपस्थित करते हुए उसने अपने भाषण से रोमन युवकों में एक जोश पैदा कर दिया था, किंतु दूसरे दिन अपने खुद के तर्क का ही सफ लतापूर्वक प्रतिषेध भी कर दिया। आंशिक रूप से सम्भवतया संदेहवाद की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण व्यावहारिक सुनिश्चिता प्राप्त करने की इच्छा के कारण अकादमी को अपने सदैहवाद की स्थिति से पुनः एक प्रकार के समन्वयवाद की ओर लौटना पड़ा, जिसमें स्टोइक सिद्धांतों के सर्वाधिक उच्छृंखल तत्त्वों को कम करके प्लेटो और अरस्तू की नैतिक शिक्षाओं के समान ही कुछ उपदेश दिए गए थे। एस्कालन में ऐन्टिओकस[47] ने अपने व्याख्यानों के द्वारा इस परिवर्तन को पूर्णता तक पहुंचाया है। उसने ये व्याख्यान सन् 91 ई.पू. में सिसरो की उपस्थिति में अकादमी के अध्यक्ष की हैसियत से दिए थे। इसी प्रकार की समन्वय की प्रवृत्ति हम स्टोइकवाद में, विशेष रूप से पेनेटिअस में भी देखते हैं, जिसने ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में एथेन्स में इस सम्प्रदाय की अध्यक्षता की थी[48]। हमें यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति अरस्तू के चंक्रमण सम्प्रदाय में भी दिखाई देती है। इन समन्वयात्मक प्रवृत्ति का व्यापक प्रभाव यह हुआ कि स्टोइक अकादमी के सदस्य और अरस्तू के चंक्रमण सम्प्रदाय के द्वारा एक ही नैतिक सिद्धांत समान रूप से स्वीकृत हुआ, जिसके मुख्य तत्व अपने उद्भव की दृष्टि से स्टोइक थे। स्टोइकवाद और इन दूसरे दो सम्प्रदायों की परम्पराओं में मुख्य विरोध कर्तव्य और सद्गुण के घटकों के निर्धारण के आधार पर नहीं, किंतु सद्गुण किस सीमा तक कल्याण (शुभ) के लिए सक्षम है[49] इस प्रश्न पर था। दोनों ही अवस्थाओं में इस समन्वयवादी प्रवृत्ति का ग्रीक दर्शन के रोम में विकसित विचार वृत के द्वारा समर्थन हुआ, क्योंकि व्यावहारिक रोमन चेतना सदैहवाद और स्टोइकवाद

की विरोधाभास युक्त अवस्थाओं में से किसी को भी ईमानदारीपूर्वक सरलता से वस्तुतः स्वीकार नहीं कर सकी थी।

रोम का दर्शन (रोम में दर्शन का विकास)

ग्रीक-रोमन सभ्यता के इतिहास में हेलेनिक दर्शन का हेलेनिकवाद के अन्य तथ्यों के साथ प्रवेश एक युगान्तकारी परिवर्तन था, लेकिन नैतिक सिद्धांत के विकास में इसका महत्व गौण ही था, क्योंकि ग्रीक दार्शनिक के सिद्धांतों की प्रमुख धाराओं के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए भी रोमन जनता ने ग्रीक दार्शनिकों के शिष्यत्व को कभी स्वीकार नहीं किया। वस्तुतः रोमन प्रज्ञा में दर्शन के प्रति एक अनिच्छा की भावना एवं नए विचारों को बहिष्कृत करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। 161 ई.पू. सीनेट ने नियम बनाकर दार्शनिकों एवं साहित्य शास्त्रियों का रोम में निवास करना वर्जित कर दिया था और इसके छः वर्ष बाद भी प्लूटार्च ने दार्शनिक दूतावास के द्वारा बड़े केटो के मन में उत्पन्न विद्वेष भावना का वर्णन किया है, जिसके सम्बंध में मैंने पहले उल्लेख किया है, किंतु इस विरोध का प्रतिरोध नहीं हो सका। सबसे पहले इपीक्यूरियनवाद ने रोमनो में नए विचारों को प्रसार के लिए श्रोताओं एवं अनुयायियों को बटोरा। उसके कुछ समय बाद ही पेनेटिअस के द्वारा रोम में स्टोइकवाद का प्रवेश हुआ। पेनेटिअस वहां अनेक वर्ष तक रहा और उसकी स्पिओ और लेलिअस से मित्रता स्थापित हो गई। प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में हम वहां झिलो को अकादमी के सिद्धांतों के संशयात्मक पक्ष की शिक्षा देते हुए पाते हैं। चंक्रमण सम्प्रदाय पेरीपेटिकस का भी रोम में अभाव नहीं था, ल्यूकिटअस का काव्य रोमन साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में से एक है। रोम के नागरिकों के एक विशेष वर्ग ने हार्दिक भावना एवं अधिक उत्साह के साथ इपीक्यूरीयनवाद का जो स्वागत किया था उसका इस ग्रंथ में विवेचन मिलता है, किंतु इपीक्यूरनवाद के परम शुभ के सुखवादी सिद्धांत की अपेक्षा भौतिक विश्व की अणुवादी व्याख्या ने ही ल्यूक्रिटिस को आकर्षित किया था, क्योंकि यह विश्व की अणुवादी व्याख्या अर्द्धमान्यताओं के भयों को समाप्त कर आत्मशांति देती है।

सिसरो (106 ई.पू. से 43 ई.पू.)

रोम में अकादमी एवं समन्वयवादी[50] दृष्टिकोण का समर्थन सिसरो के द्वारा किया गया था। यदि हम नेतिक साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो सिसरो के ग्रंथ हमारे ध्यान का मुख्य विषय बनने का दावा करते हैं। सम्भवतया उसके ग्रंथ

डी-आफीसिस को छोड़कर अन्य कोई ऐसी प्राचीन कृति नहीं है, जिसने प्राचीन नैतिक ज्ञान को मध्यकालीन एवं आधुनिक यूरोप तक पहुंचाया हो, फिर भी, नैतिक सिद्धांतों के विकास में सिसरो का महत्व अपेक्षाकृत कम ही है, क्योंकि उसने किसी वस्तुतः स्वतंत्र दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन कभी कभार ही किया है। सामान्यतया वह बहुत अधिक विनम्र ही रहा है। उसका निम्न कथन भी उसकी इस विनम्रता का ही समर्थन करता है। वह कहता है कि उसने अपने देशवासियों के समक्ष रोगी की वेशभूषा में ग्रीक दर्शन को प्रस्तुत किया है। वह अपने–आप को संशयवादी अकादमी का अनुयायी मानता है, किंतु नीतिशास्त्र के क्षेत्र में उसकी निष्ठा यह है कि सद्गुण सुख प्रदान करने वाला तत्त्व है[51]। इस मान्यता के पूर्ण या आंशिक विरोध को वह आवश्यक नहीं मानता है। उपरोक्त रचना के (बाह्य) कर्तव्य सम्बंधी भाग की विषयवस्तु स्टोइक विचारक पेनेटिअस से ली गई है, जिसे स्टोइकवाद के समन्वयात्मक पक्ष की व्यावहारिक शिक्षाओं का प्रतिरूप माना जा सकता है। अब हम इस सिद्धांत के मुख्य लक्षणों और इसके उस प्रारूप की चर्चा करेंगे, जो कि चार मुख्य सद्गुणों की पुरातन शैली के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। (1) प्रज्ञा के क्षेत्र की विवेचना करते हुए अरस्तू की इस बात को मान लिया गया है कि ज्ञान का लक्ष्य ज्ञान स्वयं ही है (अर्थात् ज्ञान स्वतःसाध्य है), यद्यपि उसे चिंतन की क्रिया के अधीन ही माना गया है। (2) कठोर न्याय को जो कि मनुष्यों को परस्पर अकारण नुकसान पहुंचाने से रोकता है तथा सम्पत्ति का सम्मान और संविदाओं का पालन करना सिखाता है, परोपकार या उदारता के समानांतर, किंतु उससे भिन्न रखा गया। यह ऐसी सभी सेवाओं के प्रस्तुतिकरण में अभिव्यक्त होता है, जो कि बिना किसी त्याग के हो सके और यह हमें देश के नागरिकों, कुटुम्बीजनों, मित्रों, शुभ चिंतकों और राष्ट्र के साथ अधिक व्यापक रूप से घनिष्ठ एकता के सूत्र में बांधता है। (3) साहस (धैर्य) या आत्म की महानता के शीर्षक के अंतर्गत दो अलग-अलग गुण अनुकरणीय माने गए हैं। बाह्य वस्तुओं एवं तथ्यों के प्रति दार्शनिक उदासीनता और वह आत्मशक्ति, जो मनुष्य को कठिन एवं साहसिक कार्यों की ओर ले जाती है उनके प्रति आकर्षण उत्पन्न करती है[52]। (4) अंत में चौथा सद्गुण आता है, जो मर्यादितता और औचित्यता की उपलब्धि में पाया जाता है और जो व्यापक अर्थ में सभी सद्गुणों का सहयोगी है और उनका ही एक पक्ष है। पुनः यह ध्यान देने योग्य है कि नीतिशास्त्र की सामान्य विवेचना में पेनेटिअस के द्वारा प्रस्तुत स्टोइकवाद अपनी नैतिक शुभता से भिन्न सामान्य अर्थ में आचरण की

स्वार्थपरायणता पर चर्चा करने की अवहेलना नहीं करता है और विशेष रूप से पारस्परिक अनुग्रह के कर्तव्यों को कर्ता के सांसारिक लाभ के परिणामों की अभिव्यक्ति के द्वारा लागू करता है। यह प्रतीत होता है कि कुछ ऐसी स्थितियां भी है, जिनमें स्वहित (कार्य साधकता) और सद्गुण में स्पष्ट विरोध होता है। उन स्थितियों में सावधानीपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है, तथापि यह माना जाता है कि सद्गुण सदैव ही कार्य साधक (हित साधक) होते हैं, किंतु यह एक स्पष्ट बात है कि सद्गुण की सिद्धि के लिए किस सीमा तक कर्ता को अपने सांसारिक हितों का सामाजिक कर्तव्यों के लिए बलिदान करना होता है। यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि कहां तक एक व्यापारी भाव मोल करने में उन परिस्थितियों को उजागर करने के लिए बाध्य है, जो कि भौतिक दृष्टि से उसके वस्तुओं (सौदे) के मूल्य को प्रभावित करती है। मानवीय चिंतन के विकास में दर्शन की अपेक्षा न्यायशास्त्र में रोम का स्वतंत्र योगदान महत्त्वपूर्ण है, इसलिए सिसरो के विचारों पर स्टोइक प्रभाव की सबसे रुचिकर अभिव्यक्ति उसकी नैतिक विवेचना के न्यायिक पहलू में देखने को मिलती है। हम यह भी देख चुके हैं कि स्टोइकवाद का मुख्य लक्षण उस नियम की धारणा है, जो सभी मनुष्यों पर उनके बुद्धिमान प्राणी होने के कारण तथा बुद्धिमान प्राणियों के जगत् का सदस्य होने के कारण लागू होता है। जो एक दैवीय एवं शाश्वत नियम है तथा जो विशेष राजनीतिक संस्थानों के नियमों से प्रामाणिकता एवं महानता में अधिक श्रेष्ठ है। इस धारणा को प्रमुखता देने के कारण स्टोइकवाद ने नीतिशास्त्र के प्राचीन ग्रीक दृष्टिकोण का इस आधुनिक दृष्टिकोण में रूपांतरण कर दिया। नीतिशास्त्र के प्राचीन ग्रीक दृष्टिकोण में सद्गुण और शुभ के प्रत्यय प्रमुख थे, जबकि आधुनिक दृष्टिकोण में नैतिक नियम का अध्ययन प्रमुख माना गया है। इस रूपांतरण में सिसरो ने जो भाग लिया, वह ऐतिहासिक महत्व का है। उसने ईश्वर, प्रज्ञा या प्रकृति से प्रकट होने वाले इस अपरिवर्तनीय नियम को उन सभी दार्शनिक प्रत्ययों की अपेक्षा, जिनको उसने ग्रीक चिंतन से रोमीय चिंतन में हस्तांतरण करने का प्रत्यन किया था, अधिक यथार्थ सारणीकरण के द्वारा ग्रहण किया। नैतिक दृष्टि से उसके लेखनों में जो प्रभावपूर्ण अंश हैं, वे वही हैं, जिनमें उसने इस नियम की चर्चा की है। कर्म को वह एक वस्तुनिष्ठ नियम मान लेता है जो कि देश और काल से परे होकर सभी व्यक्तियों के लिए प्रमाण है और उसकी प्रामाणिकता किसी भी विधान से, जो कि उसके विरोध में जाता है, अधिक है। कभी वह उसे आत्मनिष्ठ रूप में परम प्रज्ञा मान लेता है जो कि प्रत्येक

व्यक्ति के मन में उसके जन्म से ही उपस्थित है और जब वह पूर्ण तथा विकसित हो जाता है तो अभ्रांत रूप से व्यक्ति का मार्गदर्शन करती है और यह बताती है कि उसे क्या करना है और क्या नहीं करना है। प्रथमतः सिसरो के द्वारा और बाद में स्टोइक लेखकों के द्वारा स्पष्ट रूप से इस प्राकृतिक नियम के प्रत्यय का प्रचलन रोमन न्यायविदो के बीच हुआ और बाद में यह सभी राष्ट्रो के बीच पूर्व स्थापित उन सामान्य नियमों के साथ मिश्रित हो गया, जिनको रोमन प्रज्ञा ने विदेशी लोगों के साथ व्यापार सम्बंध की आवश्यकताओं के लिए क्रमशः विकसित किया था। यह न्यायविदों की दृष्टि में रोमन निष्पक्षता (समदृष्टित्व) का एक सर्वमान्य स्रोत माना गया। अनेक शताब्दियों के बाद जब रोमन न्यायशास्त्र का अध्ययन मध्य युग के अंतिम भाग में पुनर्जीवीत हुआ, तब प्राकृतिक नियम के इस प्रत्यय को एक नया अर्थ एवं महत्व मिला और यह आधुनिक नैतिक चिंतन की प्रथम अवस्था का एक प्रमुख एवं महत्वपूर्ण प्रत्यय बन गया, जिस पर हमने बाद में विचार किया है।

रोमन स्टोइकवाद

ग्रीक चिंतन की सभी विधाओं में स्टोइकवाद ही ऐसी चिंतन प्रणाली है, जिसकी रोम की नैतिक चेतना के साथ सबसे अधिक वास्तविक घनिष्ठता (समानता) है। हमें इस दार्शनिक सम्प्रदाय में[53] ग्रीस से प्राप्त सिद्धांतों के प्रति रोमन चेतना का एक स्पष्ट प्रतिरोध परिलक्षित होता है, जिसके परिणामों को स्टोइक चिंतन के स्वाभाविक आंतरिक विकास से सूक्ष्मता के साथ अलग करना कठिन है। यह स्वाभाविक भी था कि प्रारम्भिक स्टोइकों ने आदर्श प्रज्ञा एवं सद्गुण के आंतरिक तथा बाह्य लक्षणों का विवरण प्रस्तुत करने में अधिक रुचि ली और एक आदर्श मनीषी और सच्चे दार्शनिक के बीच के अंतर को अस्वीकार तो नहीं किया किंतु किसी रूप में उसकी अपेक्षा तो अवश्य की, किंतु जब मनुष्य का शुभ क्या है? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट विवेचन के माध्यम से पूर्ण प्रज्ञा के द्वारा दिया गया, तो दूसरा प्रश्न अर्थात् मनुष्य संसार के दुःख और कष्टों से किस प्रकार मुक्त हो सकता है और प्रज्ञा की दिशा में कैसे आगे बढ़ सकता है, इसने स्वाभाविक रूप से जनता का ध्यान आकर्षित किया। तब वैज्ञानिक अभिरुचियों पर नैतिकता प्रबल हुई, जो कि रोमन मनस की एक विशिष्टता थी और तभी यह प्रश्न अधिक प्रमुख बन पाया। यह प्रमुखता हमें उन साम्राज्यवादी लेखनों में मिलती है, जो कि स्टोइक दर्शन के अध्ययन के अपरोक्ष साधन हैं।

सीनेका (मृत्यु सन् 65 ई.)

उदाहरणार्थ, सीनेका के लेखनों में परवर्ती स्टोइकवाद के इसी पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। वह अपने को एक मनीषी कहने का दावा तो नहीं करता, किंतु प्रज्ञा की दिशा में प्रगति के मार्ग का एक पथिक अवश्य कहता है। यद्यपि सद्गुणों की प्राप्ति के मार्ग की खोज सरल है, किंतु ऐसा जीवन जीना कठिन है। यह जीवन वासनाओं और पापों से एक सतत् संघर्ष का जीवन है, एक ऐसा युद्ध, जिसमें कहीं विश्राम नहीं है, जिसकी तैयारी के लिए मनुष्य को स्वेच्छा से ही स्वल्प एवं रूखा सूखा भोजन तथा मोटा कपड़ा लेकर कई दिनों तक संन्यास-जीवन की साधना करनी होती है।

एपीकटेटस

इसी प्रकार एपीकटेटस ने भी इस बात पर जोर दिया है कि वास्तविक रूप में एक स्टोइक मनीषी को खोज पाना असंभव ही है। वस्तुतः वे लोग भी बहुत ही कम हैं, जो अपने आप को ईमानदारी के साथ प्रज्ञा की दिशा में प्रगति के लिए लगाना पसंद करते हैं, अथवा जो संयम और सहिष्णुता के महत्त्वपूर्ण शब्दों को हृदय से स्वीकार करते हैं। इस प्रकार सीनेका और ऐपीकटेटस का दर्शन मनुष्य को अपनी कमजोरियों और विकृतियों से स्वस्थ करने वाला दर्शन है। जिसका सम्बंध मानवीय विकृतियों से है, अन्य बातों से नहीं। वह प्रज्ञा, जिसके द्वारा दर्शन मनुष्य को स्वस्थ बनाता है एक ऐसा गुण है, जिसके लिए लम्बे वाद-विवादों या सूक्ष्म विवेचनाओं की आवश्यकता नहीं है, वरन् जो सतत् साधना एवं आत्म अनुशासन तथा आत्मालोचन की अपेक्षा करता है। अपने परवर्ती लेखनों में विचार और आचार (सिद्धांत और तथ्य) का यही अंतर स्टोइकवाद के धार्मिक पक्ष को एक नई शक्ति और अर्थ देता है। अपनी कमजोरियों के प्रति सजग आत्मा ही ईश्वर के साथ अपने सम्बंध के विचार पर अधिक आश्रित रहता है। स्टोइक अपने आपको ईश्वर का पैगम्बर या देवदूत मानते हैं। बाह्य घटनाओं के प्रति आत्म संतुलित साक्षी भाव का आदर्श दृष्टिकोण पवित्र समर्पण की अपेक्षा अब अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना गया था। प्रज्ञा पर आत्म निर्भरता की प्राचीन धारणा, जो कि मनुष्य के स्वाभाविक जीवन को मात्र बुद्धि का कर्मक्षेत्र मानती थी, अब क्रमशः क्षीण होती जा रही थी और आत्मा की शक्तियों को कुण्ठित करने वाली एवं बंधन में डालने वाली विजातीय वासनाओं के प्रति एक विधायक वैराग्य के लिए स्थान बनता जा रहा था। शरीर एक ऐसा पिण्ड है, जिसे आत्मा जीवित रखती है[54]। जीवन एक अजनबी धरती

पर निवास[55] अथवा एक तूफानी समुद्र में यात्रा है[56], जहां कि मृत्यु ही एकमात्र स्वर्ग (मुक्ति) है।

मरकुस आरलियस (120-180 ई.)

परवर्ती स्टोइकवाद की धार्मिकता स्टोइक साम्राज्य मरकुस आरलिअस, एन्टोनीनस्ट के चिंतन में एक विशिष्ट भावनात्मकता से अनुप्रमाणित होती है। वे कहते हैं कि 'हे विश्वात्मा जो तेरे लिए सामंजस्यपूर्ण है, वह मेरे लिए भी सामंजस्य पूर्ण है, जो तेरे लिए समयानुसार है वह मेरे लिए समयानुकूल है, हे प्रकृति तेरे ऋतु जिसे लाती है वे सभी मेरे लिए फल है। सभी वस्तु तुझमे है और तुझमे ही लौट जाती है।' कवि कहता है कि परमप्रिय सेसरोप का नगर क्या ईश्वर का परमप्रिय नगर नहीं है। मरकुस आरलिअस एन्टोनीन के सम्प्रदाय के भावनात्मक लक्षणों की ये भाव प्रवण अभिव्यक्तियां है जो कि हमें उपलब्ध है। ईश्वर के साथ अपने सम्बंध का स्मरण करना और उस ईश्वर से जोड़ने वाले धागों को पुष्ट करना जो कि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में विश्वात्मा के रूप में शासन करता है और यह आत्मा भी जिसकी ही एक अंश है, देवताओं के साथ रहना और केवल वही करना, जिसके लिए ईश्वर अनुज्ञा देता है, जो कुछ ईश्वर देता है, उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करना, सभी अवसरों पर देवताओं को आमंत्रित करना और ईश्वर का विचार करते हुए एक सामाजिक कार्य के बाद दूसरे सामाजिक कार्य को करते जाना, ये ही वे शिक्षाएं हैं, जो उसके आत्म प्रबोधन में बार-बार प्रकट होती हैं। अच्छे जीवन को जीने का सूत्र है- 'देवताओं के प्रति श्रद्धा और मनुष्यों की सहायता', इस सूत्र के दोनों ही अंश अविभाज्य है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त शक्ति से दूसरे बुद्धिमान प्राणियों की सहायता नहीं करना और अन्याय करना अपने-आप में एक अपवित्रता है। मरकुस आलिअस अपनी लोकोपकार की धारणा में असमर्थ के प्रति सदयता और सहानुभूति की जितनी अपेक्षा करता है, वह प्रारम्भिक स्टोइकों के गम्भीर एवं निरपेक्ष विश्वबंधुत्व में नहीं की गई है। सामाजिक एवं बौद्धिक प्राणियों की विश्व-व्यवस्था के सदस्य के रूप में व्यक्ति का साध्य मात्र अपना कर्तव्य करना ही नहीं है, वरन् सभी मनुष्यों के प्रति हृदय से प्रेम करना है। इतना ही नहीं, यह सोचकर कि जो अज्ञान के कारण गलती करते हैं, वे भी हमारे सजातीय हैं, बुराई करने वालों को भी प्रेम करना है, साथ ही उसके निष्पक्ष एवं प्रभावकारी उपदेशों के प्रति अनिवार्यतया अंधविश्वास हमारे सामने समन्वय सम्बंधी भिन्न कठिनाई को उपस्थित कर देते हैं। एक ओर सम्पूर्ण सृष्टि को

परम प्रज्ञा की एक पूर्ण रचना होने और मनुष्य को ईश्वरीय सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता होने के प्रति दार्शनिक निष्ठा, तो दूसरी ओर दुनियादारी के सभी उद्देश्यों एवं इच्छाओं के सभी विषयों के प्रति एक दार्शनिक उपेक्षा-वृत्ति और इसके परिणामस्वरूप उन सभी मनुष्यों के प्रति, जिनसे हमारा दार्शनिक सृष्टि से सम्बंध है, के प्रति 'परता' का अपरिहार्य भाव। एक ओर मरकुस आरलिअस उस प्रज्ञापूर्ण व्यवस्था पर विचार करता है, जिसमें सभी वस्तुएं पवित्र बंधन में एक-दूसरे से बंधी हुई हैं, निम्न श्रेणी की वस्तुएं अपने से उच्च श्रेणी की वस्तुओं के लिए है और एक दूसरे के साथ संगतिपूर्ण रूप से रही हुई हैं, किंतु साथ ही वह यह भी मानता है कि सभी इन्द्रिय-गोचर वस्तुएं विनाशशील और तिरस्कार के योग्य हैं। बच्चों के खेल और झगड़ों के समान, चीटियों के श्रम के समान या कठपुतली के समान ये सारी सांसारिक घटनाएं क्षणिक एवं निरर्थक है तथा परिवर्तन के प्रवाह में बह रही है। अथवा संसार एक ऐसी प्रचण्ड वेग धारा है जिसके बीच एक प्रज्ञावान मनुष्य उस अंतद्वीप के समान खड़ा है जिसे मिटाने के लिए वे धाराएं सतत् रूप से संघर्षरत है। सारे संसार की प्रत्येक वस्तु एवं जीवन का प्रत्येक अंश वैसा ही गंदा, घृणित और अधम है, जैसा कि स्नान के तेल, पसीने, मल और शरीर से निकला हुआ पानी। वह स्वयं ही अपने से कहता है कि मृत्यु वरेण्य है और उससे प्रकृति की एक घटना मानकर उसके आलिंगन के लिए तैयार रहना चाहिए, किंतु वस्तुतः जो उसे मृत्यु के साथ जोड़ता है, वह है वस्तुओं एवं चरित्र का विचार, जिससे मृत्यु उससे अलग कर देती है। यथार्थ और आदर्श के बीच का यह अंतराल एक अच्छे एवं सुंदर संसार की कल्पना के द्वारा भी पूरा नहीं जा सकता। यद्यपि स्टोइक सम्प्रदाय परम्परागत रूप से मृत्यु के पश्चात् भी वैयक्तिक जीवन के अस्तित्व को तब तक बने रहने की धारणा में विश्वास करता है, जब तक कि महाप्रलय न हो, जिस महाप्रलय के द्वारा प्रत्येक सृष्टि के युग का अंत होता है और जिसमें संसार की सभी वस्तुएं पुनः अपने मौलिक द्रव्य या ईश्वरीय तत्त्व, जिससे कि वे उत्पन्न हुई थीं, को प्राप्त हो जाती है, तथापि उन्होंने अपनी इस धारणा के आधार पर नैतिक शिक्षाओं पर कोई भार नहीं दिया। स्टोइकवाद की इस युग में यह धारणा संशयात्मक रूप से ही स्वीकार की जाती रही, यद्यपि इसे पूरी तरह समाप्त नहीं किया गया था[57]। मरकुस आरलिअस ने इस प्रश्न को नहीं उठाया है कि मृत्यु क्या मात्र (शरीर) परिवर्तन है या अस्तित्व का समाप्त हो जाना है? क्या यह दूसरे जीवन में संक्रमण है अथवा एक संवेदनशील अवस्था है? यद्यपि कभी-कभी वह एक निषेधात्मक दृष्टिकोण के प्रति

झुकता है। वह स्वयं के प्रति ही कहता है कि कुछ ही क्षणों के पश्चात तू भी हेड्रीजानस और आगस्टस के समान कुछ भी और कहीं भी नहीं रहेगा। वह अपने एक महत्वपूर्ण कथन में आश्चर्य प्रकट करते हुए कहता है कि यह कैसे हो सकता है कि यद्यपि देवताओं ने सम्पूर्ण वस्तुओं की मनुष्य के लिए उपकारी और सम्यक् होने की व्यवस्था की है, तो भी उन पुण्यात्मा मनुष्यों को, जिनमें से अधिकांश ने ईश्वर के साथ संलाप किया हो, तो भी मृत्यु के बाद पूरी तरह समाप्त हो जाना है। वे अपने को इस केवल विचार से संतुष्ट कर सकते हैं कि यदि यह न्यायपूर्ण होगा कि वे बचे रहें, तो सम्भव हो सकता है कि वे बचे रहे और जहां तक यह प्रकृति के नियमानुसार होगा, तो प्रकृति वैसा ही करेगी। यह अंतिम वाक्य स्टोइकवाद के विशिष्ट लक्षण को प्रस्तुत करता है। जिसके अनुसार इस संसार को जैसा है, वैसा ही स्वीकार करना है और किसी ऐसे सुखद भविष्य की परिकल्पना नहीं बनाना है, जिसमें कि वर्तमान की बुराइयां समाप्त हो जाएगी, वरन् दृढ़ संकल्पपूर्वक वर्तमान जैसा है, वैसा ही ठीक है, यह मानना है। वस्तुतः हम यह कह सकते हैं कि स्टोइकवाद का मुख्य नैतिक सिद्धांत आधुनिक नैतिक धर्मशास्त्र के मुख्य तर्क के विपर्यय पर आधारित है। आरलिअस का कहना है कि यह सम्भव नहीं है कि इस विश्व की प्रकृति को या तो शक्ति की कमी के कारण या कुशलता की कमी के कारण इतनी बड़ी गलती से युक्त बनाया गया है कि अच्छे और बुरे लोगों के लिए शुभ और अशुभ अंधरूप में ही होते हों। यहां तक तो स्टोइक और ईसाई दार्शनिकों में एकता है, जबकि ईसाई मान्यता यह है कि भावी जीवन में वर्तमान जीवन के पुण्य और पाप को अंधाधुंध वितरण सम्बंधी अन्याय ठीक किया जाएगा। किंतु स्टोइक की मान्यता यह है कि जीवन और मृत्यु, सम्मान और अपमान, सुख और दुःख आदि वस्तुएं वर्तमान में जिस अविवेकपूर्ण ढंग से बंटी हुई हैं, वे न तो शुभ हैं और न ही अशुभ हैं।

परवर्ती प्लेटोवाद और नवप्लेटोवाद

अरस्तू के बाद के चार मुख्य सम्प्रदायों में प्लेटोवादी समुदाय ऐसा था कि जिसकी शिक्षाओं में वैयक्तिक आत्मा की अमरता के सिद्धांत को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त या। यह अपेक्षित था कि स्टोइकवाद में तुच्छ एवं घृणित भौतिक परिवर्तनों से युक्त इस वस्तुगत जगत् से मांगने की जो निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति पाई जाती है, वह इस सम्प्रदाय के परवर्ती इतिहास में और भी अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से स्पष्ट हुई है। वस्तुतः यह अपने गुरु (प्लेटो) की शिक्षाओं के एक अंग का

स्वाभाविक विकास ही था।

प्लूटार्च (इस्वी सन् 48 से 120)

इस प्रकार जब हम प्लूटार्च की ओर आते हैं, तब हमें उसके सिद्धांतों में प्राचीन अकादमी के मानवीय जीवन के निम्न और उच्च घटकों के बीच नैतिक संगति बनाने वाले प्लेटोवादी सिद्धांत को न पाकर आश्चर्य नहीं होता है? प्लेटो की शिक्षाओं का वह पक्ष, जो अनुभूति के वास्तविक जगत् की अपरिहार्य अपूर्णताओं को प्रकट करता है, पुनः महत्त्वपूर्ण हो गया था। उदाहरणार्थ, प्लूटार्च प्लेटो के लाज के उन सुझावों को स्वीकार करता है और उनका विस्तार करता है, जो यह बताते हैं कि यह अपूर्णता उस अशुभ विश्वात्मा के कारण है, जो कि शुभ के विरोध में है। प्लेटो के इस सुझाव पर बीच के इस अंतराल में कोई ध्यान नहीं दिया गया था। हम यह भी देखते हैं कि प्लूटार्च इसे जो मूल्य देता है, वह मात्र बौद्धिक धर्म के पोषण या सांत्वना के लिए नहीं है, वरन् आधिभौतिक संवादों की पुष्टि के लिए है, जो विशेष मनुष्यों और ईश्वर के बीच विशेष अवस्था में होता है, जैसे स्वप्न में, चमत्कारों के द्वारा या विशिष्ट चेतावनियों के रूप में और जिन्हें धर्मशास्त्र में स्वीकृत किया गया है। अंतर्विवेक की इस चमक को पाने के लिए वह यह मानता है कि आत्मा को संयम के माध्यम से इंद्रियपरता से विमुख और समाधि की अवस्था के लिए तैयार करना होगा। आत्मा और शरीर के बीच द्वैतभाव और शरीर से अलगाव के द्वारा ईश्वरीय या अर्थ ईश्वरीय प्रभावों की विशुद्ध प्राप्ति के लिए निवृत्तिमार्गी प्रयत्न पहली और दूसरी शताब्दी में होकर पुनर्जीवित पाइथोगोरियनवाद में भी पाए जाते हैं। वस्तुतः प्लूटार्च एवं अन्य विचारकों, जिनका वह प्रतिनिधित्व करता है, के विचार प्लेटोवादी सिद्धांतों पर नव पाइथोगोरियनवाद के प्रभाव के सम्मिश्रण से निर्मित हैं, किंतु वह सामान्य प्रवृत्ति जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं, एक बुद्धिसंगत दार्शनिक व्यवस्था की पूर्ण अभिव्यक्ति के साथ तब तक नहीं मिलती है, जब तक कि हम के महान् चिंतक प्लोटीनस की ओर नहीं आ जाते।

प्लोटीनस (ईस्वी सन् 205 से 270)

प्लोटीनस का दर्शन प्लेटोवाद के उस तत्त्व का आश्चर्यजनक विकास है, जिसने मध्ययुग एवं आधुनिक युग के चिंतन को सम्मोहित कर रखा है, किंतु जो

अरस्तू के परवर्ती सम्प्रदायों के विरोधों के कारण दृष्टि से पूरी तरह ओझल हो गया था। इसके साथ ही उस श्रद्धामय निष्ठा के कारण, जो कि नव प्लेटोवाद के प्रति रखता है, मौलिक प्लेटोवाद और इस नव प्लेटोवाद के बीच के अंतर अधिक महत्वपूर्ण हैं। हम देखते हैं कि प्लेटो ने शुभ का वस्तुओं के वास्तविक सारतत्त्व के साथ तादात्म्य किया था और पुनः शुभ का उससे भी तादात्म्य किया था, जिसमें वह निश्चित रूप से कल्पनीय एवं बोधगम्य है। यह यह बताता है कि वस्तुओं की अपूर्णता या अशुभता इनकी वास्तविक सत्ता से भिन्न है और इसीलिए वे निश्चित रूप से विचार और ज्ञान के योग्य नहीं हैं। तदनुसार हम पाते हैं कि प्लेटो के पास इस यथार्थ इंद्रियगम्य जगत् में उसके लिए कोई तकनीकी पद नहीं है, जो कि उसे अमूर्त्त आदर्श विश्व की पूर्ण अभिव्यक्ति से रोकता है और जिसे अरस्तू के दर्शन में पूर्णतया आकारहीन यथार्थ के रूप में बताया गया है और इसीलिए जब हम प्लेटोवाद की तत्त्वमीमांसा से नीति की ओर आते हैं, तब हम पाते हैं कि उच्च जीवन की उपलब्धि मानवीय क्रियाकलापों और उन क्रियाकलापों के भौतिक परिवेश से विमुख होने पर ही संभव है; फिर भी यह इन्द्रियमय जगत् विधायक नैतिक विराग का विषय नहीं है। अपेक्षाकृत रूप से यह एक ऐसी वस्तु है, जिसे यथासंभव संगतिपूर्ण शुभ एवं सुंदर बनाने के लिए दार्शनिक पूरी तरह से सम्बंधित हैं। किंतु नव प्लेटोवाद में उस स्थिति की निम्नता का, जिसमें मानवीय आत्मा अपने शरीर के बंधन में पाती है, अधिक तीव्रता और दुःखदता के साथ अनुभव किया गया है, इसीलिए प्रथम पाप के रूप में आकारहीन पदार्थ की, जिससे दूसरा पाप शरीर उत्पन्न हुआ है और जिसके कारण आत्मा की उपस्थिति में सभी पाप होते हैं, की स्पष्ट स्वीकृति थी। तदनुसार हम यह कह सकते हैं कि प्लोटीनस का नीतिशास्त्र स्टोइको के नैतिक आदर्शवाद को प्रकृति से अलग करके प्रस्तुत करता है। मनुष्य का एकमात्र शुभ शरीर से भिन्न आत्मा के विशुद्ध बौद्धिक अस्तित्व में है। इस अवस्था में आत्मा बुराइयों और कमियों से पूर्णतया स्वतंत्र होगा। यदि वह अवस्था आत्मा की मौलिक सत्ता की स्वच्छंद क्रियाओं के द्वारा उपलब्ध होती है, तो कोई भी बाह्य या शारीरिक तथ्य उसके पूर्ण कल्याण को विधायक रूप में क्षति नहीं पहुंचा सकते हैं। प्लेटो के रिपब्लिक में विवेचित नागरिक सद्गुणों का केवल निम्नतम रूप प्रस्तुत है। ये सद्गुण उन पाशविक वासनाओं को मर्यादित करते हैं और उनका नियमन करते हैं, जिनकी आत्मा में उपस्थिति उसके शरीर के साथ संयुक्त होने के कारण है। दार्शनिक या उच्च प्रज्ञा, संयम, साहस और

न्याय वस्तुतः इस शरीर सम्बंध से शुद्धि हैं। शुभत्व का सबसे उच्चतम प्रकार तब उपलब्ध होता है, जब आत्मा का शरीर के साथ कोई सम्बंध नहीं होता और वह पूरी तरह बुद्धि की ओर मुड़ जाता है और ईश्वर की समानता को प्राप्त कर लेता है। हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्लोटीनस स्वयं भी इस अर्थ में प्लेटोवादी है, क्योंकि वे भी यह मानते हैं कि आत्मा की शुद्धि के लिए प्राकृतिक शारीरिक क्षुधाओं का पूर्ण विगलन आवश्यक है, किंतु यह निवृत्तिमार्गी निष्कर्ष अपनी पूर्ण व्यापकता के साथ उनके शिष्य पोरकिरी द्वारा प्रस्तुत किया गया।

यद्यपि नव प्लेटोवाद के पुद्गल से ऊपर उठने की दिशा में एक उच्च बिन्दु और भी है, जिस पर अभी पहुंचना है और यहीं प्लोटिनस की प्लेटो के आदर्शवाद से अलग होना कम आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि यह प्लेटो की शिक्षाओं पर निष्ठापूर्ण चिंतन का मौलिक परिणाम था। प्लेटो की तत्वमीमांसा की प्रमुख मान्यता यह थी कि सत् जितने अंश में है वह सत् है, निश्चित ही शेय एवं विचार का विषय है, ताकि मनस् जैसे ही इंद्रियगम्य पदार्थों से अमूर्तता की ओर एवं वास्तविक सत्ता को बोध के लिए प्रगति करता है, उसके विचार उतने ही निश्चित और स्पष्ट होते हैं। प्लोटीनस का कहना यह है कि सभी विचारों में किसी न किसी रूप में विभेद या द्वैत का भाव रहता है और वह, जिसे हम ईश्वर कहते हैं, विश्व का प्राथमिक तथ्य नहीं हो सकता है। उसे अवश्य ही इस द्वैत से परे अनिवार्य तथा एक अद्वैततत्व ही होना चाहिए अर्थात् एक ऐसी सत्ता, जो बिना विभेद और बिना निर्धारण के सत्तावान हो। तदनुसार मानवीय सत्ता का सर्वोच्च स्वरूप, जिसमें आत्मा परमसत्ता का साक्षात्कार करता है, अद्वय होगा। उस भावातिरेक या समाधि की अवस्था में सारी आत्मचेतना विलुप्त होगी और सभी विकल्पयुक्त विचारों का अतिक्रमण हो जाएगा। फोरफे री का कहना है कि उसके गुरु प्लोटीनस ने इस सर्वोच्च स्थिति को उन छह वर्षों में चार बार प्राप्त किया था, जबकि पोरफेरी उनके सान्निध्य में था।

नव प्लेटोवाद मूलतया यूनानी है और प्राचीन एथेन्स की भूमि पर विकसित होने के पूर्व इसके अस्तित्व की लगभग एक शताब्दी से अधिक व्यतीत हो चुकी थी, इसीलिए इसे अक्सर यूनानी की अपेक्षा यूनान का कहा जाता है। यह प्राचीन सभ्यता के ग्रीस की सभ्यता के साथ हुए मिश्रण का परिणाम है। यद्यपि निवृत्तिमार्ग और धार्मिकता के दृष्टिकोणों से उत्साहपूर्वक

व्याप्त होने वाले इसके चिंतन का स्वरूप कितना ही प्राचीन क्यों न हो, विचार का यह स्वरूप, जिसके कारण ये दृष्टिकोण दार्शनिक बन पाए थे, अनिवार्यतः ग्रीक हैं। इस स्वाभाविक विकास की पूर्ण बोधगम्य प्रक्रिया में स्टोइकवाद के द्वारा प्रस्तुत नैतिक चेतना की गम्भीरता एक महत्वपूर्ण भाग अदा करती है। यूनानी ज्ञान का प्रयास भावातिरेक की व्यवस्था की तैयारी के लिए उसे चरम उत्कर्ष पर पहुंचाता है। मनुष्य प्राकृतिक जीवन का यूनानी आदर्शीकरण शरीर और उसके कार्यों के प्रति विमुखता के रूप में समाप्त हो जाता है। इसके साथ ही यहां हमें प्लोटीनस के सिद्धांत और ग्रीक एवं हीबू विचारों के उस महत्वपूर्ण समानताओं को नहीं भूलना चाहिए, जिसे फिलोजूडस ने दो शताब्दी पूर्व विवेचित किया था, न तो नव प्लेटोवाद जुडा से फैलने वाले उस नए धर्म के सचेतन विरोध में विकसित हुआ था, जो कि प्लोटिनस के ग्रंथ रचनाकाल में ग्रीक रोमन जगत् की विषय को चुनौती दे रहा था और न इसने उस अंतिम भीषण संघर्ष को मुख्य सैद्धांतिक समर्थन दिया, जो कि बुलियन के नेतृत्व में प्राचीन बहुदेववादी पूजा पद्धति को बनाए रखने के लिए किया गया था। अब हम इस संघर्ष के असफल होने के पश्चात किंतु इन्हीं प्राचीन अवशेषों पर निश्चित रूप से स्थापित होने वाले विचारों के नए संसार की ओर मुड़ेंगे।

संदर्भ -

1. यह सुप्रसिद्ध पद मूलतः पाइथागोरीयन सम्प्रदाय के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है।

2. तुलना कीजिए - प्रत्यक्षमेवप्रमाणं

3. झेनोफोन मेमोरिबिलिया अध्याय II (प्लेटो जार्ज, पृष्ठ 519) तुलना कीजिए - यह नहीं समझ लेना चाहिए कि साफिस्ट कहे जाने वाले सभी लोकप्रिय व्याख्याताओं के द्वारा यह कार्य व्यवसाय के रूप में अपना लिया गया था, किंतु उनके एक महत्वपूर्ण वर्ग के द्वारा प्रमाणपूर्ण ढंग से एवं स्पष्ट रूप से इसे एक व्यवसाय मान लिया गया था। जैसा कि बाद में विवेचित किया गया है, सद्गुण के लिए प्रयुक्त ग्रीक शब्द का अर्थ सद्गुण से अधिक व्यापक है, इसलिए उसका भाषांतर मानवीय उत्तमताओं के रूप में किया गया है,

तथापि मनुष्य के संदर्भ में नैतिक उत्तमताओं का मुख्य अर्थ वही है, जिसे हम सद्गुण कहते है।

4. हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि इस कथन को उसी विशिष्ट अर्थ में समझा जाना है, जो कि अरस्तू के लिए प्रयुक्त होता है। अरस्तू दर्शन को मानवीय जीवन की अच्छाइयों एवं बुराई के अध्ययन से भिन्न मानता है। उसकी दृष्टि से यह अध्ययन बुद्धि का निम्न कोटि का प्रयास है, क्योंकि दर्शन शाश्वत सत्य का चिंतन है। अरस्तू के दृष्टिकोण में दर्शन जीवन जीने की विधि नहीं सिखाता है, लेकिन फिर भी मानवीय बुद्धि का चिंतन रूप सर्वश्रेष्ठ प्रकार है।

5. हमें यह ध्यान रखना होगा कि झेनोझोन सुकरात को आत्मसंयम का उपदेश देते हुए प्रस्तुत करता है। मुझे उसके आत्मसंयम की व्याख्या उसके दूसरे सिद्धांत के साथ संगतिपूर्ण ढंग से करने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती है, यदि हम आत्मसंयम को उस ज्ञान में निहित या उस ज्ञान का अनिवार्य परिणाम माने, जो इंद्रियासक्ति के निम्न मूल्यों की, उनमें निहित हानियों की तुलना करने से होता है। ज्ञान के भिन्न गुण के रूप में साधारण अर्थ में आत्मसंयम की आवश्यकता उसके द्वारा स्वीकृत नहीं हो पाई थी। निश्चित ही उसकी शिक्षाओं के सम्बंध में यह दृष्टिकोण अरस्तू की निकोमेशियन इथिक्स नामक ग्रंथ के रचयिता के द्वारा अपनाया गया था। यह अपने ग्रंथ के दूसरे अध्याय में लिखता है कि सुकरात ने इस सिद्धांत के सम्बंध में तर्क प्रस्तुत किए कि आत्मसंयम की आवश्यकता ही नहीं है।

(केवल भाषानुवाद किया गया है)।

6. देखिए - जेनोफ्रोन - मेमोरेबिलिया

7. कहा जाता है कि वे भूमि पर या तम्बू में सोते थे, एक ढीला चोगा ही उनकी वेशभूषा थी, जिसे सर्दी में दोहरा कर लेते थे, आग की बचत करने के लिए कच्चा मांस खाते थे।

8. सम्पत्ति की परम्परागत धारणा का इस सम्प्रदाय ने जानबूझकर जो तिरस्कार किया, जिसके कारण आज सिनिकल शब्द का अर्थ किया जाता है - पागलपन। वस्तुतः ग्रीक यह मानते थे कि इस सम्प्रदाय का नामकरण उस व्यायामशाला के नाम पर से हुआ, जहां ऐन्टिस्थेनीज शिक्षा देते थे। मोटे रूप से यह शब्द उनकी कुत्ते, जो

कि लज्जाहीनता का सूचक है, से निकटता बताता है।

9. कठिनाई यह है कि (1) अरस्तु प्लेटोवाद को हेराविलटस के ऐन्द्रिक अनुभवों की निरंतर परिवर्तनशीलता के सिद्धात एवं पाइथागोरस के संख्या के चरम् सत् होने के सिद्धांत के साथ ही साथ सुकरात की शिक्षा के समन्वय से उत्पन्न मानता है, किंतु नेगेरियन सम्प्रदाय में परमैनीडीज के एक अपरिवर्तनशील सत्ता का तथ्य स्पष्टतया सुकरातीय नहीं है, जबकि वह प्लेटो एवं युक्लिडस के मौलिक सम्बन्ध में पूरी तरह से प्रामाणिक है।

10. प्लेटो ने उन विभिन्न प्रकार के अदार्शनिक सद्गुणों में अंतर किया है जिनके नैतिक मूल्य अलग-अलग होते हैं, यद्यपि उन्होंने इन अंतरों के सम्बंध में कोई सुव्यवस्थित दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं किया है । इन सद्गुणों में सबसे निम्न स्तर पर वह साधारण विवेक है, जो कि ऐन्द्रिक बुराइयों का विरोध करता है, लेकिन यह विरोध अनुचितता के आधार पर नहीं, वरन् सुखों में एक संतुलन लाने की दृष्टि से किया जाता है। सबसे उच्च स्तर पर वे उत्तेजनाएं हैं, जो अदार्शनिक मनस् के द्वारा अभिव्यक्त होती है, किंतु जिनका प्रशिक्षण दर्शन के निर्देशन में होता है। इन अंतरों का रुचिकर विवेचन हमें आरचरहिन्द के द्वारा सम्पादित फिडो के परिशिष्ट 1 में मिलता है ।

11. इस पद का प्रयोग ईसाई धर्म में हुआ है। सर्वप्रथम यह एम्ब्रेस के ग्रन्थ में पाया जाता है।

12. व्यावहारिक और चिंतनपरक प्रज्ञा में अरस्तू ने अंतर स्पष्ट किया है, किंतु प्लेटो के दर्शन में व्यावहारिक और चिंतनपरक प्रज्ञा अवियोज्य रूप में संयुक्त है और रिपब्लिक में उसने इन दोनों पक्षों का पर्यायवाची रूप में प्रयोग भी किया है।

13. आधुनिक युग के प्रतिष्ठित लेखकों ने भी इस बात का समर्थन किया है इस विश्वास का कोई भी आधार नहीं है कि कल्याण या हित के प्रत्यय को प्लेटो के विरोध में अरस्तु ने मानवीय कर्मों के लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया था। इस विश्वास में निहित भ्रांति भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं रह जाती है, यदि हम सुख शब्द का आनंद के रूप में भाषांतर नहीं करें। इस भाषांतर के परिणामस्वरूप बहुत कुछ निश्चितता के साथ सुखद अनुभूतियों के घटक का सर्वस्व मान लिया गया था, जबकि प्लेटो सत्कर्म को कल्याण का प्राथमिक घटक मानते हैं। (देखिए पृ. 56, टिप्पणी 2)

14. इस संवाद में विवेचित विषय मूलतया सद्गुण और दुर्गुण का प्रश्न है, जो कि प्लेटोवाद की विशिष्टता है, जबकि अपने आधार के बिना किसी स्वीकृत परिवर्तन के अंतिम रूप से यह प्रश्न दार्शनिक जीवन और शुद्ध आकांक्षामय या ऐन्द्रिक सुखभोग के जीवन के बीच चर्चित रहा है।

15. प्लेटो के सु ख एवं दुःख के भौतिक सिद्धांत का आधुनिक एवं सर्वाधिक विकसित रूप उसके ग्रंथ टाइमारस के पृष्ठ 64-65 में पाया जाता है। उसमें संवेदना की व्याख्या शरीर के अंगों में मांसपेशियों की गति के रूप में की गई, जिनके सूक्ष्म अंग गतिशील अवस्था में रहते हैं। यदि गति तीव्र और यकायक विक्षुब्ध करने वाली होकर उस अंग की स्वाभाविक अवस्था को प्रभावित करती है, तो दुःख या पीड़ा होती है, लेकिन जब गति की तीव्रता या अंग की स्वाभाविक अवस्था में जाने की क्रिया क्रमिक होती है और उसकी स्पष्टतः अनुभूति नहीं हो पाती है, तो उसके परिणामस्वरूप बिना परवर्ती सुख के दुःख या बिना पूर्ववर्ती दुःख के सुख हो सकता है।

16. इसका यह नाम उस व्यायामशाला के आधार पर पड़ा, जो कि उस बगीचे के समीप थी, जिसमें प्लेटो शिक्षा देता था और जो उसके शिष्यों के द्वारा उसे समर्पित कर दी गई थी और बाद में इस संस्था के परवर्ती आचार्यों को उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त होती रही।

17. मैं आगमन शब्द का अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग कर रहा हूं। आगमन का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जो विशेष प्रकथनों से प्रारम्भ होकर अधिक सामान्य निष्कर्षों पर पहुंचती है।

18. इस पद का सामान्यतया अंग्रेजी अनुवाद आनंद के रूप में किया जाता है। हम यह मान सकते हैं कि यह बहुत ही स्वाभाविक शब्द है, जिसे हम हमारे अस्तित्व के लक्ष्य का उद्देश्य कहने में सहमत हो सकते हैं, लेकिन अंग्रेजी शब्द जिस निश्चितता के साथ अनुभूति की जिस अवस्था को सूचित करता है वह इस पद की व्याख्या में निहित नहीं है, जो अरस्तू ने (प्लेटो और स्टोरइको ने भी) प्रस्तुत की थी, इसलिए किसी बड़ी गलती से बचने के लिए मुझे यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इस शब्द का भाषांतर प्रचलित शब्द हित या कल्याण के रूप में किया जाए। (देखिए-पृष्ठ 48 की टिप्पणी)

19. मुझे लगता है कि आचरण के संदर्भ में प्रयुक्त सुंदर और शुभ के प्रत्ययों में

तादात्म्य करने में अरस्तू प्लेटो और सुकरात का अनुसरण करते हैं। हम यह देख सकते हैं कि शुभ शब्द सद्‌गुणी व्यक्ति का परिचायक है और सामान्यतया साध्य का पर्यायवाची है, जबकि सुंदर शब्द सद्‌गुणात्मक कार्य के गुण को अभिव्यक्त करने के लिए चुना गया है, जो किसी भी स्थिति में सद्‌गुणी कर्त्ता का साध्य होता है। निस्संदेह अरस्तू इसके सम्बंध में विचार करते समय ग्रीक जनता की सहज बुद्धि का प्रतिनिधित्व करता है। जहां तक सद्‌गुण सद्‌गुणी व्यक्ति के लिए स्वतः शुभ है, वहां तक वह शुभ के उस वर्ग का सदस्य है, जिसे हम सुंदर से अलग कर सकते हैं, बाद के ग्रीक दर्शन में सुंदर शब्द नैतिक शुभ के पारिभाषिक शब्द के रूप में अधिक रूढ़ हो गया। सद्‌गुण 'अति आधिक्य' और 'अति अभाव' की परस्पर विरोधी गलतियों का सफलता पूर्वक निरसन करने में अभिव्यक्त होता है। 'स्वर्णिम माध्य' या अनुभूति की उचित मात्रा और बाह्य क्रिया, जिसमें सद्‌गुण पाया जाता है, केवल संभावित वैकल्पिक अंतों के मध्य गणितीय औसत के समान नहीं है, वह प्रत्येक स्थिति में कर्त्ता और कार्य की परिस्थिति के आधार पर निर्धारित होता है। वस्तुतः यह तो अनुचित अंतो में अक्सर एक के निकट होता है। उदाहरणार्थ साहस कायरता की अपेक्षा दुस्साहस के अधिक निकट है। सम्यक् माध्य का असंदिग्ध निर्धारण तो व्यावहारिक प्रज्ञा से युक्त व्यक्ति के तर्क एवं निर्णय के द्वारा ही दिया जा सकता है।

20. मैंने इस पद का परम्परागत अनुवाद किया है। अलग हटना उचित नहीं समझा है, लेकिन मैं यह मानता हूं कि अरस्तू की इस पद का परिभाषा की दृष्टि से इसका अनुवाद साहस की अपेक्षा शूरवीरता का वर्त्तमान में प्रयोग है, जिसका प्रयोग केवल युद्ध के संदर्भ में ही करते हैं। जैसाकि हम देखते हैं, अरस्तू ने भी इस पद का इसी संदर्भ में उपयोग किया है।

21. मैं अरस्तू के नीतिशास्त्र के भाग 7, जिसमें इस विषय की चर्चा की गई है तथा भाग 5 और 6 को उसी अर्थ में अरस्तू की कृति नहीं मानता हूं, जिस अर्थ में उसका ग्रंथ उसकी कृति है, लेकिन मेरी दृष्टि में इन्हें इस ग्रंथ के सम्पादन करते समय उसके शिष्यों ने उसके शुद्ध सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए जोड़ दिया है, ताकि वे इस टिप्पणी से सम्बंधित अनुच्छेद (पेराग्राफ) में वर्णित अरस्तू के संक्षिप्त एवं सामान्य दृष्टिकोण के औचित्य को सिद्ध कर सकें। यही बात वाद के न्याय, बौद्धिक अच्छाइयों और व्यावहारिक बुद्धि के सम्बंध में भी है।

22. यह ध्यान रखना होगा कि प्लेटो की शिक्षाओं ने उन्हें पुनः अपने स्थान पर ला

दिया।

23. योगदान का अर्थ नैतिक महत्व नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः यह योगदान का महत्व परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है, इस प्रकार, जब सामाजिक धनराशि के वितरण के प्रश्न पर प्रत्येक नागरिक का योगदान सामाजिक कोष में उसके द्वारा दिए गए योगदान पर निर्भर होगा।

24. क्योंकि वह विधायक नियमों के द्वारा ही पारस्परिक व्यवहार का निर्धारण करता है (अनु.)।

25. 'संक्रमणक सम्प्रदाय', यह शब्द घूमते रहने से निकला है और अरस्तू के अनुयायियों के लिए प्रयुक्त किया जाता है, क्योंकि अरस्तू जिस व्यायामशाला में व्याख्यान देता था, उसके छायादार क्षेत्रों में इधर-उधर घूमते हुए अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करता था।

26. मैंने 'मूल संस्थापक' शब्द का उपयोग इसलिए किया कि क्रिसीमस (लगभग 280 से 206 ई.पू.) ने स्टोइक सम्प्रदाय के विकास में जो योगदान दिया, वह झेनो की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण नहीं था। एक कवि का कथन है कि क्रिसीमस के बिना पोर्च का स्टोइकवाद नहीं होता।

27. देखिए, पृष्ठ 83

28. सुझाव के रूप में यह कहा गया है कि स्टोइकवाद के लिए सिनिकवाद ऐसा ही था, जैसे प्रारम्भिक ईसाई धर्म के लिए संन्यासवाद। यद्यपि इस तुलना पर अधिक बल नहीं देना चाहिए, क्योंकि कट्टर स्टोइक सिनिकवाद को अधिक पूर्ण मार्ग के रूप कभी नहीं मानते। यद्यपि वे यह मानते हैं कि सिनिकवाद सद्गुण की प्राप्ति का छोटा रास्ता है और एक सिनिक, जो मनीषी बन जाता है, उसे सिनिकवाद का पालन करना चाहिए। हम यह पाते हैं कि इपिकटैटस सुकरात और दूसरे नैतिक महान् व्यक्तियों को भी सिनिक नाम देता है।

29. पसंद, श्रेय (पसंदगी के योग्य) और शुभ के अंतर के लिए देखिए पृष्ठ 78-79,

30. स्टोइक इस बारे में पूर्ण सहमत नहीं हैं कि एक बार प्राप्त कर लेने पर सद्गुण अपरिवर्तनीय होता है, किंतु वे इस बारे में सहमत हैं कि उसे स्वयं बुद्धि से ही खोजा जा सकता है।

31. चारों सद्गुणों की स्टोइकों की परिभाषा में बहुत कुछ परिवर्तन हुए हैं। प्लूटोज़ के अनुसार झेनो ने न्याय को वस्तुओं के वितरण के विवेक के रूप में, मिताचार (संयम)

को वस्तुओं के चुनाव के विवेक के रूप में और सहनशीलता को सहन करने के विवेक के रूप में परिभाषित किया है। इस कथन को इस सम्प्रदाय के दृष्टिकोण का परिचायक जाना जा सकता है।

32. इस सम्प्रदाय के सदस्यों ने सद्गुण या ज्ञान की परिभाषा को स्वीकार नहीं करते हुए भी उसे शक्ति और बल के रूप में परिभाषित किया। स्टोइकों ने भौतिक दृष्टि से शक्ति को ईथर का एक तनाव माना। उनकी दृष्टि में यह बल ही आत्मा का तत्त्व है। देखिए, टिप्पणी 1, पृष्ठ 78

33. ड्यटी नामक पद का अनुवाद कर्त्तव्य के रूप में करना सम्भवतः भ्रांतिजनक होगा, क्योंकि कर्त्तव्य के नाम जाना जाने वाला कोई भी कार्य जब तक सत्प्रेरणा के द्वारा नहीं किया जाता वह सत्कर्म नहीं कहला सकता। सत्प्रेरणा अर्थात् मन की विशुद्ध विवेकपूर्ण अवस्था है, जिसके अभाव में सत्कर्म मात्र बाह्य समायोजन ही होगा।

34. यह पंक्ति क्लेनथस से उद्धृत की गई है, जिसने झेनो और क्रिसीपस के बीच स्टोइक सम्प्रदाय की अध्यक्षता की थी।

35. यश-कीर्त्ति के सम्बंध में स्टोइको के दृष्टिकोण में मतभेद प्रतीत होता है। जब प्रारम्भ में इस सम्प्रदाय पर सिनिकवाद का प्रभाव था, उन्होंने इसके प्रति आंतरिक एवं बाह्य-दोनों दृष्टि से उदासीनता प्रकट की, किंतु अंत में उन्होंने जन साधारण के दृष्टिकोण को अपना लिया और यश-कीर्त्ति को वरेण्य मान लिया।

36. यह उदाहरण विभिन्न स्टोइक विचारकों ने अनेक बार दिया है, किंतु मुझे उस महत्वपूर्ण सिद्धांत के संदर्भ में, जिससे मैंने इसे जोड़ा है, यह अधिक संगत लगता है और सिसरो के आधार पर हमें यह पता लगता है, इसका इस प्रकार इस उदाहरण का उपयोग इस सम्प्रदाय के दूसरे सदस्यों ने भी किया है।

37. सामान्यतया स्वीकृत सिद्धांत लगता है कि स्टोइक मनीषी, जब तक उसे कोई विशेष बाधा रोकती नहीं है, वह सामाजिक जीवन में भाग लेता है। यद्यपि इस सम्प्रदाय के आलोचक यह मानते हैं कि स्टोइक दार्शनिकों को व्यवहार में ऐसी बाधाएं अक्सर मिलती हैं।

38. जहां तक मैं जानता हूं, निश्चित ही यह परिवर्तन सिसरो के पूर्व नहीं आया था।

39. सिरनेक्स के द्वारा यह मान लिया गया था कि एक मनीषी भी अविच्छिन्न आनंद

का जीवन नहीं जी सकता है। इस सम्प्रदाय के सबसे अधिक स्पष्टवादी विचारक थियोडोरस ने स्पष्ट रूप से यह बताया है कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में मनीषी भी चोरी, व्यभिचार और धर्म विरोधी आचरण कर सकता है।

40. हेमाक्रिटस के भौतिक शास्त्र में जो महत्वपूर्ण परिष्कार इपीक्यूरस के द्वारा किया गया था, वह अधोगामी अणुओं के सम्बंध में था। वह भी हेमाक्रिटस के समान ही यह मानता है कि पदार्थों के मूलतत्त्व अत्यंत सूक्ष्म रूप से स्वतः विचलन करने की प्रवृत्ति रखते हैं। यह कल्पना अणुओं के संघटन के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक थी। अणुओं के इस संगठन का परिणाम ही सृष्टियों की रचना है। पुनः, इसी धारणा का उपयोग मनुष्यों में संकल्प की स्वतंत्रता की भौतिक व्याख्या के लिए किया गया, जो कि इपीक्यूरस के विचार में नैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह संकल्प की स्वतंत्रता की धारणा स्टोइकवाद की मान्यता के विरोध में थी। पूर्व में मैंने यह भी बताया है कि इपी क्यूरस के इस नैतिक दृष्टिकोण की आंशिक पूर्व कल्पना हेमाक्रिटस ने भी की थी। उसका सिद्धांत हेमाक्रिटीयन और सिरेनेक तत्त्वों के समन्वय से उत्पन्न हुआ माना जा सकता है।

41. यह ध्यान देने योग्य है कि वह अपनी दार्शनिक व्याख्याओं में दासों या स्त्रियों के सहयोग की अवहेलना नहीं करता है।

42. अरस्तू के शिष्यों के प्रति इपीक्यूरस का अंतिम आरोप यह था कि वह अंधविश्वासी है।

43. हमें अरस्तू के द्वारा यह ज्ञात होता है कि यडोकसस ने, जो सम्भवतः किसी समय इस सम्प्रदाय का सदस्य रह चुका था, अपने मुख्य निकाय के विरोध में परम शुभ की विशुद्ध सुखवादी व्यवस्था अपना ली थी और स्पीयूसिपस का सुखवाद विरोधी दृष्टिकोण अस्थायी रहा, क्योंकि क्रान्टोर ने अपने शुभों की सूची में सुख एवं स्वास्थ्य को बाद में और सम्पत्ति को पहले स्थान दे दिया था।

44. यह ध्यान देने योग्य है कि प्लेटो की अकादमी के सम्प्रदाय ने शीघ्र ही नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के अंतर को तात्त्विक रूप से स्वीकार कर लिया, जिसका प्लेटो के विरोध में अरस्तू ने समर्थन किया था। जैसा कि कहा गया है, झेनोक्रेट्स ने दो प्रकार की प्रज्ञा को अलग-अलग किया है। एक व्यावहारिक प्रज्ञा और दूसरी विमर्शात्मक प्रज्ञा। विमर्शात्मक प्रज्ञा प्रथम कारण और अतीन्द्रिय सत्ता से सम्बंधित है, यह उसकी

शाब्दिक श्रद्धा ही है, जो उसे पूरी तरह से अरस्तूवादी होने से रोकती है।

45. इस संतुलन के भी विभिन्न स्तर हैं, किंतु किसी भी स्थिति में यह बहुत अधिक संतुलित नहीं है। यदि हम उस दृष्टि से विचार करें, जिसको अरस्तू के उत्तराधिकारी थियोफ्रेस्टस के द्वारा मानने के कारण आलोचना की गई थी, वह मानता था कि पीड़ा की एक ऐसी मात्रा भी है, जो एक शुभ व्यक्ति को भी सुखी होने से रोकती है।

46. आर्केसिलिअस की नैतिक शिक्षाओं के इस दृष्टिकोण के सम्बंध में झेपर का अनुसरण करना, यह अनेक उद्धरणों पर आधारित है, यद्यपि मैं यह कहना चाहूंगा कि दूसरे विचारक आर्कसिलिअस के सन्देहवाद को पायरो के सन्देहवाद के लगभग अभिन्न ही मानते हैं।

47. एन्टीओकस के गुरु एवं पूर्वाधिकारी झिलो की स्थिति कार्नडीज और एन्टीओकस के बीच की है और तदनुसार उन्हें चतुर्थ अकादमी के संस्थापक के रूप में माना जाता है, क्योंकि एन्टीओकस को पांचवीं अकादमी का संस्थापक माना जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि ऐन्टीओकस कुछ स्टोइक विरोधाभासों को अस्वीकार करता है, जैसे सभी बुराईयां समान रूप से पाप हैं, सद्गुण पूर्ण कल्याण के लिए सक्षम है।

सिसरो के द्वारा हम यह भी जानते हैं कि स्टोइको के साथ ही झिलो भी यह मानता था कि मनीषी ही सच्चा, सम्पन्न, सुंदर, स्वतंत्र और शाही व्यक्ति है।

48. लगभग 130 से 110 ई.पू.।

49. स्टोइकों के परम्परागत विरोधी अकादमी के विद्वानों या चक्रमण सम्प्रदायवादियों ने न तो कभी सभी प्रतिस्पर्धी इच्छित विषयों की अपेक्षा सद्गुण की निरपेक्ष वरेण्यता पर और न कभी सद्गुणों की कल्याण के हेतु किसी सीमा तक सक्षमता पर विवाद ही किया। यदि उनका विवाद था, तो सद्गुणों की कल्याण के हेतु पूर्ण सक्षमता पर था।

50. सिसरो अपने को सदैहवादी अकादमी का अनुयायी बताता है, किंतु संशयवाद के प्रति उसकी आस्था अधिक न्याय के एवं अदार्शनिक प्रकार की ही प्रतीत होती है। नीतिशास्त्र की दृष्टि से, जिससे अभी हमारा सम्बंध है, वह सदैहवादी न होकर समन्वयवादी है।

51. हमनें यहां सुख-प्रदाता या सुख के निर्माता पद का प्रयोग किया है,

क्योंकि यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक स्टोइकों से भिन्न सिसरो सद्गुणात्मक कार्यों से उत्पन्न परिणाम मानता है, न कि वह तत्त्व, जिसका सद्गुणात्मक कार्य एकमात्र एवं मुख्य घटक है।

52. यहां हमने आकर्षक 'ब्यूटीफुल' का व्युत्पत्तिमूलक सुंदर अनुवाद नहीं करके उसका अधिक स्पष्ट नैतिक अर्थ, उदात्त या सम्माननीय ही किया है।

53. सेवस्टी सम्प्रदाय के संस्थापक क्यूइन्टस सेवस्टीअस का जन्म लगभग 70 ई.पू. हुआ था। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए, यही एक ऐसा नीतिशास्त्र का सम्प्रदाय है, जो अपनी जन्मभूमि के रूप में रोम का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि केवल सरसरी तौर पर और संक्षिप्त सर्वेक्षण की दृष्टि से इसका कोई स्वतंत्र दार्शनिक अस्तित्व या महत्त्व है। मुख्य रूप से यह पाइथागोरीयन तत्त्वों के मिश्रण से स्टोइकवाद का एक रूपांतरण है, किंतु नैतिक उत्साह की तेजस्विता और सूक्ष्म तर्क-वितर्क के प्रति तिरस्कार की भावना के रूप में इसने अपनी रोमीय उत्पत्ति को अभिव्यक्त किया है।

अध्याय - 3

ईसाई धर्म एवं मध्ययुगीन नीतिशास्त्र

प्रस्तुत विवेचना में हमारा सम्बंध न तो ईसाई धर्म की उत्पत्ति से है और न उसके इतिहास से ही। ईसाई धर्म प्रथम तीन शताब्दियों में निर्विघ्न रूप से विकसित होता रहा और उसने ग्रीक-रोमन धर्म के ऊपर अंतिम रूप से विजय प्राप्त कर ली, किंतु वह कान्सटेन्टिनोपल में केंद्रित है, लेकिन सभ्यता के ह्रास को रोकने में असमर्थ रहा, साथ ही वह सातवीं शताब्दी में अरब में उत्पन्न नवीन धार्मिक गतिविधियों की शक्ति के सामने दक्षिण एवं पूर्व में अपने को बनाए रखने में सफल नहीं हो सकता, फि र भी वह बर्बर लोगों के पश्चिमी साम्राज्य की सामाजिक दुर्व्यवस्था को नियंत्रित करने में सफल रहा। उसका मुख्य योगदान उस दुर्व्यवस्था में से एक ऐसी नई सभ्यता का विकास करना था, जिसमें हम लोग आज रह रहे हैं। ईसाई धर्म बदलते हुए एवं जटिल सम्बंधों, राजनीतिक व्यवस्थाओं, सामाजिक जीवन, विकासशील विज्ञान और हमारे वर्त्तमान विश्व की साहित्यिक एवं कलात्मक संस्कृति के साथ तबं से आज तक खड़ा रहा है, किंतु प्रस्तुत विवेचना में हमारा सम्बंध उपरोक्त बातों से नहीं है और न हमें उन विशेष सिद्धांतों का अध्ययन करना है, जिन्होंने ईसाई समुदायों को एक सूत्र में बांध कर रखा है। हमारा विवेच्य विषय केवल उसके सिद्धांतों का नैतिक पक्ष है अथवा उन सिद्धांतों का मानवीय जीवन के साध्य एवं क्रियाओं को सुनियोजित करने में उसका पड़ने वाला प्रभाव है, यद्यपि यह पहलू ईसाई धर्म की विवेचना में अनिवार्यतया प्रमुख होना चाहिए था, किंतु यदि हम केवल ईश्वर द्वारा प्रतिपादित उसके धार्मिक विश्वासों की ही विवेचना करते हैं, तो इस पक्ष पर पूर्णतया प्रकाश नहीं डाला जा सकता है, किंतु वह समग्र मनुष्य को शासित करने का दावा करता है और मनुष्य के जीवन का कोई भी भाग उसकी नियामकता और संक्रमित प्रभावों से अछूता नहीं रह जाता है। ईसा की चौथी शताब्दी तक ऐसा कोई भी प्रयास नहीं हुआ, जिसे ईसाई नैतिकता को व्यवस्थित रूप से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कहा जा सके। पुनः, कैथोलिक चर्च के नैतिक सिद्धांतों को पूर्णतया वैज्ञानिक रूप देने के लिए महान् ग्रीक चिंतकों के गहन अध्ययन के द्वारा प्रशिक्षित एक सच्ची दार्शनिक प्रज्ञा को विकसित होने में 900 वर्ष और लग गए। थामस एक्विनास में अपने परमबिंदु पर

पहुंचने वाले नैतिक विचारों के विकास के एक संक्षिप्त अध्ययन के पूर्व यह उचित होगा कि हम उस नवीन नैतिक चेतना के मुख्य अंगों की समीक्षा करें, जो ग्रीक रोमन सभ्यता के द्वारा व्यापक बनकर दार्शनिक समन्वय की प्रतीक्षा में थी। इस समीक्षा के लिए सर्वप्रथम ईसाई नैतिकता के सामान्य लक्षणों अथवा उसके नए स्वरूप पर विचार करना सुविधाप्रद होगा। उसके पश्चात् सद्गुण और कर्त्तव्य सम्बंधी उन विशेष बातों की विवेचना करना उचित होगा, जो कि नए धर्म से प्रभावित हैं या जिनमें एक महत्वपूर्ण विकास हुआ है।

ईसाई एवं यहूदी ईश्वरीय नियम

धर्मतंत्रीय समाज के विधायक नियम के रूप में नैतिकता के विचार में सर्वप्रथम यह ध्यान रखना आवश्यक होगा कि यह विधान ईश्वर के द्वारा निर्मित एवं प्रभावशील एक लिखित नियम है और ईश्वरीय आश्वासन तथा भय के द्वारा नैतिक लक्ष्य (अंकुश) को प्राप्त करता है। यह सच है कि सुकरात के बाद से ही प्राचीन मान्यताओं में हमें एक अनादि एवं अपरिवर्तनीय ईश्वरीय नियम का विचार मिलता है, जो कि वास्तविक मानव समाज के विभिन्न परिवर्तनशील नियमों एवं रीतिरिवाजों के द्वारा आंशिक रूप में अभिव्यक्त और आंशिक रूप में तिरोहित रहा। किंतु इस नियम की बाध्यताओं को बड़े ही अस्पष्ट रूप से और अधिकांश रूप में दुर्बल ढंग से कल्पित किया गया। इसके सिद्धांत मुख्यतया अलिखित एवं अप्रस्थापित थे और इस प्रकार उस सर्वशक्तिमान् की बाह्य इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं है, जो कि श्रद्धापूर्वक समर्पण की अपेक्षा करती है, अपितु देवताओं और मनुष्यों में उपस्थित प्रज्ञा है, जिसके अभ्यास से इस शाश्वत नियम को पूर्णतया जाना और परिभाषित किया जा सकता है। यदि इस युग में प्राचीन नैतिक विचारों की अपेक्षा नियम का प्रत्यय प्रमुख बना है, फिर भी यह नैतिकता को दार्शनिक विवेचना से भिन्न न्यायिक विवेचना की ओर नहीं ले जा सका। दूसरी ओर, ईसाई धर्म में नैतिक विवेचनाओं में शुभाचरण के निर्धारण की पद्धति बहुत कुछ उसी प्रकार की मिलती है जिस प्रकार एक विधिवेत्ता किसी नियम की व्याख्या करता है। यह मान लिया गया था कि जीवन के सभी अवसरों के लिए अव्यक्त रूप से ईश्वरीय आदेश दिए गए हैं और वे नियम विशेष अवसरों में आगमों (धर्म ग्रंथों) में प्रतिपादित सामान्य नियमों के द्वारा अथवा आगमों में प्रस्तुत समान उदाहरणों के द्वारा निरूपित किए जा सकते हैं। यह विधानात्मक पद्धति यहूदी धर्मतंत्र के द्वारा आई थी और जिसका ईसाई धर्म में समन्वयीकरण

किया गया था। ईसाई धर्म के अव्यवस्थित पूर्ववर्ती युग के यहूदी विचारकों के अनुसार नैतिक अंतर्दृष्टि को ऐसा देवीय विधान का ज्ञान माना गया था, जो कि मानवीय बुद्धि से परे ईश्वर से उत्पन्न होता है। मानवीय प्रज्ञा का कार्य केवल उन नियमों की व्याख्या करना है और उन्हें जटिल स्थितियों में लागू करना है। इस नियम के पालन करने के सामान्य प्रेरक ईश्वरीय वचन के प्रति विश्वास और उस देवीय विधान निर्माता के निर्णय का भय है, जिसने कि इस शर्त पर यहूदियों की रक्षा की प्रतीक्षा की थी कि वे उसकी आज्ञा का पालन करेंगे। नियम का ज्ञान जिस स्रोत के द्वारा उपलब्ध होगा, वह जटिल ही रहा और एक प्रगतिशील समाज के विधिशास्त्र के द्वारा अभिव्यक्त होता रहा। ऐसा माना जाता है कि मौलिक या आधारभूत नियम मोसेस के द्वारा लिखे गए एवं प्रवर्तित किए गए और दूसरे नियम परवर्त्ति पैगम्बरों (ईश्वर दूतों) के भावनापूर्ण कथनों के द्वारा अभिव्यक्त हुए। दूसरों ने इन्हें भौतिक रूप से बहुत ही प्राचीनकाल से पाया है या उन्हें मिले हैं। इस प्रकार निषेधाज्ञाओं और विधि–आज्ञाओं के निकाय की रचना यहूदी धर्म के द्वारा ईसाई धर्म को उत्पन्न होने के पहले ही हो चुकी थी और अध्ययनशील लोगों तथा अध्येताओं की अनेक पीढ़ियों के द्वारा उनकी व्याख्याओं तथा पूरक नियमों की रचना के द्वारा बाह्य रूप में विकसित हो चुकी था। ईसाई धर्म ने लिखित ईश्वरीय विधान का प्रत्यय सच्चे इसराइल से उत्तराधिकार में पाया। वह सच्चा इसराइल, जो कि सम्भवतः अब सम्पूर्ण मानव जाति या सब देशों के कुछ चुने हुए लोगों को अपने में अंतर्निहित करता है, उसकी ईमानदारीपूर्वक स्वीकृति पर इसराइल के प्रति ईश्वरीय वचनों का मान आधारित है। यद्यपि पुराने हिन्दू-नियम के कर्म-कांडात्मक भाग को और उसकी पूरक परम्परा एवं बहुश्रुत टीकाओं पर आधारित विधिशास्त्र को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया गया था, तथापि यह माना गया कि ईश्वर का नियम पवित्र यहूदियों की पुस्तक में मौजूद है। इस ईश्वर के नियम की ईसा की शिक्षाओं के उल्लेखों और उसके पटशिष्यों के द्वारा एक संघ व्यवस्था का निर्माण किया गया, जो कि मुख्यतया राज्य से भिन्न थी। प्रारम्भिक ईसाइयों की राजनीतिक जीवन से अलग करके तथा राजकीय भक्ति के रूप में थोपे गए मूर्त्ति पूजा सम्बंधी कर्मकांड का निर्णय करके तथा जो लोग ऐसा करते थे, उनके लिए दण्ड की व्यवस्था करके दोनों के अंतर को स्पष्ट एवं कठोर बनाया गया। जब एक ऐसे संघ का प्रसार होने लगा, जो कि प्राचीन समाज व्यवस्था का स्पष्ट विरोधी था, तो साम्राज्य-शासन के लिए एक महत्वपूर्ण खतरा उत्पन्न हो गया। यह विभेद कन्सटेन्टिने के द्वारा ईसाई

धर्म को राज्यधर्म स्वीकार कर लेने पर भी नहीं मिटाया जा सका। ईश्वरीय नियम और उसके व्याख्याता, रोमन साम्राज्य के धर्म निरपेक्ष नियम और विधिवेत्ताओं से बिलकुल अलग ही रहे, फिर भी ईश्वरीय नियम सम्पूर्ण मानवजाति के लिए पालनीय था। ईसाई धर्म संघ ऐसे व्यक्तियों का समुदाय था, जो कि उस ईश्वरीय नियम को पालन करने के लिए वचनबद्ध था तथा उसके पालन करने का अधिकारी अपने को मानता था, एक ऐसा धर्म-संघ, जिसमें पवित्र संस्कारों के आध्यात्मिक जन्म के बिना प्रविष्ट नहीं हुआ जा सकता था।

इस प्रकार नैतिकता और मानवीय विधानों का मुख्य अंतर नैतिकता के विधिक स्वरूप के आधार पर ही स्पष्ट किया जा सकता है। नैतिक विधान की चरम बाध्यता (अंकुश) अमर आत्मा को भावी में जीवन मिलने वाले असीम पुरस्कार अथवा दण्ड के रूप में मानी गई, लेकिन जब वे आत्मबलिदानी और धर्मवीर की अपरिवर्तनीय निष्ठा में अभिव्यक्त हुए इस आकारिक एवं नियामक पश्चाताप का धर्मत्याग से लेकर दूसरे जन्म तक विस्तार किया गया जबकि छोटे अपराधों के लिए संघ के सदस्यों को सामान्यतया अनुज्ञा प्राप्त सुखों का भी त्याग करना होता था, तथा साथ ही साथ वैयक्तिक एवं सामूहिक धर्म साधना में मौखिक रूप से पश्चाताप करना होता था। इस प्रकार तपस्या नैतिक नियमों की गिरजे सम्बंधी कालिक बाध्यता या अंकुश के रूप में आई। इन नैतिक बाध्यताओं का विकास स्वाभाविक रूप से अधिक सूक्ष्म एवं सजग होता गया। इसके साथ-साथ ही अपराधों का विस्तृत वर्गीकरण और चर्च के सामान्य उपवासों और उत्सवों सम्बंधी नियमों की विवेचना आवश्यक हो गई थी। इस प्रकार आचरण सम्बंधी विधि-निषेधों और धार्मिक विधि-विधानों का गिरजे सम्बंधी विधिशास्त्र तैयार हो गया, जो कि उस यहूदी विधिशास्त्र के बहुत कुछ समान ही था, जिसे अस्वीकार कर दिया गया था। इसी समय इस बाह्य कर्तव्यों की सूची को प्रमुख बनाने और विकसित करने की प्रवृत्ति का ईसाई धर्म में ही उसके प्रवर्तक की यहूदी विधानवाद के विरोध की अविस्मृत स्मृति के द्वारा समायोजन एवं विरोध किया गया। वस्तुतः इस विरोध का प्रभाव दूसरी एवं तीसरी शताब्दी के गूढ़ ज्ञानवादी सम्प्रदाय के द्वारा अतिरंजित रूप में एवं बेतुके ढंग से समझाया गया जो कि बाह्य कर्त्तव्य सम्बंधी नियमों को एक खतरनाक ह्रास की दिशा में ले गया। कभी-कभी (यदि परम्परागत विरोधियों के आक्षेप पूरी तरह से अमान्य न हों) तो आचरण की स्थूल अनैतिकता और उसी के समान दूसरी प्रवृत्ति गिरजे के इतिहास में दूसरे

युगों में पाई जाती है। यद्यपि ऐसा विरोधी दृष्टिकोण सामान्यतया ईसाई धर्म की नैतिक चेतना के द्वारा पूरी तरह से अस्वीकृत किया गया। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह अंतरात्मकता अर्थात् आत्मा और हृदय की सम्यक्ता ईसाई शुभत्व का मुख्य एवं विशिष्ट लक्षण है। वस्तुतः यह भी नहीं मानना चाहिए कि केवल बाह्य कर्तव्यों की पूर्ति के अतिरिक्त किसी अन्य आवश्यकता को परवर्ती यहूदी धर्म के द्वारा भुला दिया गया था। गुरु हमवादी पांडित्य भी दसवें आदेश में बुरी इच्छाओं के दमन को नहीं भुला सका था। परवर्ती पैगम्बरों के द्वारा विधि विधानों के विवरण में ईश्वर की हार्दिक एवं प्रेमपूर्ण सेवा की - आवश्यकता पर अथवा विनम्रता और श्रद्धा को हृदय में धारण करने पर अधिक जोर दिया गया। तलभूत का कहना है कि वस्तुतः एवं मात्र फेरिसी (पाखंडी) वह है, जो अपने पिता की आज्ञाओं का अनुसरण इसलिए करता है, क्योंकि वह उस पिता से प्रेम करता है। किंतु यह सत्य है कि एक धर्मशास्त्री और एक पाखंडी के आचरण की उचितता के विरोध में हमेशा अंतर्मुखता की आवश्यकता को प्रतिपादित किया गया है, जो कि ईसाई नियमों का एक विशिष्ट लक्षण है। अंतर्मुखता केवल निषेधात्मक नहीं है जो कि बुरी इच्छाओं और बुरे कार्यों का निरोध करती है किंतु उसमें आत्मा की आंतरिक अवस्था की एक विधायक साधुता भी निहित है।

ईसाई और अन्य विचारकों की अंतरात्मकता

इस सम्बंध में ईसाई धर्म की तुलना स्टोइकवाद से की जाना अपेक्षित है। यदि हम सुखवादी सम्प्रदायों को छोड़ देते हैं तो वस्तुतः यह तुलना न केवल स्टोइकवाद में वरन् सभ्ज्ञी अंध गैर ईसाई नैतिक दर्शनों से भी की जा सकती है। उद्देश्य की सम्यक्ता और सद्गुण का स्वतः साध्य के रूप में चुनाव और दुर्वासनाओं को ऐच्छिक दमन को अरस्तू-वादियों ने नीतिशास्त्र का महत्वपूर्ण विषय माना था। उन्होंने अपने सद्गुण सम्बंधी दृष्टिकोण में स्टोइकों की अपेक्षा बाह्य परिस्थितियों को कम महत्त्व नहीं दिया था। वे स्टोइक जिनके लिए समग्र बाह्य वस्तुए महत्त्वहीन हैं। ईसाई और गैर ईसाई नीतिशास्त्र के बीच मृत्यु अंतर हृदय अथवा उद्देश्य की सम्यवता के मूल्य सम्बंधी विभेद के आधार पर नहीं है, किंतु इस आंतरिक सम्यक्ता की विभिन्न आवश्यक शर्तों अथवा उसके वास्तविक स्वरूप सम्बंधी दृष्टिकोण की भिन्नता के आधार पर है। दोनों में से किसी में भी, इसे नैतिक साधुता के रूप में सरल एवं विशुद्धतया प्रस्तुत नहीं किया गया है। गैर ईसाई दार्शनिक के लिए यह अंतरात्मकता सदेव ही ज्ञान या प्रज्ञा के रूप में स्वीकार की गई। सुकरात से उत्पन्न होने वाले सभी

सम्प्रदायों के लिए यह बात अमान्य थी, कि एक व्यक्ति वस्तुतः अपने शुभ को जानता है और फिर भी उससे विपरीत अन्य का ऐच्छिक चयन करता है। जैसी कि अरस्तू की मान्यता है यह ज्ञान बुरी आदतों के द्वारा सदैव ही प्रतिबंधित हो सकता है अथवा वासनाओं के द्वारा क्षणिक रूप से इसे नष्ट किया जा सकता है, किंतु यदि यह मन में उपस्थित रहता है तो सदैव ही उद्देश्य की सम्यक्ता को उत्पन्न करेगा। कुछ स्टोइकों के द्वारा भी यह माना गया था कि सच्चा ज्ञान वास्तविक जीवन जीने वाले एक अच्छे आदमी की भी पहुंच से बाहर हैं फिर भी यह तो पूर्ण मानवीय जीवन के एक आदर्श के रूप में उपस्थित रहता है। यद्यपि सभी सांसारिक व्यक्ति अज्ञान एवं दुःखों के कारण पथभ्रष्ट होते हैं तथापि उनके यथार्थ स्वरूप की सिद्धि के लिए ज्ञान उनका लक्ष्य है जिसकी ओर दार्शनिक प्रगति करते हैं। दूसरी ओर ईसाई सदुपदेशकों और शिक्षकों के लिए सामान्यतया सत्कर्मों का आंतरिक प्रेरक तत्व श्रद्धा अथवा भक्ति को माना गया।

श्रद्धा

उपरोक्त प्रत्ययों में ज्ञान किसी रूप में एक जटिल नैतिक अर्थ को प्रस्तुत करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान विभिन्न मस्तिष्कों में उपस्थित विभिन्न प्रमुख घटकों का एक सम्मिश्रण है, इसका सरल और सामान्य अर्थ श्रद्धा और सहजबोध से इसके विरोध पर बल देता है। श्रद्धा और सहजबोध में ईश्वरीय व्यवस्था के प्रति विश्वास होता है, जिसका प्रतिनिधित्व गिरजा (चर्च) करता है। यह विश्वास ईश्वरीय नियमों, और आश्वासनों के प्रति होता है। इसके बावजूद मनुष्य के प्राकृतिक जीवन पर होने वाले सभी प्रभाव ईश्वर के प्रति विश्वास को तिरोहित करते हैं। इस विरोध से अंत में श्रद्धा और ज्ञान अथवा बुद्धि के बीच एक अनिवार्य विरोध खड़ा हो जाता है और जिसके अनुसार नीतिशास्त्र का धार्मिक आधार उसके दार्शनिक आधार का विरोधी बन जाता है। कभी धर्मशास्त्री यह मानते थे कि ईश्वरीय नियम वस्तुतः ऐच्छिक (इच्छा के अधीन) हैं अथवा संकल्प की अभिव्यक्ति हैं। वे बुद्धि का परिणाम नहीं, उनकी बौद्धिकता को जाना नहीं जा सकता। वास्तविक मानवीय प्रज्ञा को अपने आप को ईश्वरीय दूत (पैगम्बर) की विश्वसनीयता की समीक्षा तक ही सीमित करना चाहिए, उसे ईश्वरीय आदेशों की समीक्षा नहीं करना चाहिए, किंतु प्रारम्भिक ईसाई धर्म में यह परवर्ती प्रतिवाद भी अविकसित ही रहा। विश्वास का अर्थ नैतिक और धार्मिक मान्यताओं से चिपके रहना था। चाहे उनका यथार्थ बौद्धिक आधार कुछ भी

हो। ईसाई चेतना में उपस्थित इस धारणा ने उन्हें ईसा के प्रति विश्वास और श्रद्धा के लिए अवियोज्य से बांध दिया था। ईसा, जो कि बुराई के प्रति लड़ी जाने वाली लड़ाई का नेता था और साध्यरूपी राज्य का शासक था (जिस राज्य की उपलब्धि की जाना है)। यद्यपि जहां तक यहूदी ईसाई अथवा इनके परवर्ती मुसलमान धर्म का प्रश्न है, उनके बीच कोई नैतिक अंतर नहीं है, सिवाय इसके कि ईसाई धर्म में व्यक्ति श्रद्धा का केंद्र मानवीय और दैवीय गुणों से युक्त ईसा को माना गया है और कर्त्तव्य का नियम ईसा के पूर्णतामय जीवन की अभिव्यक्ति के द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से सिखलाया गया है, एक वास्तविक ईसाई और एक नैतिक व्यक्ति के अंतर को आस्था और कर्म के विरोध के द्वारा स्पष्ट किया गया है। यहां आस्था का तात्पर्य ईश्वरीय नियम की निष्ठापूर्वक स्वीकृति और नियम-प्रदाता के प्रति श्रद्धापूर्ण समर्पण से अधिक ही है। यह एक ऐसी चेतना की अपेक्षा करता है, जो निरंतर रूप से उपस्थित होते हुए भी निरंतर अतिक्रमण करती रहती है, ऐसी चेतना, जो नियम के मानवीय अनुपालन की अपूर्णताओं के साथ ही अपूर्णता में निहित तथ्यों की अक्षम्य आलोचनांओं से बनी हो। साधारण मानवीय सद्गुणों को महत्वपूर्ण नहीं मानने की स्टोइक धारणा और यह विरोधाभास कि सभी पापी निरपेक्ष रूप से दोषी होने के कारण, समान है, ईसाई धर्म में भी कुछ रूप में पाया जाता है, किंतु ईसाई धर्म में नैतिक प्रमापक के लिए इस परिशुद्धता के आदर्श के साथ ही स्टोइकों से बिलकुल भिन्न एक भावनात्मक चेतना को भी मान्य किया गया है। इसके साथ ही वह श्रद्धा (आस्था) के द्वारा व्यावहारिक अनन्यता पर विजय पा लेता है। इस रक्षक विश्वास को दो रूपों में विवेचित किया जा सकता है, जो कि भिन्न-भिन्न होते हुए भी साधारणतया एक दूसरे से मिले हुए हैं। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार श्रद्धा करने वाला ईश्वर की दैवीय कृपा या अनुग्रह का पात्र होता है, जो कि एक ऐसी शुभता है, जिसके लिए वह स्वाभाविक रूप से अयोग्य है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार यह एक ऐसा आश्वासन देता है कि यद्यपि व्यक्ति स्वयं तिरस्कार का पात्र एवं पापी है, फिर भी पूर्ण न्यायी परमात्मा ईसा के द्वारा सहे गए कष्टों और सेवाओं के आधार पर उस पर दया करेगा। उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों में प्रथम दृष्टिकोण ईसाई के इतिहास के सभी युगों में सामान्यतया उपस्थित रहता है और अधिक परम्परागत (कैथोलिक) है, जबकि दूसरा दृष्टिकोण पाउलिन के धर्मपत्र में विवेचित ईसा के प्रायश्चित्त के रहस्य को अधिक गहराई के साथ उपस्थित करने का दावा करता है।

प्रेम

किंतु, श्रद्धा (आस्था) ईसाई धर्म में सदाचरण का आवश्यक प्रेरक सिद्धांत होने की अपेक्षा उसका एक अवियोज्यतत्त्व या उसका पूर्ववर्ती तथ्य है। ईसाई धर्म में इस प्रेरक की पूर्त्ति दूसरे केंद्रीय प्रत्यय प्रेम के द्वारा की गई है। प्रेम के प्रत्यय पर ईसाई कर्तव्य का सम्पूर्ण नैतिक मूल्य और आदेश का परिपालन निर्भर है। प्रथम तो वह ईश्वर के प्रति प्रेम है, जो अपने पूर्ण विकसित रूप में ईसाई धर्म के प्रति आस्था से उत्पन्न होता है और दूसरे, दैवीय प्रेम के विषय के रूप में वह समग्र मनुष्यों के प्रति प्रेम (मानवीय प्रेम) है। ईश्वर के अवतार के द्वारा यह प्रेम को उदात्त बनाता है और उसे मानव जाति का भागीदार बनता है। चाहे वह उत्पन्न मानव-प्रेम (लोकोपकार की भावना) मानव-जाति के प्रति स्वाभाविक रागात्मकता से युक्त हो या उससे घनीभूत हुआ हो अथवा उसमें समाहित हो या उसका रूपांतरण कर रहा हो, आत्मा के उस लक्षण को अभिव्यक्त करता है, जिसमें ईसाई धर्म के अनुसार सामाजिक कर्त्तव्यों को किया जाना चाहिए। प्रेमपूर्ण भक्ति चित्त की एक आधारभूत अवस्था है और जिसे ईसाई धर्म के अनुसार जीवन पर्यन्त बनाए रखना होता है।

पवित्रता

पुनः, नियम के विपरीत (बुरे) कर्मों और उन इच्छाओं, जो कि उन कर्मों के लिए प्रेरित करती हैं, से बचने के लिए हमें एक दूसरे प्रत्यय को देखना होगा, जिसमें ईसाई नैतिकता की अंतर्मुखता स्वतः ही अभिव्यक्त होती है । यद्यपि यह अंतर्मुखता नैतिकता से अधिक भिन्न नहीं है, तो भी ईसाई नैतिकता की ग्रीक-रोमन दर्शन से तुलना करते समय हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह गहन विभीषिका, जिसके साथ ईसाई धर्म है। पीड़ा एवं प्रतिरोधी देवता (शैतान) के प्रत्यय जुड़े हुए हैं। यह बताता है कि सभी दुष्कर्म एक ऐसी भावना से युक्त होते हैं, जिसे हम धर्मानुष्ठान की नीतिकृत अरुचि कह सकते हैं। एक ऐसी अरुचि, जो कि अशुद्धि एवं बुराई की दिशा में ले जाती है। जब यहूदी धर्म और दूसरे प्राचीन धर्मों में भौतिक (शारीरिक) अशुद्धि के प्रति घृणा को धार्मिक भावना के रूप में विकसित किया गया और उसे धर्मानुष्ठान की पवित्रता और स्वास्थ्य सम्बंधी संयम की एक संयुक्त पद्धति का आधार बनाया गया, तब यह पवित्रता का प्रत्यय यहूदी धर्म में नैतिक घटक के रूप में प्रमुख बन गया और धर्मानुष्ठान के

नियमों में एक नैतिक एकीकरण की उपस्थिति को अनुभूत किया गया और इस प्रकार यहूदी धर्म के प्रति अरुचि धार्मिक एवं नैतिक भावनाओं का आधार बन गई। जब ईसाई धर्म ने मोसेस के धर्म (यहूदी धर्म) के कर्म-काण्डों को अलग कर दिया, तब धार्मिक पवित्रता के लिए नैतिकता के अतिरिक्त कोई क्षेत्र नहीं बचा था। आदर्शात्मक लक्षण के कारण यह दुर्वासनाओं के उन विशेष रूपों के नाम से स्वीकार कर ली गई, जिसे कि ईसाई धर्म अपना मुख्य कार्य मानता है[1] ।

ईसाई नैतिकता के मुख्य लक्षण

जब हम ईसाई-नैतिकता के विस्तार में जाते हैं, तो यह पाते हैं कि उसके बहुत से विशेष लक्षण स्वाभाविक रूप से पूर्वोक्त सामान्य लक्षणों के साथ जुड़े हुए हैं। यद्यपि उनमें से कुछ प्रत्यक्ष रूप से स्वयं ईसा के जीवन के उदाहरणों से अथवा उसकी आज्ञाओं से सम्बंधित हैं और कुछ स्पष्टतया इन दोनों से अवियोज्य रूप से सम्बंधित हैं।

आज्ञाकारिता

प्रथमतः हम देखते हैं कि यदि नैतिकता एक नियम के रूप में ऐच्छिक नहीं है, तो उसे मनुष्य के प्रति असंदिग्ध समर्पण से युक्त मानना होगा। इसमें स्वाभाविक रूप से ईश्वरीय सत्ता के प्रति आज्ञा–पालन को सद्‌गुण महत्त्वपूर्ण होगा, जिस प्रकार शुभत्व के दार्शनिक दृष्टिकोण में प्रज्ञा (ज्ञान) की उपलब्धि के रूप में आत्मनिर्धारणता एवं स्वतंत्रता का विशेष महत्त्व होता है। यह दृष्टिकोण हमें दार्शनिकों और विशेष रूप से अरस्तू के बाद के दार्शनिकों में, जहां कि नैतिकता राजनीति से पृथक् हो गई थी, देखने को मिलता है।

विरक्ति

पुनः, प्राकृतिक विश्व और आध्यात्मिक जगत् (ईसाई-संघ), जिसमें कि एक ईसाई अपना नया जन्म ग्रहण करता है, का विरोध प्रारम्भिक एवं मध्ययुगीन गिरिजा (चर्च) में था। यह विरोध न केवल स्टोइकों के समान सम्पत्ति, कीर्त्ति, शक्ति, यश आदि सांसारिक उपलब्धियों की अवहेलना के रूप में था, अपितु एक सांसारिक जीवन के पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बंधों के तुलनात्मक विवेचन पर भी आधारित था। यह प्रवृत्ति चर्च के इतिहास के प्रारम्भिक काल में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई थी। साधारणतया मानव-समाज अस्थाई रूप से शैतान (वासनाओं) के प्रति समर्पित होता है, जिसका आकस्मिक एवं सत्वर विनाश सन्निकट था।

ऐसे संसार में उन सभी लोगों को, जो कि ईसाई धर्म की नाव में एकत्रित हुए हैं, कोई हिस्सा नहीं लेना है। उन्हें इसके प्रति यदि कोई दृष्टिकोण रखना ही है तो यह निष्काम-विरक्ति का ही होगा। दूसरी ओर, सांसारिक जीवन की आस्था की उतनी विरक्ति व्यावहारिक रूप से कठिन थी, जितनी विरक्ति की पूर्णता को उच्चतम ईसाई-चेतना में मानी गई थी। इस कठिनाई के तीव्र बोध ने शरीर को भी एक बाधा या अवरोध माना, यही दृष्टिकोण हम कुछ सीमा तक प्लेटो में भी पाते हैं। पुनः, इसी दृष्टिकोण का विकास नव प्लेटोवाद, नव पाइथागोरसवाद और प्राचीन विचारों से युक्त ग्रीक सम्प्रदायों में पाते हैं । शरीर को बाधा मानने की इस भावना के कारण ईसाई धर्म के प्रारम्भिक युग से ही उपवास[2] आदि (देह-दण्डन) के मूल्य को महत्व दिया जाने लगा और जो बाद के संन्यासवाद में आत्मपीड़न के चरम बिंदु पर पहुंच गया। संसार विमुखता और इंद्रिय विमुखता की इन दोनों प्रवृत्तियों के कारण अविवाहित जीवन एवं ब्रह्मचर्य के विचार को प्रमुखता मिल गई, जो कि प्रारम्भिक ईसाई लेखकों में सामान्यतया पाई जाती है। ईसाई धर्म–संस्था और संसार के बीच इस विरोध के परिणामस्वरूप ईसाई सभ्यता की ग्रीक–रोमन–जगत् की देशभक्ति, नागरिक कर्त्तव्यपालन तथा सामाजिक जीवन की अन्य गौरवमय उदात्त भावनाएं ईसाई धर्म के प्रभाव से या तो मानव जगत् के कल्याण के रूप में विकसित हुईं अथवा ईसाई धर्म संघ तक सीमित होकर रह गईं। तरतूलीयन[3] का कथन है कि इस संसार को एक राष्ट्र-मण्डल के रूप में अंगीकृत करते हैं। इसी प्रकार ओरिजन कहते हैं कि ईश्वर के वचनों से निर्मित (सम्पूर्ण संसार ही) हमारा एक पितृ-देश है ।

सहनशीलता

ईसाई धर्म की सांसारिक विरक्तता की सामान्य धारणा से हम लौकिक संघर्षों के निराकरण की प्रवृत्ति का निगमन कर सकते हैं, चाहे वह संघर्ष किसी उचित कार्य के लिए भी क्यों न हो, इस प्रकार जिसमें कि क्रियाशीलता का तत्त्व प्रमुख था उस प्राचीन गैर ईसाई सद्गुणों साहस आदि का स्थान एक निष्क्रिय सहनशीलता के सद्गुण ने ले लिया। यहां हम ईसा के हिंसा के प्रति हिंसक प्रतिरोध के निषेध के आदेश चरित्र एवं आचरण के द्वारा इस आदेश को हृदयंगम करने के प्रयत्न में स्वाभाविक विद्वेष को भी जीत लेने वाले प्रेम का प्रभाव पाते हैं। इस सहनशीलता के अतिवादी परिणाम को तरतूलीयन के इस कथन में देखा जा सकता है कि कोई भी

ईसाई एक लौकिक न्यायाधीश का ऐसा पद ग्रहण नहीं कर सकता, जिसमें कि उसे मृत्युदंड, हथकड़ी बेड़ी अथवा कैद की सजा देना होती है। लेक्टेन्टीअस का कहना है कि एक ईसाई को किसी को भी मृत्युदंड का दोषी नहीं ठहराना चाहिए, क्योंकि शाब्दिक हत्या भी उतनी ही बुरी है, जितनी कि वास्तविक हत्या। एम्ब्रोस जैसे भद्र लेखक का तो यहां तक कहना है कि ईसा की लम्बी यातनाएं इस बात की प्रतीक हैं कि अपनी आत्मरक्षा के हेतु भी हत्यारे आक्रामक का हनन करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। ईसाई जन-साधारण की सामान्य बुद्धि क्रमशः इन अतिवादिताओं को दूर फेंक देती है, यद्यपि खून नहीं बहाने की इच्छा बनी रही तथापि विधर्मियों के बढ़ते हुए भय के कारण उसे पूरी तरह क्रियान्वित नहीं किया जा सका[4]। इसी प्रकार प्रारम्भिक ईसाईयों में न्यायिक कार्यों के लिए भी सौंगंध खाने के प्रति अरुचि थी और इसका ईसा के कथनों की स्पष्ट व्याख्याओं के द्वारा समर्थन भी किया गया था, फिर भी जबकि ईसा की चौथी शताब्दी में चर्च, समाज के धर्म निरपेक्ष (लौकिक) संगठन के साथ औपचारिक रूप से आबद्ध हुआ, तो उसे जनता की आवश्यकताओं पर विचार किया गया।

परोपकारिता

ईसाई धर्म में सभी सद्गुणों के मूल में प्रेम की प्रतिष्ठा करके व्यावहारिक परोपकार के सभी रूपों के लिए प्रेरणा की गई है। सुसंस्कृत नैतिकता के सभी पक्षों पर ईसाई धर्म का यही महत्वपूर्ण प्रभाव देखा जाता है, तथापि यहां इस प्रभाव की सही स्थिति को स्वीकृत कर लेना कुछ कठिन है, क्योंकि यह गैर ईसाई नैतिकता में स्पष्ट रूप से उपलब्ध विचारों के अग्रिम विकास का ही सूचक है। जब हम सुकरात के परवर्ती विभिन्न नैतिक दर्शनों की तुलना करते हैं, तो हमें यह विकास स्पष्टतया परिलक्षित होता है। प्लेटो के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न सद्गुणों की व्याख्या में परोपकार की कहीं चर्चा नहीं है, यद्यपि उसके लेखनों में दार्शनिक जीवन के एक अंग के रूप में मैत्री के महत्व का गहन बोध उपलब्ध होता है, जो कि विशेष रूप से दार्शनिक जीवन के गुरु और शिष्य के बीच स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले गहन वैयक्तिक अनुराग के रूप में होता है। अरस्तू मैत्री के नैतिक मूल्य को स्वीकार करके इससे कुछ आगे जाते हैं, यद्यपि वे यह मानते हैं कि मैत्री के उच्चतम स्वरूप की उपलब्धि बुद्धिमान एवं भले सहयोगियों में ही हो सकती है। फिर भी वे पारिवारिक प्रेम को उसमें समाहित करने के लिए मैत्री-विचार को व्यापक बनाते है

और मानव-समाजों को एक दूसरे से निकट लाने के लिए पारस्परिक अनुग्रह के महत्त्व को बताते हैं, तथापि अरस्तू के विशेष सद्गुणों के आकारिक विवरण में विधायक परोपकारिता की केवल उदारता के प्रत्यय के अंतर्गत ही देखा जा सकता है। इस रूप में इसकी अच्छाई को आत्मसम्मान के लिए किए गए शालीन अपव्यय से मुश्किल से ही अलग किया जा सकता है। दूसरी ओर सिसरो बाह्य कर्त्तव्य सम्बंधी अपने ग्रंथ में दूसरे मनुष्यों के लिए अपनी विधायक सेवाओं को प्रस्तुत करने को सामाजिक कर्त्तव्य के एक महत्त्वपूर्ण विभाग के रूप में वर्गीकृत करता है, जबकि परवर्ती स्टोइकवाद में विश्वमैत्री और मनुष्यों के पारस्परिक स्वाभाविक दायित्वों की मान्यता को इतने भावावेश के साथ प्रस्तुत किया गया है कि उसे ईसाई परोपकारिता से कठिनाई से ही अलग किया जा सकता है। स्टोइकवाद का मानव-जाति के प्रति यह सम्मान मात्र एक सिद्धांत ही नहीं था (वरन् व्यवहार में भी उसे स्थान दिया गया था)। आंशिक रूप से स्टोइक एवं अन्य ग्रीक दर्शनों के प्रभाव से और आंशिक रूप में मानवीय सहानुभूति के सामान्यतया व्यापकता के आधार पर रोमन साम्राज्य के विधानों में प्रथम तीन शताब्दियों तब स्वाभाविक न्याय और मानवीयता की दिशा में एक दृढ़विकास दिखाई देता है। इसी प्रकार की प्रगति सामान्य नैतिक मान्यताओं में भी देखी जाती है, तथापि इस परोपकारिता विचार का चरम बिंदु ईसाई दानशीलता में ही उपलब्ध होता है। ईसाई धर्म के द्वारा सामाजिक कर्तव्यों के क्रियान्वयन के लिए दी गई इस अत्यधिक प्रेरणा ने परोपकार को ईश्वरीय सेवा का रूप दिया और पवित्रता और दयालुता में तादात्म्य स्थापित कर दिया, परंतु हम उसकी गहराई में नहीं जाते हुए मात्र उस युग में प्रचलित मान्यताओं में ईसाई धर्म के द्वारा किए गए निम्न महत्वपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख करेंगे- 1. बच्चों को अनाश्रित छोड़ देने की प्रथा की अत्यधिक आलोचना की और उसे समाप्त किया। 2. (मनोरंजन के लिए) तलवार आदि शस्त्रों से युद्ध करने की बर्बर परम्परा के प्रति एक प्रभावपूर्ण तिरस्कार की भावना उत्पन्न की। 3. दासता की प्रथा को तत्काल ही अनैतिक बताकर उसका दमन किया और दासों की मुक्ति के लिए साहसिक प्रोत्साहन दिया। 4. गरीबों और बीमारों के लिए दान की परम्परा को व्यापक बनाया।

ईसाई धर्म और सम्पत्ति

यद्यपि हमें इस चौथे प्रश्न पर विचार करना होगा। जरूरतमंद लोगों के लिए

सम्पत्ति का यह निर्बाध वितरण ईसाईयों के पारस्परिक भाईचारे से उत्पन्न प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं था। यद्यपि इस दृष्टिकोण के महत्त्व ने इसे अपनाने की भावना उत्पन्न की, जिसे अनेक यूरोपीय भाषाओं में चेरिटी (दान) के सामान्य नाम से जाना जाता है। यह आंशिक रूप से सम्पत्ति के परिग्रह से सम्बंधित उन आध्यात्मिक खतरों को देख लेने के कारण हुआ, जिसका कि ईसा ने अपनी वाणी में संकेत दिया था। इन दोनों कारणों से ईसा के पट-शिष्यों के युग में जिस साम्यवाद का प्रयास किया गया था, वह प्रारम्भिक और मध्ययुगीन चर्च में भी ईसाई समाज के एक आदर्श के रूप में मान्य रहा था अथवा विकसित होता रहा था। यद्यपि ईसाई जगत् की सामान्यबुद्धि इसके व्यावहारिक संशोधन के लिए समय-समय पर सुझाव प्रस्तुत करती रही। यह बात व्यापक रूप से स्वीकार की गई कि मात्र सम्पत्ति का स्वामित्व एक ईसाई को उसके उपभोग का नैतिक अधिकार प्रदान नहीं करता है, उपभोग का अधिकार तो मात्र वास्तविक आवश्यकता से ही मिलता है, यद्यपि जब चर्च ने इस आवश्यकता शब्द के साथ समझौता किया, तो साधारण ईसाई के लिए इस आवश्यकता का निर्धारण सामान्यतया सामाजिक वर्ग अथवा व्यावसायिक वर्ग, जिसके कि सदस्य हैं, के रीतिरिवाजों के आधार पर किया गया। ईसा के उस धर्मादेश कि जो कुछ तुम्हारे पास है, उसे बेच दो और गरीबों को बांट दो, का पूर्णतया पालन कभी भी सामान्यतया स्वीकार नहीं किया गया[5]। यह ध्यान रखना चाहिए कि फिर भी दानशीलता पर जोर देकर ईसाई धर्म ने उस कर्त्तव्य को मात्र सार्वभौमिक बनाया है, जिसे यहूदी धर्म ने कुछ चुने हुए लोगों तक सीमित करके सम्पूर्ण हार्दिकता के साथ स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था। यही बात शोषण के निषेध के सम्बंध में भी कही जा सकती है, जिसे चर्च ने आधुनिक युग तक भी कुछ विशेषाधिकारों और सुविधाओं के साथ मान्य रखा था।

विशेष अर्थ में पवित्रता

पुनः, ईसाई धर्म में जिस कठोरता के साथ विभिन्न लिंगों के लैंगिक सम्बंधों की अनियमितताओं का निषेध किया गया था, वह भी उसने यहूदी धर्म से ही पाया था। यद्यपि नवीन धर्म ने इसे मान्य रखने तथा वैवाहिक सम्बंधों के स्थायित्व देने की दिशा में एक कदम आगे ही बढ़ाया और मात्र बाह्य शारीरिक ब्रह्मचर्य के स्थान पर हृदय की पवित्रता पर अधिक बल दिया।

विनम्रता

ईसाई धर्म का विनम्रता का विशिष्ट सद्गुण ग्रीक परम्परा के आत्मगौरव की भावना का विरोधी दिखाई देता है। किसी सीमा तक इस विनम्रता को ईसा के उपदेशों में खोजा जा सकता है। नवीन धर्म के अंतर्गत इसकी सर्वाधिक प्रमुखता किसी अंश में ईसा की शिक्षाओं और उनके जीवन से सम्बंधित है और आंशिक रूप से यह बाह्य पद या गौरव (प्रतिष्ठा) के त्याग में अथवा लौकिक उपहारों और उपलब्धियों के त्याग में अभिव्यक्त होता है। यह भी सांसारिक विमुखता का भी एक पहलू है, जिस पर हम पूर्व में चर्चा कर चुके हैं। अधिक गहन विनम्रता यह है, जो वैयक्तिक श्रेष्ठता के दावे का दमन करती है, चाहे वे दावे एक सतपुरुष के ही क्यों न हों। कठोर आत्म-आलोचन, अपूर्णता का सतत् बोध और उस (ईश्वरीय) शक्ति पर परम विश्वास, जो कि उसकी स्वयं की नहीं है, जो एक ईसाई के आंतरिक नैतिक जीवन का लक्षण है और विनम्रता के क्षेत्र के अंतर्गत आती है। इस परवर्ती अर्थ में ईश्वर के प्रति विनम्रता सच्चे ईसाई शुभत्व की एक आवश्यक इति है।

धार्मिक कर्त्तव्य

आज्ञापालन, सहनशीलता, परोपकार, शुद्धता, विनम्रता, संसार एवं भोगों के प्रति विरक्ति आदि वे नवीन एवं असाधारण तथ्य हैं, जिन्हें आचरण का ईसाई आदर्श प्रस्तुत करता है। इस सीमा तक ईसाई धर्म को ग्रीक रोमन समाज के द्वारा सामान्यतया स्वीकृत सिद्धांतों के साथ-साथ रखा जाता है, किंतु हमें अभी श्रुतिपरक धर्म (ईसाई धर्म) से नीतिशास्त्र के नए सम्बंध के कारण विकसित उसके क्षेत्र के विस्तार को भी देखना होगा। हालांकि सामान्य नैतिक दायित्वों के साथ धार्मिक शक्ति और बाध्यता के नैतिकपक्ष को अधिक निश्चितता के साथ धार्मिक विश्वासों और उपासना की ओर प्रवृत्त कर दिया गया है। वस्तुतः, मनुष्यों के प्रति कर्त्तव्य की धारणा से भिन्न ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य की धारणा को गैर ईसाई नीतिवेत्ताओं ने भी स्वीकार किया है। न केवल पाइथागोरस तथा नव पाइथागोरसवाद और प्लेटो तथा नव प्लेटोवाद के सम्प्रदायों में किंतु, स्टोइकवाद में भी किसी रूप में इस धारणा पर बल दिया गया है, किंतु सामान्यतया उन अनिश्चित और मिश्रित सम्बंधों ने, जिनमें प्रचलित बहुदेववाद के साथ दार्शनिक ईश्वरवाद खड़ा था, जिससे किसी भी दार्शनिक परम्परा में पवित्रता को उसका प्रमुख स्थान प्राप्त करने से रोकने की ओर प्रवृत्त किया, ईसाई शिक्षाओं में एवं स्टोइकों के अनुसार आचरण के औचित्य के लिए प्रज्ञा अनिवार्य

तत्त्व है, यद्यपि वे उस प्रज्ञा के प्रत्यय के अंतर्गत भौतिक एवं नैतिक सत्य के ज्ञान को भी स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार ईसाई नैतिकता में आचरण के औचित्य के लिए अंतर्मुखता पर बल दिया गया है। ईसाई नीतिशास्त्र में इस अंतर्मुखता के कारण शास्त्रसम्मतता एवं धार्मिक विश्वास की सम्यक्ता को शुभत्व के लिए अनिवार्य माना गया और उस नास्तिकता को सबसे बड़ा पाप माना गया, जो कि ईसाई जीवन के मूल आधार को ही भ्रष्ट कर देती है।

यद्यपि दार्शनिकों के अनुसार अधिकांश लोग अपने अज्ञान एवं मूर्खता के कारण ही अपने सच्चे कल्याण (हित) से अनिवार्यतया वंचित रहते हैं। साधारणतया इन बुराईयों से केवल बचा नहीं जा सकता, कुछ लोगों को ही दार्शनिक प्रशिक्षण देकर इन बुराइयों से बचाया भी जा सकता है। बुराई से बचने का यही एकमात्र रास्ता है, किंतु ईसाई पुरोहित वर्ग, जिसका कार्य समस्त मानव जाति को शाश्वत जीवन और सत्य प्रदान करता था, स्वाभाविक रूप से धर्मशास्त्रीय मिथ्या विश्वास को घातक विषय मानता था। वस्तुतः ईसाई परोहित वर्ग का इसकी घातकंता का बोध इतना तीव्र था कि वे जब किसी सीमा तक लौकिक शासन पर नियंत्रण करने के योग्य बने, तो उन्होंने (अपने मिथ्या विश्वासों के प्रति) अपनी इस घृणा को खून की होली खेलकर पराभूत किया और धार्मिक अत्याचारों का एक लम्बा दौर-दौरा प्रारम्भ किया, जिसकी तुलना ईसाई सभ्यता के पूर्व कहीं भी नहीं मिलती है। ऐसा नहीं था कि ईसाई लेखकों[6] ने अपराधिता को सच्चा अज्ञान या गलती कहने में कठिनाई का अनुभव नहीं किया हो, किंतु धर्मशास्त्र के लिए यह कठिनाई वस्तुतः बहुत बड़ी नहीं थी और धर्मशास्त्री सामान्यतया यह मानकर कि दृश्य अनैच्छिक विधर्म या पाप किसी अव्यक्त या पूर्ववर्ती ऐच्छिक पाप का परिणाम है, इससे छुटकारा पा लेते हैं। कुछ दार्शनिकों ने नीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी इसी प्रकार से इस उलझन को पार किया है[7]।

अंत में हमें यह देखना होगा कि जब नैतिकता की नियमवादी धारणा, जिसमें नियम का उल्लंघन करने पर ईश्वरीय दण्ड का भागी बनना होता है, नैतिकता की दार्शनिक (समतावादी) धारणा पर, जो कि स्वाभाविक आनंद को प्राप्त करने की पद्धति है, वर्चस्व जमाती है। नैतिकता के विधिपरक दृष्टिकोण में नियम के पालन के लिए मानवीय स्वतंत्रता का प्रश्न अपेक्षाकृत अनिवार्य रूप से प्रमुख बन जाता है, किंतु इसके साथ ही स्पष्ट रूप से यह भी

नहीं कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म संकल्प-स्वातंत्र्य और नियतता के तात्त्विक विरोध में कोई निर्णायक पक्ष ग्रहण करता है। जिस प्रकार ग्रीक दर्शन में उत्तरदायित्व के आधार पर स्वतंत्रता की आवश्यकता प्रतिपादित की गई, किंतु इसके विरोध में यह धारणा भी थी कि कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से अपने अहित का वरण नहीं करता है, उसी प्रकार ईसाई धर्म की नैतिकता में भी संकल्प की स्वतंत्रता का विरोध इन दो मान्यताओं के आधार पर होता है, एक तो यह कि सभी सच्चे मानवीय सद्गुण दैवीय कृपा पर निर्भर है और दूसरे यह विश्वास कि ईश्वर को पूर्वज्ञान होता है। यहां हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि ईसाई चिंतन के विकास में संकल्प-स्वातन्त्र्य और नियतता के विरोध को अधिक गहनता से अनुभव किया गया और इसके निराकरण या अतिक्रमण करने के लिए गम्भीर प्रयत्न भी किए गए हैं।

ईसाई धर्म में विभिन्न मतों का विकास

ईसाई धर्म के नैतिक विचारों के उपरोक्त विवरण में यह संकेत किया जा चुका है कि जिन लक्षणों का विवरण दिया गया है, वे सभी लक्षण समान रूप से या पूर्ण समरूपता के साथ ईसाई धर्म-संस्था के सम्पूर्ण जीवन में अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर पाए हैं। इसका आंशिक कारण तो ईसाई धर्म की बाह्य परिस्थितियों का परिवर्तन और जिन समाजों का यह प्रमुख धर्म रहा, उनमें सभ्यता के विकास की मात्रागत अंतर था। इसका दूसरा आंशिक कारण आंतरिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया थी, जिसमें समय-समय पर भिन्न-भिन्न तथ्यों को प्रमुखता प्रदान की गई। पुनः, समय-समय पर प्रकट होने वाले विचारधाराओं के प्रमुख संघर्षों ने ईसाई समाज में आपस में ही तीव्र मतभेद उत्पन्न किया। ये मतभेद कभी-कभी नैतिक प्रश्नों के सम्बंध में भी होते थे, यहां तक कि पूर्वी चर्च में चौथी शताब्दी तक मतवादों के निर्माण के प्रयास होते रहे। इस प्रकार इस नव-स्थापित ईसाई धर्म की लोक-विरोधी प्रवृत्तियों को तुरतलीयन (160-224) ने उग्र रूप में एवं कठोरतापूर्वक अभिव्यक्त किया, जो मोन्टानिस्ट के धर्म में अतिरंजित रूप से प्रकट हुई और अंत में तुरतलीयन ने स्वयं उस धर्म को स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर, सिकन्दरिया के क्लेमेन्स ने उस युग की सामान्य प्रवृत्ति के विरोध में ईसाई विश्वास को सच्चे ज्ञान के रूप में विकसित करने के लिए गैर ईसाई दर्शनों के मूल्यों को भी स्वीकार किया और ईसाई जीवन की सामान्य पूर्णता के लिए विवाह के माध्यम से मनुष्य के स्वाभाविक विकास के महत्व को मान्यता दी। इसके पश्चात् हम देखते हैं कि जब कन्स्टेन्टीन के द्वारा नागरिकों और

चर्च की एक आंगिक एकता को स्वीकार किया, तो इसके कुछ उत्साही सदस्यों ने मनुष्य के स्वाभाविक जीवन से भिन्न संन्यास मार्ग की एक नवीन दिशा का समर्थन किया।

संन्यासमार्गीय नैतिकता

संसार की पूर्ण त्याग और इंद्रिय प्रवृत्तियों का निरोध अब सभी ईसाईयों के लिए मुक्ति का मार्ग नहीं माने गए। यद्यपि यह माना गया कि सुसमाचारसम्मत पूर्णता के प्रवर्त्तकों के द्वारा इनका अनुमोदन किया गया है, तथापि कोई भी ईसाई वैयक्तिक रूप से इसका पालन करने या नहीं करने में स्वतंत्र है। इस प्रकार ईसाई शिक्षाओं की मौलिक सरलता से धीरे-धीरे एक दोहरी नैतिकता विकसित हुई और साधारण ईसाई सद्गुण और संन्यासमार्ग के सद्गुण के बीच एक अंतर प्रारम्भ हुआ, जो कि दार्शनिक और सामाजिक अच्छाइयों के प्राचीन गैर ईसाई विरोध से बहुत कुछ समानता रखता है, एक ऐसी समानता, जिस पर प्राचीन जीवन पद्धति को अभिव्यक्त करने के लिए पवित्र या ईश्वरीय दर्शन जैसे पदों की धारणा के द्वारा पूर्वीय संन्यासवाद में बल दिया गया था। कठोर एकाकी जीवन, ब्रह्मचर्य का पालन, आहार एवं वेशभूषा में बहुत अधिक सादगी, उपवास-प्रार्थना, आत्मालोचन, कार्य और विश्राम के सम्बंध में नियमित दिनचर्या और कभी-कभी आत्मपीड़न के जंगली अतिरंजित रूपों (पूर्वीय साधु-संस्था, जिसका लोकप्रिय उदाहरण है) पूर्वीय साधु संस्था के द्वारा सांसारिक विषय-वासनाओं के आवरण एवं दुनियादारी की चिंता से मुक्त होने के लिए यह स्वीकार कर लिया गया था कि सांसारिक जीवन की अपेक्षा अपने आपकी ईश्वर की निकटता और पवित्रता के प्रति समर्पित किया जाये पहले सामाजिक जीवन से पूर्णतया अलग होने के लिए एकाकी जीवन की भावना प्रबल हुई और बाद में यह मान लिया गया कि जो इस अधिक पूर्ण मार्ग की अभिलाषा रखते हैं, उनमें से अधिकांश लोगों के लिए ऐसी ही अभिलाषा रखने वाले लोगों के एक व्यवस्थित समाज का नियंत्रण और सहयोग करना अपेक्षित होता है। इस प्रकार, जब ईसा की 4थी शताब्दी में पश्चिमी ईसाई समाज में संन्यासवाद का फैलना प्रारम्भ हुआ था, तो मठ के जीवन के आदर्श की अनुशंसा की गई। यह मठीय-जीवन पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में व्यावहारिक अधिक और चिंतन-परक कम रहा। प्रारम्भ में जेनेडिक्ट (लगभग 480 से 543 ई.) के निर्देशन में रचनात्मक सार्थक शारीरिक श्रम को इसके एक नियमित अंग के रूप में स्थान मिला, किंतु बाद में पाश्चात्य-

सभ्यता के इतिहास में एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण के विकास के द्वारा धर्म निरपेक्ष (लौकिक) ग्रंथों के अध्ययन को भी मान्यता प्राप्त हो गई, यह व्यक्ति की मानवीय कमजोरियों (पाप) से निर्णायक और कठिन लड़ाई थी, जिसके लिए मठ एक युद्धभूमि था। सबसे पहले मुख्य–मुख्य पापों की एक सूची बनाई गई, जिसने बाद में नैतिकता की मध्ययुगीन विवेचना में मुख्य स्थान ले लिया। प्रारम्भ में सामान्यतया ये घातक पाप आठ माने गए थे, मध्ययुगीन धर्मशास्त्रियों की रहस्यात्मक मंत्र-तंत्र के प्रति अभिरुचि के कारण यह सूची सात तक ही रह गई। इसके सम्बंध में अलग-अलग लेखकों ने अलग-अलग विवरण दिया है - 1 घमण्ड (गर्व), 2. धन की लोलुपता, 3. क्रोध, 4. अति-भोजन और 5. व्यभिचार तो सभी की सूचियों में पाए जाते हैं, शेष दो या तीन का चुनाव निम्नलिखित में से किया गया है- 1. घृणा, 2. झूठा घमण्ड और अपेक्षाकृत एकाकीपन, 3. निराशा एवं 4. निरुत्साहयुक्त उदासीनता। संन्यस्त जीवन के नैतिक अनुभवों को विशेष रूप से प्रतिबिम्बित करने वाली समग्र सूची से हम क्या अनुमान कर सकते हैं, इसे ये परवर्ती प्रत्यय बताते हैं। विशेष रूप से नैतिक अवसाद या पतन की अवस्था को निरुत्साहयुक्त उदासीनता के रूप में बताया है, जिसे एक मानसिक रोग माना जा सकता है, जो कि कम से कम उस युग की दुनिया में एक मठवासी के लिए विशेष घटना ही होगा।

नैतिक-सिद्धांतों का विकास

जब पूर्व से आया हुआ संन्यासवाद पश्चिम में फैल रहा था और शक्ति प्राप्त कर रहा था, तब शुभाचरण में ईश्वर और मनुष्य के सम्बंध के प्रत्यय को लेकर ईसाई नैतिकता में एक भिन्न प्रकार का विकास हुआ, जो कि ईश्वरीय कृपा की निरपेक्षता के सिद्धांत के विरोध का परिणाम था और साधारणतया आगस्टिन के नैतिक प्रभाव के कारण उत्पन्न हुआ था। जस्टिन और ईश्वरीय कृपा के सिद्धांत के समर्थकों ने 'आस्था' 'कृपा' और 'उद्धार' की वास्तविकता को स्वीकार किया, किंतु इन प्रत्ययों पर आधारित धार्मिक दर्शन संकल्प-स्वातंत्र्य के स्पष्ट विरोध में खड़ा होने के लिए भी पूर्ण सक्षम[8] नहीं माना जा सकता है। ईसाई धर्म की शिक्षा का अधिकांश तो वस्तुतः उन अमर प्राणियों के लिए है, जिन्हें चयन की स्वतंत्रता प्राप्त है और इसीलिए गलत चयन के लिए दण्ड की भी पात्रता है। यह प्रतिफल या दण्ड के नियमों से अनुमोदित आचरण के सच्चे ईश्वरीय शाश्वत विधान की उद्घोषणा थी। यद्यपि यह स्पष्ट है कि इस कर्तव्य के बाह्य नियमवादी (विधिक) दृष्टिकोण के आधार पर ईसाई और गैर ईसाई

नैतिकता में अंतर कर पाना कठिन है[9]। ब्रह्मचर्य (संयम) और सेवा के नियमों (कर्त्तव्यों) का यह दार्शनिक अनुमोदन जिस सीमा तक जाता है, वह संतों के अनुमोदन से भिन्न नहीं लगता है। यदि एक प्राकृतिक मनुष्य (जनसाधारण व्यक्ति) को उन सभी कर्तव्यों को पूर्ण करने के योग्य मान लिया जाए, जिनका उसे बोध हो सकता है, तो ईसाई धर्म में इलहाम का जो नया प्रकाश दिया गया, वह पाप से पूर्णतया मुक्ति की संभावना को बताता है, किंतु पेलेगियम की शिक्षाओं में विकसित यह (कर्म-सिद्धांत सम्बंधी) निष्कर्ष ईश्वरीय कृपा पर पूर्ण निर्भरता की उस धारणा से असंगत है, जिससे ईसाई जनमानस पूरी तरह चिपका हुआ है। इसलिए आगस्टिन के नेतृत्व में इसे धर्म विरोधी मानकर त्याग दिया गया था।

आगस्टिन (355-430 ई.)

आगस्टिन ने मनुष्य को ईश्वरीय नैतिक शक्ति की कृपा के बिना दैवी नैतिक नियमों का पालन करने में अक्षम मानकर अपने सिद्धांत को उस बिंदु पर पहुंचा दिया था, जहां संकल्प की स्वतंत्रता के साथ उसकी संगति बिठा पाना कठिन था। आगस्टिन संकल्प की स्वतंत्रता के सैद्धांतिक महत्व से भलीभांति परिचित थे, वे ईश्वरीय न्याय एवं मानवीय उत्तरदायित्व के साथ रहे हुए संकल्प की स्वतंत्रता[10] तार्किक सम्बंध को भी जानते थे, किंतु वे मानते थे कि इन प्रश्नों को तभी पूर्णतया सुलझाया जा सकता है, जब हम केवल मानवजाति के प्रथम पूर्वज 'आदम' के सम्बंध में ही शुभ और अशुभ के बीच चुनाव करने की वास्तविक स्वतंत्रता को मान लेते है, क्योंकि वह बीजगर्भित प्रकृति, जिससे सब मनुष्य उत्पन्न हुए और जो आदम में भी उपस्थित थी और ईश्वर के द्वारा उसे दी गई उस ऐच्छिक प्राथमिकता के कारण मानव जाति ने एक ही बार में सदैव के लिए बुराई को चुन लिया है। जन्म से पूर्व के उस (वंशानुगत) पाप के कारण सभी मनुष्य सतत् रूप से पापाचारिता एवं तज्जनित दण्ड के तब तक भागी है। जब तक कि ईश्वर की अनर्जित कृपा के लिए चुने जाकर ईसा के प्रायश्चित के लाभ के भागी नहीं बनाए जाते हैं। बिना इस कृपा के मनुष्य के लिए यह असम्भव है कि वह ईश्वर के प्रति प्रेम के उस महान आदेश का पालन कर सके। यदि यह पूरा नहीं हो पाता है तो यह सम्पूर्ण नियम के लिए दोषी है, मनुष्य केवल पाप की विभिन्न मात्रा में ही चयन के लिए स्वतंत्र है। उसके बाह्य सदाचार (सद्गुणों)

का कोई नैतिक मूल्य नहीं है, जबतक कि उसमें आंतरिक प्रयोजन की सम्यक्ता का अभाव है। जो भी श्रद्धा से उद्‌भूत है, वह सब पाप है। श्रद्धा और प्रेम का परस्पर अंतर्भाव है और वे एक दूसरे से अवियोज्य है। श्रद्धा ईश्वर प्रदत्त प्रेम के उस बीज से उत्पन्न होती है जो अपनी पारी में श्रद्धा के द्वारा अपनी पूर्णता पर पहुंचता है। जब दोनों के संयोग से आशा की ज्योति जल उठती है और प्रेम के परम पुनीत फल के प्रति आनंद की पूर्ण ललक उत्पन्न होती है। सेन्टपाल के बाद आगस्टिन इन तीनों को ईसाई सद्‌गुण के तीन प्रमुख तत्त्व मानते हैं इन तीनों के साथ ही वे सद्‌गुण के प्राचीन चतुर्विध वर्गीकरण अर्थात् प्रज्ञा (विवेक), संयम, साहस और न्याय को अपनी परम्परागत व्याख्या के साथ स्वीकार करते हैं। किंतु इन सद्‌गुणों के सम्बंध में उनकी अपनी व्याख्या यह है, कि ये सभी सद्‌गुण अपने आंतरिक एवं सच्चे स्वरूप में उसी ईश्वर के प्रेम के विभिन्न पक्ष या उस प्रेम की प्राप्ति के विभिन्न प्रयास ही है। संयम स्वतः को अपने विषयों से अदूषित रखने वाला प्रेम है, सहनशीलता एक ऐसा प्रेम है जो अपने प्रेमी के प्रति सभी समर्पित करने की तत्परता को सूचित करता है। न्याय केवल प्रेमी के प्रति सेवा की क्रिया है और इस प्रकार सम्यक् अनुशासन है। विवेक (प्रज्ञा) प्रेम का वह रूप है, जो उन वस्तुओं को दूरदर्शिता के साथ चुनता है, जो कि उस प्रेम की साधक है और उन बातों को त्याग देता है जो उस प्रेम में बाधक है। यह ईश्वर-प्रेम, मुक्तात्मा के आनंद का मूल केंद्र है। इसी ईश्वर प्रेम के द्वारा मानव का आत्मप्रेम अपना सच्चा विकास करता है और अपने पड़ोसी के प्रति प्रेम भी उसी का ही परिणाम है। यह संसार का उपभोग नहीं वरन् उपयोग करना है, ईश्वरीय-चिंतन आत्मा के विकास (उर्ध्व प्रगति) की अंतिम स्थिति है। यही मात्र ज्ञान है और यही मात्र आनंद है। इस आग्रहपूर्ण रहस्यवादी दृष्टिकोण के विरोध एवं समरूपता की तुलना स्टोइकवाद की दार्शनिक गम्भीरता से की जा सकती है। आगस्टिन के इस सिद्धांत में ईश्वर-प्रेम मानवीय कर्मों के नैतिक मूल्य का निरपेक्ष (परम) एवं विशिष्ट तत्त्व है। आगस्टिन के सिद्धांत में ईश्वर-प्रेम की स्थिति वही है, जो स्टोइकवाद में 'शुभ के ज्ञान' की है। पुनः यह भी समानता देखी जाती है कि इन दोनों में कोई भी शुभत्व के मूल्यांकन के लिए व्यावहारिक नियमों के साथ अनिवार्य रूप से बंधा हुआ नहीं है। वस्तुतः एक नीतिवेत्ता के रूप में आगस्टिन का मुख्य योगदान ईसाई धर्म के वैराग्यवादी दृष्टिकोण और लौकिक सभ्यता के मध्य समन्वय का प्रयास है। उदाहरणार्थ हम उसे पर्वत पर के उपदेश की अति साहित्यिक व्याख्या के विरोध में सैनिक सेवाओं और न्यायिक

दण्डों की वैधता का समर्थन करते हुए पाते हैं। उसने सुसमाचार (बाइबिल) के परामर्शों और आदेशों के पूर्वोक्त अंतर को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भाग लिया और इस प्रकार ब्रह्मचर्य और आत्मनिरोध के अंध समर्थकों के आक्रमणों से वैवाहिक जीवन और प्राकृतिक शुभों के संयत उपभोग की रक्षा की, यद्यपि वह पाप के दूषण से बचने के लिए ब्रह्मचर्य और आत्मसंयम की पद्धति की श्रेष्ठता को स्वीकार करता है।

ऐम्ब्रोस (340-397 ई.)

आगस्टिन के दर्शन के प्लेटो की सद्गुणों की सूची के ईसाईकरण का प्रयास सम्भवतया उनके गुरु एम्ब्रोस के प्रभाव के कारण था। उनके ग्रंथ डी आफींकस (D-officus) में पहली बार ईसा-पूर्व की नीतिवेत्ता से ली गई योजना के आधार पर ईसाई कर्तव्यों का व्यवस्थित विवेचन पाते हैं। यहाँ एम्ब्रोस के चार मुख्य सद्गुणों के विवरण की तुलना उनकी सीसरो में दी गई रूपरेखा से करना रुचिकर होगा। एम्ब्रोस का चार सद्गुणों का यह विवरण सामान्य विशेष के लिए एक आदर्श बन कर रहा है। ईसाई प्रज्ञा का विमर्शात्मक स्वरूप वस्तुतः धार्मिक (धर्मशास्त्रीय) है। उसका मुख्य विषय ईश्वर है, जिसे वह सर्वोच्च सत्य मानती है और इस प्रकार वह श्रद्धा पर आधारित है। ईसाई सहनशीलता वस्तुतः सद्भाग्य और दुर्भाग्य के प्रलोभनों के प्रति दृढ़ता के साथ खड़ा होना है अथवा निर्दयता के प्रति बिना भौतिक हथियारों के सतत् संघर्ष करते रहने में दृढ़ता रखना है, यद्यपि एम्ब्रोस 'पुराने करार' को दृष्टिगत रखते हुए इस सद्गुण के सामरिक अर्थ साहस को पूर्णतया समाप्त नहीं करते हैं। संयम और मिताचार का अर्थ सभी आचरणों में मात्रा के औचित्य को रखना है। यह अर्थ तो सिसरों के ग्रंथ में भी मिलता है, किंतु इसे विनम्रता के नए सद्गुण के साथ मिश्रित कर इसके अर्थ को संशोधित किया गया है। अंत में, ईसाई न्याय की व्याख्या में सभी मनुष्यों के हितों की स्वाभाविक एकरूपता के स्टोइक सिद्धांत को सु-समाचार के लोकोपकार की पूर्ण ऊंचाई तक विकसित किया गया है। मनुष्यों को यह स्मरण दिलाया गया कि उन्हें ईश्वर के द्वारा निर्मित इस जगत् में सभी का सामूहिक अधिकार है, साथ ही उन्हें यह भी आदेश दिया गया है कि वे अपने साधनों का सामूहिक हितों के लिए उपयोग करे और दूसरों को सहर्ष उनका उपयोग करने दे। सम्पत्ति का अपव्यय नहीं करे, किंतु यदि सम्पत्ति के दान करने से कोई गरीब हो जाता है, तो शर्मिंदा न हो। हम देखेंगे कि एम्ब्रोस ईसाई धर्म में इन विभिन्न सद्गुणों की अवियोज्यता पर बल देते हैं, यद्यपि वे आगस्टिन के समान उन्हें ईश्वर-प्रेम के एक केन्द्रीय तत्त्व के अंतर्गत

नहीं लाते हैं।

अंधयुग की समन्वयवादी नैतिकता

एम्ब्रोस और आगस्टिन के प्रभाव के फ लस्वरूप एवं चार मुख्य सद्गुणों की व्याख्या के आधार पर परवर्ती समन्वयवादी लेखकों के द्वारा एक सुव्यवस्थित नैतिक दर्शन की विवेचना के लिए सामान्यतया स्वीकृत प्रणाली प्रस्तुत की गई। अक्सर आगस्टिन के उदाहरण के पश्चात् श्रद्धा, आशा एवं प्रेम रूपी ईसाई अनुग्रह की त्रयी को भी अपना स्थान दिया गया है तथा ईशहा के द्वारा प्रतिपादित आत्मा के सात वरदानों का भी समावेश कर लिया गया जबकि महान् नैतिक युद्ध के शुभ पक्ष में सात (या आठ) घातक पापों के नेतृत्व में पाप सेना की व्यूह रचना की गई है। जैसा कि हमनें पूर्व में कहा था, इन पापों की सूची का प्रतिरोपण ईसाई संतों के विशेष अनुभवों के द्वारा एक साधारण ईसाई की दृष्टि से नैतिकता सम्बंधी विचार के कारण हुआ, किंतु अंततोगत्वा ईसाई साधुसंस्था और सामान्य ईसाई के कर्तव्यों का विभाजन धर्माज्ञा के उच्च एवं निम्न रूप में स्पष्टतया रहा। जब मध्ययुगीन ईसाई धर्म संस्था में उसका प्रतिपादन किया गया तो, इसे पुरोहितवर्ग और जीवन के साधारण नियमों के बीच विभिन्न स्रोतों एवं अर्थों के वर्गीकरण के द्वारा अधिक जटिल बना दिया गया, किंतु धर्म-पुरोहितों एवं संन्यासियों के लिए ईसाई समाज की सामान्य धारणा के अनुसार लागू होने वाले नैतिक नियमों में क्रमशः निकट आने की प्रवृत्ति उसके पूर्व भी थी, जबकि 11 वीं शताब्दी में ईसाई धर्म पुरोहित के लिए ब्रह्मचर्य का नियम सर्वसामान्य रूप से अनिवार्य कर दिया गया, यद्यपि 'महापाप' और क्षम्य या लघु पापों का अंतर धर्म पुरोहित और जन-साधारण- दोनों के लिए समान रूप से लागू होता था। जैसा कि हमने देखा, इसमें ईश्वरीय अनुशासन की अर्थ एवं न्यायिक–व्यवस्था का शास्त्रीय (तकनीकी) संदर्भ था, जो कि चर्च की एक पूर्ण व्यवस्थित आध्यात्मिक शक्ति के रूप में धीरे–धीरे विकसित हुआ और जिसने पाश्चात्य साम्राज्य के पतन से उत्पन्न अव्यवस्था के मध्य अपनी स्थापना की और एक धर्मतंत्र (धर्म-शासन) के रूप में विकसित होकर आंशिक रूप से मध्य यूरोप पर शासन किया। महापाप वे हैं, जिनके कर्ता को शाश्वत नरक की आग से बचाने के लिए एक विशेष प्रकार की कठोर तपस्या करना होती है, जबकि लघु (क्षम्य) पापों के लिए प्रार्थना, दान और नियमित उपवास आदि के द्वारा क्षमा प्राप्त की जा सकती है। हम देखते हैं कि 7 वीं एवं 8 वीं शताब्दी में आयरलैण्ड ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी सभी में पाप को

स्वीकार कर पश्चाताप करने वालों के उपयोग के लिए पश्चाताप- पुस्तिकाओं का प्रचलन पाया जाता है। ये पश्चाताप पुस्तिकाएं आंशिक रूप से परम्परागत रीति-रिवाज पर और आंशिक रूप से धर्मसमाजों के सुव्यक्त आदेशों पर आधारित थीं। प्रारम्भ में वे मात्र पापों की ऐसी सूचियां थीं, जिनमें प्रत्येक पाप के लिए समुचित ईश्वरीय दण्ड[11] का विधान था, किंतु क्रमशः अंतरात्मा की समस्या पर विचार विमर्श हुआ एवं निर्णय लिए गए और इस प्रकार धर्माधर्म विचार या किंकर्तव्यमीमांसा के लिए एक आधार प्रस्तुत किया गया, जो कि 14 वीं और 15 वीं शताब्दी में अपने पूर्ण विकास पर पहुंचा। ईश्वरीय न्यायशास्त्र का यह विकास धर्माध्यक्षीय नियंत्रण का एक सशक्त प्रयत्न था और सम्भवतया मध्ययुग के अर्थ-अराजकता के प्रारम्भिक काल में नैतिक व्यवस्था बनाए रखने के चर्च के महान कार्य की पूर्ति का अपरिहार्य अंग था, किंतु इसमें नैतिकता के अनुचित बाह्य एवं वैधानिक (नियमवादी) दृष्टिकोण का प्रश्रय देने की भयंकर प्रवृत्ति निहित थी, तथापि इस प्रवृत्ति का संतुलन आगस्टिन के अंतर्मुखत्म के ज्योतिर्मय विचार के द्वारा सतत् रूप से किया जाता रहा। यही अंतर्मुखता का तथ्य यह है कि व्यवस्थित अनुशासन की आवश्यकता के इस युग में चर्च स्वयं ही आंशिक रूप से क्रूर (जंगली) हो गया था। पश्चिमी साम्राज्य के पतन के बाद और पाण्डित्यवाद के उदय होने के पहले दार्शनिक अंधत्व के युग में ग्रेगोरी महान (मृत्यु 604) केमारलिया सेविलेके ईसीडोर (मृत्यु 636) केसेन्टन्शिया तथा एल्क्यून (मृत्यु 804) हरवन्स म्यूरस (मृत्यु 856) आदि लेखकों के ग्रंथों के माध्यम से मंद एवं क्षीण रूप में पाण्डित्यवाद के युग तक आया था।

पाण्डित्यवादी-नीतिशास्त्र

पाण्डित्यवादी दर्शन के समान ही पाण्डित्यवादी नीतिशास्त्र भी थामस एक्विना की शिक्षाओं में अपने पूर्ण एवं विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त करता है किंतु, इस महान् विचारक के नैतिक-दर्शन का संक्षिप्त विवेचन करने के पूर्व यह उचित होगा कि चिंतन एवं विमर्श-प्रक्रिया के उन विभिन्न मुख्य स्तरों पर विचार कर लें, जिनके द्वारा हमें चिंतन का यह स्तर प्राप्त हुआ।

जान्स एरीजेना (810-877)

हमें अपना विवेचन मध्ययुग के प्रारम्भिक एवं महान दार्शनिक जान्स स्काट एरीजेना से प्रारम्भ करना होगा। यद्यपि यह सही है कि केवल पाण्डित्यवाद के व्यापक अर्थ की दृष्टि से उन्हें पाण्डित्यवादी कहा जा सकता

है, क्योंकि पाण्डित्यवादी विचार परम्परा से उनकी कालिक दूरी कहीं अधिक है, जो कि उन्हें उससे अलग करती है। जब वे ईसाई आस्था के साथ समायोजन करते हुए अपनी दार्शनिक विवेचना करते हैं तो न तो अपनी तर्क पद्धति में आप्तवचन प्रिय नहीं के प्रति पूर्ण आस्था प्रकट करते हैं और न अपने निष्कर्षों में पूर्णतया परम्परावादी बनते हैं, जबकि ये दोनों अपने कठोर अर्थ में पाण्डित्यवाद के मुख्य लक्षण हैं। ऐरीजेना के दर्शन पर प्लेटो और प्लोटिनस का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, जो कि डायनिसिअस दा ऐरीओपेगिट नामक किसी अज्ञात लेखक के माध्यम से उन पर पड़ा था, तदनुसार उनके दर्शन के नैतिक पहलू में वही निषेधात्मक और संन्यासमार्गी लक्षण दिखाई देते हैं, जो कि नव प्लेटोवाद में मिलते हैं। उनका कहना है कि मात्र ईश्वर ही सत् है, दूसरी प्रत्येक वस्तु की सत्ता वहीं तक है, जहां तक कि ईश्वर उसमें अपने को अभिव्यक्त करता है। ईश्वर की दृष्टि से अशुभ अज्ञेय और असत् है, विश्व में उसकी मात्र भ्रामक प्रतीती है, जिसमें मनुष्य पड़ा हुआ है। मनुष्य के जीवन का सच्चा साध्य तो इस आभासी भौतिक अस्तित्व से ऊपर उठकर ईश्वर के साथ पूर्णतया एकात्म हो जाता है। यह सिद्धांत उसके समकालीन विचारकों में नहीं पाया जाता है। निश्चित ही यह सिद्धांत शास्त्र-विरुद्ध था और इसलिए पोप होनरीअस तृतीय के द्वारा इसकी जो आलोचना की गई वह उचित ही थी, किंतु 12 वीं एवं 13 वीं शताब्दी के भावपूर्ण पारम्परिक रहस्यवाद के विकास में कुंदनवेशी हीयोनिसिअस के साथ एरीजेना का महत्वपूर्ण योगदान है। नवप्लेटोवादी परम्पराओं से अनुप्राणित प्लेटोवाद अथवा नवप्लेटोवाद मध्ययुगीन विचारों से अलग बना रहा यद्यपि परिपक्व पाण्डित्यवाद के युग में अरस्तू के सर्वाधिक प्रभाव के कारण तिरोहित-सा हो गया था।

एन्सेल्म (1033-1109)

अपने सही अर्थ में पाण्डित्यवाद का प्रारम्भ शास्त्रीय ईसाई धर्म के परम्परागत दर्शन को यथासम्भव तार्किक संगति के साथ प्रस्तुत करने के एन्सेल्म के व्यापक एवं गम्भीर प्रयत्नों से होता है। यद्यपि नीतिशास्त्र के क्षेत्र में एन्सेल्म का महत्वपूर्ण योगदान केवल संकल्प की स्वतंत्रता की समस्या के सम्बंध में है। हम देखते हैं कि आगस्टिन का मूल पाप की धारणा को तथा मनुष्य के लिए अनर्जित प्रभु-कृपा की निरपेक्ष आवश्यकता को उसके मुक्ति सिद्धांत में भी स्वीकार किया गया है। वह स्वतंत्रता को पाप नहीं करने की

शक्ति के रूप परिभाषित करने में भी आगस्टिन का अनुसरण करता है, किंतु यह कह कर कि आदम अपनी स्वेच्छा से अथवा अपने स्वतंत्र चयन के द्वारा पतित हो गए, न कि अपनी स्वतंत्रता से पतित हो गए। इस प्रकार एन्सेल्म में अव्यक्त रूप से एक अंतर की ओर संकेत किया है, जिसे बाद में पीटर और लेम्बार्ड ने पाप की गुलामी से स्वतंत्रता और निर्धारणता से स्वतंत्रता (अर्थात् अनिवार्यता की विरोधी स्वतंत्रता) के बीच स्पष्ट किया है। एन्सेल्म पूर्व-निर्धारित भाग्यवाद की आगस्टिन की धारणा को इस व्याख्या के द्वारा मृदु बना देते हैं कि पतित व्यक्ति भी जो उचित है, उसके संकल्प करने की स्वतंत्रता से पूरी तरह वंचित नहीं होता है, यह (संकल्प की स्वतंत्रता) तो उसके बौद्धिक स्वभाव में ही निहित है, यद्यपि आदम के पाप के पश्चात यह संकल्प की स्वतंत्रता मनुष्य में अंधकार में देखने की शक्ति के समान केवल बीज के रूप में ही है, सिवाय उस स्थिति के, जबकि इसे ईश्वरीय कृपा के द्वारा वास्तविक नहीं बनाया गया हो।

एबेलार्ड (1079-1142)

एबेलार्ड अधिक आधुनिक ढंग से मनुष्य के दुर्दण्ड और स्वतंत्र चयन के बीच पाप की अधिक स्पष्ट धारणा के द्वारा सम्बंध स्थापित करते हैं। वे दुराचरण के प्रति मात्र झुकाव, जो कि पतित मनुष्य को वंशानुक्रम से प्राप्त होता है और बाह्य कुकर्म, जो इस झुकाव का परिणाम होता है, दोनों से वास्तविक पाप को अलग करते हैं। दुराचरण के प्रति झुकाव, जहां तक कि वह अनैच्छिक है, पाप नहीं है जैसा कि वह बताता है। वस्तुतः उसका अस्तित्व हमारी मानवीय सद्गुण की उस पूर्व धारणा में निहित है जो कि दुर्वासनाओं के विरुद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष में बनती है। हमारे किसी कर्म के बाह्य-परिणाम को भी पाप नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इस बात के भी प्रमाण हैं कि ये बाह्य परिणाम अज्ञान या बाध्यता के द्वारा हमारी ओर से बिना किसी नैतिक अपराध के भी निष्पन्न हो सकते हैं, अतः पाप मात्र ईश्वर या उसकी आज्ञाओं की अवहेलना में है, जो कि दुर्वासनाओं की चेतन स्वीकृति में ही अभिव्यक्त होता है। तदनुसार, बुराई के प्रति इस आंतरिक स्वीकृति के आधार पर प्रायश्चित्त की योजना की जाना चाहिए, न कि किसी कार्य के बाह्य परिणाम के आधार पर सच्चे प्रायश्चित्त का सारतत्त्व तो स्वयं पाप से घृणा है, न कि उसके परिणामों से। इस आधार पर एबेलार्ड यह निष्कर्ष निकालने से भी झिझकता है कि आचरण की उचितता पूर्णतया अभिप्राय पर आधारित होती है और इसलिए सभी

बाह्य कर्म अपने आप में न उचित है, और न अनुचित, किंतु वह इस विरोधाभास के खतरनाक परिणामों से अपने सिद्धांत बचाने के लिए तार्किक संगति की कुछ जोखिम उठा लेता है। उसका कथन है कि अच्छे अभिप्राय का अर्थ वस्तुतः उचित कर्म करने का अभिप्राय है, न कि जो कर्त्ता को अच्छा प्रतीत होता है, उस कर्म को करने का अभिप्राय। यद्यपि वह प्राचीन दर्शन का पूर्ण जानकार नहीं था और प्राचीन दर्शन से ईसाई धर्म के सम्बंध को भी उसने मनमाने ढंग से गलत रूप में समझा था[12], फिर भी प्राचीन दर्शन के पुनर्जीवित प्रभाव के कारण वह यह तर्क देता है कि प्राचीन ग्रीक नैतिक चिंतक शुभ के प्रति निष्काम प्रेम की धारणा की स्वीकृति के आधार पर वस्तुतः यहूदी विधानवाद की अपेक्षा ईसाई धर्म के अधिक निकट थे। वह बड़े साहसपूर्वक यह कहता है कि अबौद्धिक इच्छाओं के नियंत्रण, सांसारिक वस्तुओं के प्रति तिरस्कार की भावना और आध्यात्मिकता के प्रति लगाव के प्रति प्राचीन दार्शनिकों ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया, उसे देखकर तो अधिकांश भिक्षु भी लज्जित हो जाते हैं। वह ईसाई धर्म के ईश्वर प्रेम के लिए भी निष्कामता की आवश्यकता पर बल देता है। ईश्वर प्रेम तभी शुद्ध माना जा सकता है, जबकि वह अपने सुख की कामना से रहित हो। सुख तो प्रभु देता है। अबेलार्ड के विचारों की सामान्य प्रवृत्ति को उसके समकालीन परम्परावादियों ने संदेह की दृष्टि से देखा[13] तथा उसके द्वारा प्रस्तुत ईश्वर प्रेम की निष्कामता की मान्यता की उस युग के अधिकांश परम्परावादी रहस्यवादियों के द्वारा भी तीव्र आलोचना की गई। सेंट विक्टोर के ह्यूगो (1077-1141) का कथन है कि सभी प्रेम अनिवार्यतया सकाम है, क्योंकि उसमें अपने प्रिय से मिलन की कामना तो होती ही है और शाश्वत आनंद भी उस मिलन में ही है, अतः ईश्वर से अलग उस आनंद की कोई इच्छा ही नहीं की जा सकती है, जबकि के. बर्नाडे (1091 से 1153 ई.) अधिक विस्तार पूर्वक प्रेम के चार स्तरों का वर्गीकरण करते हैं। इन प्रेम के चार स्तरों के द्वारा ही आत्मा क्रमशः आगे बढ़ती है। ये प्रेम के चार स्तर निम्न हैं- 1. दुःखों में ईश्वर की सहायता की वैयक्तिक इच्छा के लिए प्रेम करना, 2. ईश्वर को उसके प्रेममय अनुग्रह के लिए प्रेम करना, 3. ईश्वर को उसकी निरपेक्षशुभता के कारण प्रेम करना और 4. मात्र उसके प्रति किए गए इस प्रेम का किसी भी क्षण सर्वव्यापी प्रेम बन जाना।

पाण्डित्यवादी-पद्धति

अबेलार्ड का बर्नार्ड और सेन्ट विक्टोर के ह्यूगो से झगड़ा कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त रूप से रहा है। यह उस विरोध का उदाहरण है, जिसे हम मध्ययुगीन विचारों में द्वंद्वात्मक और रहस्यात्मक प्रयत्नों के बीच पाते हैं। द्वंद्वात्मक प्रयत्न शास्त्रीय आस्था की परम्परागत मान्यताओं द्वारा नियत सीमाओं के अंतर्गत बुद्धि को संतोष देने का ही एक प्रयास था, जबकि रहस्यात्मक प्रयत्न उन्हीं मान्यताओं में भावनात्मक एवं अंतर्मुखी धार्मिक चेतना के लिए पूर्ण समर्थन या धार्मिक ढांचे की खोज कर रहे थे। ये विरोधी प्रवृत्तियां 13 वीं शताब्दी में पाण्डित्यवादी दर्शन के उद्भव के पूर्व भी एवं उसके पश्चात् भी संघर्षरत थीं, किंतु पाण्डित्यवाद का प्रधान उद्देश्य तो इस एवं अन्य ऐसे ही विरोधों को समाप्त करना ही था।

पीटर दी लाम्बर्ड (मृत्यु 1164)

हमें पीटर दी लाम्बर्ड के लिबरी सेन्टंशिम नामक ग्रंथ में एक समन्वयवादी संगतिपूर्ण प्रवृत्ति मिलती है। यह ग्रंथ पश्चिमी यूरोप में एक लम्बे समय तक व्यापक रूप में धार्मिक शिक्षा की प्रवेशिका पुस्तक के रूप में मान्य रहा। इसका ऐतिहासिक महत्त्व मुख्यतः उसकी पद्धति एवं निर्माण-योजना में है । इसका मुख्य उद्देश्य कैथोलिक चर्च में विकसित ईसाई धर्मशास्त्र की सारगर्भित, किंतु व्यापक व्याख्या देना है। यह धर्मग्रंथों एवं धर्मगुरुओं की वाणी के महत्वपूर्ण कथनों का संकलन है। इसमें पक्ष-विपक्ष की मुख्य युक्तियों के प्रत्येक महत्वपूर्ण वाक्य को दिया गया है और ऊपरी तौर से विद्वानों के द्वारा प्रयुक्त पदों के सूक्ष्म अर्थ भेद के द्वारा उत्पन्न आभासी विरोधों का समन्वय करने का प्रयास किया गया है। बाल की खाल निकालने की इस पाण्डित्यवादी कला के द्वार सदैव ही किसी न किसी रूप में उन आक्रमणों के लिए खुले थे, जो कि इसके परवर्ती विकास पर बेकन और दूसरे विचारकों के द्वारा किए गए, किंतु यदि भिन्न-भिन्न स्रोतों से आई इस सामग्री के आधार पर एक व्यवस्थित एवं संगतिपूर्ण सिद्धांत का निर्माण किया जाता, तो पाण्डित्यवाद अपरिहार्य बन जाता। अगली शताब्दियों में जब अरस्तू को एक ऐसे दार्शनिक के रूप में स्वीकार कर लिया गया, जिसके सिद्धांत मानवीय बुद्धि के क्षेत्र में आने वाले सभी विषयों पर निर्विवाद माने जाते थे, तो विशेषज्ञों की जटिलता के अधिक बढ़ जाने के कारण यह और भी अधिक अपरिहार्य हो गया। अरस्तू के

सिद्धांतों के अध्ययन का पुनः प्रारम्भ अरब और यहूदी टीकाकारों के प्रभाव एवं उनके ग्रंथों के कारण हुआ। अरस्तवी और ईसाई विचारों का महत्वपूर्ण संयोजन 13 वीं शताब्दी में हुआ और जिसने एक लम्बे समय तक कैथोलिक सम्प्रदाय के शास्त्रीय-दर्शन पर अपना नियंत्रण रखा। इसका प्रारम्भ अल्बर्टमहन के द्वारा हुआ और थामस एक्वीना ने इसे पूर्णता पर पहुंचाया।

थामस एक्वीनास (1225-1274 ई.)

थामस एक्वीनास का नैतिक-दर्शन मुख्यतः नवप्लेटोवाद से प्रभावित अरस्तूवाद है, जिसे मुख्य रूप से आगस्टिन के ईसाई सिद्धांतों के आधार पर संवर्द्धित एवं विवेचित किया गया है। वह मानता है कि सभी बौद्धिक और अबौद्धिक वस्तुओं की गतियां या क्रियाएं किसी साध्य या शुभ की ओर उन्मुख होती हैं, जो कि बौद्धिक प्राणियों के संदर्भ में ये क्रियाएं विचार के रूप में परिलक्षित होती हैं, ये अभिप्राय के द्वारा निश्चित होती हैं तथा व्यावहारिक बुद्धि के प्रभाव के द्वारा संकल्प के रूप में उनकी इच्छा की जाती है। वस्तुतः वांछित साध्य अनेक होते हैं, जैसे - सम्पत्ति, सम्मान, शक्ति, सुख आदि, किंतु इनमें से कोई भी न तो संतोष दे पाता है और न सुख ही वह तो केवल परमात्मा स्वयं ही दे सकता है, जो कि सभी प्राणियों का आधार एवं प्रथम कारण है और सभी परिवर्तनों का अपरिवर्तित सिद्धांत है, इसलिए वह तत्त्व ईश्वर है, जिसकी ओर सभी वस्तुएं वस्तुतः अचेतन रूप से अपनी शुभ की साधना के द्वारा प्रयासशील है, किंतु ईश्वर के प्रति यह सार्वलौकिक प्रयास वस्तुतः बुद्धिगम्य है, अतः यह बुद्धिमान् प्राणियों में, उस ईश्वर के ज्ञान की जिज्ञासा में ही, अपने सर्वोच्च रूप में अभिव्यक्त होता है, यद्यपि ऐसा ज्ञान बुद्धि के सामान्य क्रिया-कलापों से परे है और मनुष्य में केवल आंशिक रूप से ही प्रकट हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य का सर्वोच्च शुभ वस्तुनिष्ठ रूप में ईश्वर है और आत्मनिष्ठ रूप में उस पूर्ण प्रभु की प्रेममय दृष्टि से प्राप्त आनंद है, यद्यपि दूसरे निम्न प्रकार के सुख भी है, जिनकी उपलब्धि लौकिक जीवन की आवश्यकताओं के सम्बंध में सम्यक् प्रकार से पूरी तरह प्रशिक्षित स्वस्थ मन और स्वस्थ तन के द्वारा सद्गुण और मैत्री के सामान्य मानव-जीवन में होती है। उच्च प्रकार का आनंद तो ईश्वर की मुक्त कृपा से उपलब्ध होता है, किंतु यह उन्हें ही उपलब्ध होता है, जिनका हृदय पवित्र है और जिन्होंने अनेकों सत्कार्यों के द्वारा अपने को उस योग्य बना लिया है। कौन-सा कार्य सत्कार्य होगा इस सम्बंध में विचार करते समय हमें यह ध्यान रखना होगा कि किसी कर्म की

नैतिकता केवल आंशिक रूप से ही उसके विशेष साध्य या प्रेरक के द्वारा निर्धारित होगी और आंशिक रूप में उस कर्म की नैतिकता उस कर्म के बाह्य विषयों और परिस्थितियों पर निर्भर होगी। सिवाय उन कार्यों के, जो कि बाह्य परिस्थितियों से तटस्थ होते हैं और जिनकी शुभाशुभता का निर्धारण पूरी तरह से प्रेरक पर निर्भर होता है, ये परिस्थितियां शेष कार्यों को या तो बुद्धि के आदेश के अनुकूल रखेगी या प्रतिकूल रखेगी। विशेष सद्गुणों और दुर्गुणों के वर्गीकरण में हम बहुत ही स्पष्ट रूप से उन विभिन्न विचारधाराओं के तथ्यों को अलग-अलग कर सकते हैं, जिन्हें थामस एक्वीनास ने आत्मसात कर लिया था। मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति के अंतर्गत आने वाले सद्गुणों अथवा उन सद्गुणों की, जिन्हें अभ्यास या प्रशिक्षण के द्वारा अंशतः प्राप्त किया जा सकता है विवेचना में वह मुख्यतया अरस्तूवादी है। प्राकृतिक सद्गुणों को बौद्धिक सद्गुण एवं नैतिक सद्गुण के रूप में वर्गीकृत करने में तथा पुनः बौद्धिक सद्गुणों को विमर्शात्मक सद्गुण एवं व्यावहारिक सद्गुण के रूप में वर्गीकृत करने में भी वह अरस्तू का अनुसरण करता है। पुनः, विमर्शात्मक बौद्धिक सद्गुण को भी बुद्धि, विज्ञान और प्रज्ञा में विभाजित किया गया है। बुद्धि, जो सिद्धांतों की जानकार है, विज्ञान जो निष्कर्ष निगमित करता है और दूसरे प्रज्ञा, जिसका सम्बंध लोकोत्तर वस्तुओं के ज्ञान की समग्र प्रक्रिया से है। व्यावहारिक प्रज्ञा या विवेक अवियोज्य रूप से नैतिक सद्गुण से सम्बंधित है, इसलिए एक अर्थ में नैतिक[16] हैं। इन सभी विवेचनाओं में भी वह अरस्तू का अनुसरण करता है। पुनः, जब वह नैतिक सद्गुणों में उन सद्गुणों से, जो कि प्राथमिक रूप से स्वयं कर्ता की वासनाओं से सम्बंधित है न्याय का, जो कि उन कार्यों में अभिव्यक्त होता है, जिसमें दूसरों को उनका हक मिलता है, अंतर स्थापित करता है, तो वह मात्र अरस्तू के सिद्धांत की व्याख्या प्रस्तुत करता है। उसकी परवर्ती सद्गुणों की 10 तक की सूची पूरी की पूरी अरस्तू के नीतिशास्त्र से ली गई है। दूसरी ओर, आत्मा के अबौद्धिक पक्ष आवेगों का वर्गीकरण वासनाजन्य आवेग और बाधाजन्य आवेग के रूप में किया गया है, जो कि अरस्तू[17] की अपेक्षा प्लेटोवादी अधिक है। वासनाजन्य आवेग वे हैं जो संवेदनीय शुभ या अशुभ के सरल बोध से उत्तेजित हो जाते हैं, जैसे - प्रेम, घृणा, राग, द्वेष, हर्ष, शोक आदि, जबकि बाधाजन्य आवेग में वे आवेग आते हैं, जो कि वांछित वस्तु की उपलब्धि को मार्ग में बाधा पड़ने से उत्तेजित होते हैं[18], जैसे-निराशा, भय, साहस एवं क्रोध आदि। वह वासनाओं का नियंत्रण करने वाले अपने सद्गुणों की सूची को

क्रम देने में वह प्लेटो और सिसरो के माध्यम से स्टोइकों से लिए गए प्रचलित चार मुख्य सद्गुणों से मतवैभिन्य रखता है। अरस्तूवी परम्परा के दस सद्गुण निम्न शीर्षकों के अंतर्गत आते हैं (1) विवेक (प्रज्ञा), जो कि आचरण के हेतु तर्कसंगत नियम प्रदान करता है, (2) संयम-जो पथभ्रष्ट करने वाली इच्छाओं को निरोध करता है, (3) सहनशीलता - जो कि कठिनाइयों और खतरों के भ्रांत (काल्पनिक) भय का नियमन करती है। यद्यपि मुख्य सद्गुणों के आत्मा के विभिन्न पक्षों से सम्बंध के प्रश्न को लेकर एक्वीनास का दृष्टिकोण प्लेटोवादी, अरस्तूवादी एवं स्टोइकवादी नहीं है। आत्मा के तीन पक्ष बौद्धिक, वासनात्मक और आवेशात्मक हैं, विवेक, संयम और सहनशीलता जिनके क्रमशः विशिष्ट सद्गुण है। इन तीनों पक्षों के साथ-साथ थामस एक्वीनास एक चौथे पक्ष संकल्प को मानते हैं, जिससे सम्बंधित सद्गुण न्यायशीलता है और जिसका क्षेत्र बाह्य कर्म है, तथापि इन आंशिक रूप से 'स्वाभाविक' और आंशिक रूप से अर्जित सद्गुणों के सम्बंध में 'दार्शनिकों' का ही अधिकार प्रमुख रहा है, यद्यपि इसके साथ ही इन सद्गुणों को क्रमबद्ध करने के पूर्व थामस श्रद्धा, प्रेम और आज्ञावादिता के धार्मिक सद्गुणों की त्रयी को रख देते हैं, जो कि आधिभौतिक रूप से ईश्वर के द्वारा प्रदत्त है और जिनका अपरोक्ष साध्य ईश्वर ही है। श्रद्धा के द्वारा ईश्वर के ज्ञान का वह भाग प्राप्त होता है, जो कि प्राकृतिक बुद्धि या दर्शन की सीमा से परे है। स्वाभाविक रूप से हम ईश्वर के अस्तित्व को जान सकते है, किंतु उसकी त्रिधा में एकात्मकता (अद्वयता) को नहीं जान सकते हैं। यद्यपि दर्शन इसकी एवं दूसरे प्रकाशित सत्यों की रक्षा करने में सहायक है और यह आत्मकल्याण की उपलब्धि के हेतु आवश्यक है ईसाई धर्म के समग्र धर्म-सिद्धांत को व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा अल्पतम रूप में ही जाना जा सकता है, उनका ज्ञान तो श्रद्धा के द्वारा सम्भव है। कोई ईसाई यदि किसी एक धर्म नियम को अस्वीकार करता है, तो वह सम्पूर्ण श्रद्धा या ईश्वर को खो देता है। श्रद्धा ईसाई नैतिकता का तात्त्विक आधार है, किंतु बिना प्रेम के ईसाईयत के सभी सद्गुण आकारहीन है। प्रेम ही सभी ईसाई सद्गुणों का 'मूलभूत आकार' है। आगिस्टन के बाद से ईसाई धर्म का प्रेम अपने प्रति परम शुभ की प्राणी की स्वाभाविक इच्छा से परे ईश्वर के प्रति प्रेम है, जो कि समस्त ईश्वरीय सृष्टि से प्राणियों के प्रति व्यापक हो जाता है और अंततोगत्वा जिसमें आत्मप्रेम भी समाहित हो जाता है, किंतु प्राणियों में, उनकी ईश्वर द्वारा सृष्टि होने के कारण, जो पवित्रता है उसके लिए ही उन्हें प्रेम करना चाहिए। उनमें जो कुछ भी अपवित्रता है, वह सब

अपनी समाप्ति तक घृणा का ही विषय है। थामस एक्वीनास के दुर्गुणों या पापों के वर्गीकरण में ईसाई दृष्टिकोण ही प्रमुख है, तथापि उसके ग्रंथों में अरस्तू के अति और कमी के दुर्गुणों का वर्गीकरण भी पाया जाता है। इसके साथ ही साथ उसके ग्रंथों में ईश्वर के प्रति किए जाने वाले पाप, समाज (पड़ोसियों) के प्रति किए जाने वाले पाप और स्वयं के प्रति किए जाने वाले पापों का आधुनिक वर्गीकरण, महापाप और अल्प (क्षम्य) पाप का वर्गीकरण, क्रिया सम्बंधी पाप और निष्क्रियता सम्बंधी पापों का वर्गीकरण तथा मानसिक, वाचिक और कायिक पापों का वर्गीकरण भी उपलब्ध होता है।

पाप की वैधानिक दृष्टि से विवेचना करने के उपरांत थामस एक्वीनास स्वाभाविक रूप से नियम की विवेचना करते हैं। इसका विवेचन भी बहुत कुछ रूप में नैतिक सद्गुण की विवेचना से मिलता जुलता है, किंतु एक नए ढंग से प्रस्तुत किया गया है। थामस के लेखों में इसकी प्रधानता उस रोमन न्यायशास्त्र के अध्ययन के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण है, जिसने इटली में 12 वीं शताब्दी में त्वरित गति से प्रगति की थी। थामस के चिंतन का यह पक्ष अधिक ऐतिहासिक महत्व का है। धार्मिक प्रत्ययों का परवर्ती रोमन कानून के अमूर्त सिद्धांतों से यह संयोग ही वर्तमान युग के स्वतंत्र नैतिक चिंतन का प्रारम्भिक बिंदु बना। कानून के सामान्य विचार की परिभाषा निम्न प्रकार दी जा सकती है 'कानून सामान्य शुभ के लिए ऐसे व्यक्ति के द्वारा प्रवर्तित बुद्धि का आदेश है, जो कि सामाजिक दायित्वयुक्त है, थामस एक्वीनास ने कानून के सामान्य विचार का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है - (1) शाश्वत नियम या ईश्वरीय नियामक बुद्धि, जो ईश्वरीय सृष्टि के बौद्धिक एवं अबौद्धिक सभी प्राणियों का नियमन करती है। (2) प्राकृतिक नियम, जो कि शाश्वत नियम का ही एक अंग होने से बौद्धिक प्राणियों पर भी लागू होते है। (3) मानवीय नियम, जो कि वस्तुतः उसी प्राकृतिक नियम से ही निर्मित होते हैं, जिसे वास्तविक समाज की परिवर्तित परिस्थितियों के लिए स्वीकार किया जाता है या जिसका विशेषीकरण किया जाता है। (4) ईश्वरीय नियम वस्तुतः जिनका प्रकाशन मनुष्य के लिए हुआ है। प्राकृतिक नियम के सम्बंध में उनका कहना है कि ईश्वर ने मानवीय मस्तिष्क में अपरिवर्तनशील सामान्य सिद्धांतों के ज्ञान का दृढ़तापूर्वक बीजारोपण कर किया है और न केवल ज्ञान का वरन् एक 'विन्यास' का भी, जिसके लिए थामस एक्वीनास एक विशेष पाण्डित्यवादी पद सिन्डेरेसिस[19] का उपयोग करता है। जो कि निर्भ्रान्त रूप से

इन सिद्धांतों को आचरण में उतारने के लिए प्रेरित करता है और उनके भंग करने से बचाता है। प्राकृतिक सद्गुणों से सम्बंधित सभी कार्य आंतरिक रूप से इसी प्राकृतिक नियम के क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं, किंतु जब इन्हीं प्राकृतिक नियमों को मानवीय जीवन की विशेष परिस्थितियों में लागू करने के अंतर्विवेक[20] के अंतर्गत लाया जाता है, तब मनुष्य का निर्णय भ्रांत हो सकता है इसीलिए कर्तव्य का पूरी तरह से अभ्रांत ज्ञान नहीं हो पाता है, प्राकृतिक या स्वभाविक प्रकाश बुरे प्रशिक्षण एवं रीतिरिवाजों से तिरोहित या विकृत हो जाता है। न केवल जहां मनुष्य का प्राकृतिक नियमों का बोध कोई आंतरिक मार्गदर्शन न दे पाता है, वहां स्पष्ट विवरण प्रस्तुत करने के लिए मानवीय नियम आवश्यक हैं, अपितु जो अपूर्ण मनुष्यों को बुरे कार्यों और दूसरों के लिए अहितकर कार्यों से रोकने के लिए तथा व्यावहारिक कार्य करने के हेतु आवश्यक शक्ति प्रदान करने के लिए अनिवार्य हैं, ये कानून या विधान के नियम या तो प्राकृतिक नियम के सिद्धांतों से निगमित किए जाते हैं या उन विशेषों के द्वारा निर्धारित होते हैं, जिन्हें यह नियम अनिर्धारित छोड़ देता है। वे धाराएं, जो प्राकृतिक विधान की विरोधी हो एक नियम के रूप में भी कभी भी प्रामाणिक नहीं हो सकती हैं, यद्यपि मानवीय नियमों का संबंध केवल बाह्य आचरण से है और वे जितनी बुराई रोकते हैं, उससे कहीं अधिक बुराई उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार वे समस्त बुराई के निरसन का प्रयास भी नहीं कहे जा सकते हैं, जबकि प्राकृतिक नियम अपने लागू होने की स्थितियों को अस्पष्ट और अनिश्चित बनाने के दोषी है, न तो प्राकृतिक नियम और न मानवीय नियम ही उस आध्यात्मिक सुख पर विचार करते हैं, जो कि मानव का परम श्रेय है, इसीलिए इन प्राकृतिक एवं मानवीय नियमों को ईश्वर नियम के प्रकाशन से पूरित होने की आवश्यकता है। यह प्रकाशन (आगम) भी पुराने सुसमाचार और नए सुसमाचार- इन दो भागों में विभाजित है। इनमें से भी नवीन सुसमाचार विधायक और आदेशात्मक है, क्योंकि यह उस ईश्वरीय कृपा से युक्त है जो कि उसकी पूर्णता को सम्भव बनाती है, यद्यपि हम इस नए सुसमाचार को भी दो भागों में विभाजित कर सकते हैं - 1. निरपेक्ष आदेश और 2. सुझाव (परामर्श), जो कि बिना विधायक आदेश के संत जीवन के सद्गुणों जैसे अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, विनय आदि की भौतिकता इच्छाओं से पराङ्मुख होकर आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति हेतु, इसकी सबसे अच्छे साधन के रूप में अनुशंसा की गई है।

किंतु, प्रश्न यह है कि मनुष्य स्वाभाविक या ईसाई धर्मानुसार पूर्णता को

प्राप्त करने में कहां तक योग्य है? थामस एक्वीनास के दर्शन का यह पहलू कमजोर प्रतीत होता है, जिसमें उसने विभिन्न पक्षों के समन्वय के द्वारा उनमें आपस में संगति बिठाने का प्रयत्न किया है। वह इस सम्बंध में पूर्णतया सतर्क हैं कि ईसाई धर्म और अरस्तू के दर्शन के आधार पर किया गया यह संस्करण दो भिन्न कठिनाइयों को इस मानवीय योग्यता के प्रश्न के सम्बंध में सहा करता है। पहली गैर ईसाई कठिनाई इन दो बातों में संगति बिठाने की है कि एक ओर संकल्प या उद्देश्य वह बौद्धिक इच्छा है जो सदैव ही दृश्य शुभ के द्वारा निर्धारित होती है, तो दूसरी ओर नैतिकता के विधिक दृष्टिकोण के लिए शुभ और अशुभ के मध्य चुनाव की स्वतंत्रता अपेक्षित है। दूसरी-ईसाई कठिनाई चुनाव की स्वतंत्रता के इस प्रत्यय का धार्मिक चेतना के द्वारा स्वीकृत ईश्वरीय कृपा पर पूर्ण निर्भरता की धारणा के साथ समन्वय करने सम्बंधी है। थामस पहली पर पूरी तरह विचार ही नहीं करते हैं। दूसरी के सम्बंध में वे अपने पूर्वजों के समान ही संकल्प की स्वतंत्रता और ईश्वरीय कृपा में सहकार मानकर बचने का प्रयास करते हैं। उनके नैतिक दर्शन के इसी पहलू के विरोध में डन्स स्काट्स के द्वारा उनकी आलोचना की गई है।

डन्स स्काट्स (1266-1308)

डन्स स्काट्स का कहना है कि यदि संकल्प बुद्धि से बंधा हुआ है, जैसा कि अरस्तू के पश्चात् थामस एक्वीना ने माना है, तो वह वस्तुतः स्वतंत्र नहीं हो सकता है, एक वास्तविक स्वतंत्र चयन की बुद्धि और आवेग-दोनों को ही पूर्णतया अनिर्धारित होना चाहिए। स्काट्स ने सदैव ही यह माना है कि ईश्वरीय आदेश समान रूप से बुद्धि से भी स्वतंत्र है और जगत् की ईश्वरीय व्यवस्था भी पूर्णतया या प्रेच्छिक है। इस सम्बंध में विलियम ओकम की कुशाग्रबुद्धि ने भी उसका ही अनुसरण किया है, यद्यपि यह मान्यता स्पष्टतया खतरनाक है, जो पूर्ण तर्कसंगत नैतिकता के लिए विश्व की नैतिक शासन व्यवस्था पर आधारित है।

विलियम ओकम (मृत्यु 1347 ई.)

सामान्यतया ओकम और उसके अनुयायियों का न्यायवाद परोक्ष रूप से पाण्डित्यवादी नीतिशास्त्र के इतिहास से महत्वपूर्ण है। जब सामान्यों की वास्तविकता का निरसन करके इस पुल को तोड़ दिया, जिसे प्रारम्भिक पाण्डित्यवाद ने संवैध अनुभूति के विशेष घटकों (दृश्य जगत्) और सम्पूर्ण अस्तित्व के अंतिम आधार एवं साध्य ईश्वर के बीच बनाया था, तो जो

आस्था (श्रद्धा) के लिए अधिक निश्चित थी, वही मानवीय प्रज्ञा के द्वारा सबसे कम संज्ञेय मान लिया गया। इस प्रकार ओकम के नामवाद ने, अपने -आप को जो कुछ विश्वास का विषय था, उसकी तार्किकता स्थापित करने के लिए संगतिपूर्ण नहीं है, अपितु स्वयं विश्वास की तार्किक संगति के स्थापन के लिए अपने आपको सीमित कर लिया। इसका परिणाम प्रथमतया तो शास्त्र-निष्ठा के प्रतिकूल प्रतीत नहीं हुआ, धर्म-शास्त्र ने दर्शन का उपयोग केवल उसी सीमा तक करना चाहा, जहां तक कि वह उसके विरोध से रहित हो। किंतु यह परिवर्तन पाण्डित्यवाद के पतन का भी कम कारण नहीं था। यद्यपि (धर्म में) द्वन्द्वात्मक पद्धति (तार्किक पद्धति) का काफी स्थान हो सकता था। फिर भी उसके लिए जो कार्य निश्चित किया गया था, वह उच्च प्रकार की दार्शनिक प्रज्ञा के प्रति निष्ठा को अभिव्यक्त नहीं करता है। इस प्रकार थामस एक्वीनास का कार्य निश्चित ही मध्ययुगीन दर्शन के लिए विशिष्ट रचनात्मक प्रयासों का श्रेष्ठतम परिणाम था। वस्तुतः, यह प्रयत्न असफलताओं को पूरी तरह समाप्त करने के लिए ही था, क्योंकि इसने शास्त्र, धर्माध्यक्षों, धर्मसंघ और धर्म-दर्शन के द्वारा प्रदत्त असंगतिपूर्ण सामग्री के आधार पर एक संगतिपूर्ण दर्शन के स्थापन का प्रयास किया। थामस एक्वीनास के ग्रंथों में जो भी दार्शनिक गुण मिलते हैं, वे उनकी पद्धति के कारण हैं, न कि उनके निष्कर्षों के कारण, तथापि उनका कैथोलिक चर्च पर प्रभाव चिरकालीन और महान् है और परोक्ष रूप से प्रोस्टेस्टन्ट्स पर भी है। विशेष रूप से इग्लैण्ड के हूकर की एकडेसी इथिकल पोलिटी नामक प्रथम प्रसिद्ध पुस्तक एक्वीनास की सूमाथियोलाजिया नामक पुस्तक की ऋणी है।

मध्ययुगीन रहस्यवाद

हम पाण्डित्यवाद के साथ ही साथ आंशिक रूप में पण्डितों के तार्किक द्वन्द्वात्मक संघर्ष और उनके पाण्डित्यपूर्ण श्रम के विरोध में, उनके नीति-धर्म के मुख्य सिद्धांतों से अधिक समानता रखते हुए भी ईसाई चर्च में रहस्यवाद का विकास देखते हैं। रहस्यवाद से हमारा तात्पर्य उस प्रवृत्ति से है, जो अंतर्बोध, समाधि की अवस्था या ईश्वर के दर्शन की उपलब्धि के लिए नैतिक प्रयत्नों और बौद्धिक प्रयासों को गौण कर देती है। इस विचार दृष्टि का आंशिक कारण विभिन्न धाराओं के माध्यम से आने वाला प्लेटोवादी और नवप्लेटोवादी चिंतन का प्रभाव था, किंतु स्पष्टतया ईसाई धर्म संस्था में इसका विकास क्लेरव्यावस के बर्नाडे और सेन्ट विक्टोर के ह्यूगो के चिंतन से बारहवीं

शती के पूर्वार्द्ध में होता है। बर्नाडे के अनुसार, जो ईश्वरीय सत्य को पाना चाहता है उस ईसाई को प्रेम और विनम्रता के द्वारा उच्च आध्यात्मिक जीवन के सोपानों पर चढ़ना होगा। प्रेम और विनम्रता के अनेक स्तरों पर उसे आरोहण करना होगा, उसके बाद ईश्वरीय सत्य के तर्कमूलक चिंतन द्वारा उसे अंतरात्मक मनन की ओर आगे बढ़ना होगा। ध्यान के विषय के प्रति भाव-विभोर तन्मयता की अवस्था के उन क्षणों में उसे उस पूर्ण आत्म विस्मरण (अहं के पूर्ण विगलन) का अस्थाई पूर्वाभ्यास होगा, जिसे कि वह उच्च आत्मा इस जीवन के बाद उपलब्ध करेगी। इसी प्रकार, सेन्ट विक्टोर के ह्यूगो के अधिक व्यवस्थित एवं पूर्ण विकसित धर्म-दर्शन में भी यह माना गया है कि उस ईश्वरीय कृपा के द्वारा ही वह आत्मिक चक्षु खुलता है, जिससे कि ईश्वर का उसके यथार्थ स्वरूप में दर्शन होता है, जो मनुष्य के ईश्वर-प्रेम को उस अवस्था तक उठा देता है, जिसमें व्यक्ति अपने को और अपने पड़ोसी को मात्र ईश्वर के लिए ही प्रेम करता है। आत्मा के बाह्य चक्षुओं के द्वारा वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण और अंतर्वस्तु (अंतःप्रज्ञा) के द्वारा आत्म-दर्शन ही ईश्वरीय सत्य और शुभता के सहज बोध की उपलब्धि के सोपान हैं।

बोनबेन्धरा (1221-1274)

आध्यात्मिक विकास की प्रगति की प्रक्रिया को बोनबेन्धरा के द्वारा अधिक विस्तृत एवं प्रभावकारी ढंग में प्रस्तुत किया गया। उसके विवेचन में पाण्डित्यवाद के साथ संगतिपूर्ण समन्वय के रूप में पाए जाने वाले परम्परागत रहस्यवाद को नमूने के रूप में हमनें चुना है। बोनबेन्धरा के दृष्टिकोण के अनुसार मन को छः स्तरों के द्वारा अंतिम वीजन की ओर आगे बढ़ना चाहिए। सर्वप्रथम उसे वजन, संख्या, माप आदि के आधार पर वर्गीकृत एवं विभाजित वस्तुओं के बाह्य-जगत् में ईश्वर की प्रज्ञा, शक्ति और शुभता का दर्शन करना चाहिए। इस विश्व के घटनाक्रम के संचालन में उस ईश्वर की अनन्त प्रज्ञा परिलक्षित होती है। इस विश्व की रचना से उस ईश्वर की अनन्तशक्ति का हमें बोध होता है और उसके अंतिम न्याय के द्वारा उसकी पूर्ण न्यायिकता प्रकट होती है। इसी प्रकार सृष्ट वस्तुओं के क्रम में शुद्ध सत्ता के जीवन और जीवन से बुद्धि के विकास द्वारा भी हमें उस ईश्वर का दर्शन करना चाहिए। दूसरे हमें जगत् से मनुष्य के सम्बंध का चिंतन करना चाहिए। एक ओर हमें यह देखना चाहिए कि बाह्य वस्तुएं कैसे अपनी प्रतिकृति के रूप में इंद्रियों के माध्यम से मनस में प्रवेश करती है और इंद्रियों और उनके विषयों के सम्बंध की

विभिन्न अवस्थाओं के द्वारा मन को आनंद प्रदान करती है, तो दूसरी ओर बुद्धि की क्रियाओं को जाग्रत करती है। इस प्रकार व्यक्ति पुत्र की पिता से समानता की शाश्वत रूप में सृष्ट प्रतिच्छवि को देखेगा और पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण आनंद और पूर्णसत्य के बोध की दिशा में प्रगति करेगा। तीसरे बाह्य-जगत् से विमुख होकर आत्मिक शक्ति और स्वरूप पर ध्यान केंद्रित करते हुए, उसे देखना चाहिए कि किस प्रकार स्मृति भूत, भविष्य और वर्तमान को जोड़ती है तथा शाश्वत सामान्य तत्त्व के सत्यों के प्रतिरूपों को सुरक्षित रखती है और हमें उस अनन्य की प्रतिमूर्ति देती है। साथ ही यह इसे भी देखना चाहिए कि बुद्धि अपनी क्रियाशीलता में किस प्रकार सर्वाधिक पूर्ण निर्विकार और अवश्यम्भावी सत्ता की अपरिहार्य धारणा के द्वारा नियंत्रित होती है और बौद्धिक चयन की प्रक्रिया किस प्रकार अपने में सर्वोच्च शुभ का प्रत्यय समाहित करती है। इसके पश्चात् यह देखकर कि किस प्रकार स्मृति स्वतः ही प्रज्ञा को उत्पन्न करती है और फिर इन दोनों के सहयोग से प्रेम की अभिवृद्धि होती है, उसे दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान ईश्वर की त्रैतता का दर्शन होगा। यहां तक तो आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्तियों के द्वारा विकास कर सकती है, किंतु चौथे स्तर पर उसे श्रद्धा, आशा और दान के अति-भौतिक सद्गुणों से युक्त ईश्वरीय-कृपा की आवश्यकता होगी। इस ईश्वरीय कृपा के द्वारा उसे ईश्वरीय स्वभाव की अपरोक्ष आध्यात्मिक अनुभूति होगी और इससे उसे भक्ति, स्तुति और आनंद के चरम हर्षोन्माद की प्राप्ति होगी। इस प्रकार वह निष्पाप, प्रकाशित और अतिक्राम होकर श्रेणीबद्ध देवदूतों के प्रतिबिम्ब का इस रूप में ध्यान कर सकेगा कि सभी में ईश्वर का निवास है और ईश्वर सभी को संचालित कर रहा है। इसके पश्चात् आत्मा की विशुद्ध प्रज्ञा के द्वारा ईश्वर का दर्शन न तो दर्पण के प्रतिबिम्ब के रूप में होगा न आत्मा में ईश्वर की प्रतिच्छाया के रूप में होगा। वरन् ईश्वर का दर्शन उसके अपने यथार्थ स्वरूप में होगा, अर्थात् निषेधरहित विशुद्ध-सत्ता तथा समस्त बोधगम्य जगत् के मूल स्रोत के रूप में होगा, किंतु इससे भी उच्च-स्तर है, जिसमें सभी मनुष्यों में किसी न किसी मात्रा में उपस्थित आत्मिक शुभ के प्रति लगाव का शाश्वत एवं भग्नहीन तत्त्व जिसे सामान्यतया अंतरात्मा कहते हैं, अपने पूर्ण विकास को प्राप्त होती है। इस शक्ति के द्वारा ईश्वर का ध्यान निरपेक्ष सत्ता के रूप में नहीं, किंतु पूर्ण शुभता के रूप में किया जाता है। जिसका सारतत्व अपने आपको पूर्णता के रूप में प्रकट करता है, इसलिए इस स्तर पर त्रैतता के रहस्य का प्रत्यक्षज्ञान हो जाता है। इस रहस्य का सार ईश्वरीय

शुभता के पुत्र (ईसा) के और पवित्रात्मा के द्वारा दिया जाने वाला संदेश है। मानसिक कार्यों के इन छः स्तरों के पश्चात् पूर्ण आनंदमय विश्रान्ति की स्थिति आती है, जिसमें सभी बौद्धिक क्रियाएं समाप्त हो जाती हैं और आत्मा पूर्णतया निष्काम होकर परमात्मा के साथ अकथनीय एकता में रहता है।

बोनबेन्धरा परम्परानिष्ठ ईसाई धर्म के अंतर्गत मध्ययुगीन प्लेटोवाद एवं नवप्लेटोवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि थामस एक्वीनास मध्ययुगीन अरस्तूवाद का। इसी परम्परा का एक शताब्दी से भी अधिक समय तक गैरसन के द्वारा पालन किया गया, जिसका रहस्यवाद भी विक्टोरिन्स[21] और बोनबेन्धरा की परम्परा का निर्वाह करता है, किंतु गैरसन के पहले ही जर्मनी में इक्खार्ट और उसके अनुयायियों का अधिक मौलिक और साहसपूर्ण रहस्यवाद विकसित हो गया था, जो कि न केवल पाण्डित्यवादी मान्यताओं के जाल से मुक्त था, वरन् धर्मसंघीय परम्परा से भी युक्त था।

इक्खार्ट

इक्खार्ट की शिक्षाओं में भी दुनियादारी (नश्वर वस्तुओं एवं संसार) से वैराग्य की तीव्र इच्छा को बलवती बनाया गया है। रहस्यवाद की सामान्य विशेषता है, यह उस अहं से सर्वथामुक्ति पाने के लिए होता है, जो कि ईश्वरीय सत्ता से वैयक्तिक आत्मा को अलग करता है। उस अहं के पूर्ण विगलन की अवस्था में ईश्वर के अतिरिक्त जानने, इच्छा करने अथवा विचार करने का अन्य कोई विषय नहीं रह जाता है। इस वैयक्तिकता के (मैं पन) अंश की समाप्ति में ही इक्खार्ट की समग्र नैतिकता निहित है, यद्यपि वह मौलिक सिद्धांत के आधार पर निकाले जाने वाले पलायनवादी और अनैतिक निष्कर्षों के प्रति सजग है और शुभ कार्यों को आत्मतत्त्व की परमात्मा के साथ अतिक्राम युति (अलौकिक मिलन) का स्वाभाविक परिणाम बताता है।

किंकर्त्तव्य-मीमांसा

थामस एक्वीनास के नैतिक विचारों की पूर्व विवेचना में उनकी पुस्तक 'सूमा थियोलाजिया' में प्रस्तुत विशेष कर्त्तव्यों का विस्तार से विवेचन नहीं किया गया है, इसमें अलग-अलग स्रोतों से प्राप्त विभिन्न सामग्री को स्थान दिया गया है और अंततोगत्वा इसका दृष्टिकोण नैतिक उत्कर्ष और संयम नियमों अर्थात् दोनों को बताता है, यद्यपि कुछ प्रश्नों पर सूक्ष्म एवं विस्तृत विचार का

साम्प्रदायिक पाण्डित्यवादी विवेचन की उत्कृष्टता के अनुकूल नहीं है। जैसे ही पाण्डित्यवाद की चिंतनात्मक अभिरुचि समाप्त हुई, 14 वीं एवं 15 वीं शताब्दी में पादरी लेखकों ने नीतिशास्त्र के इस व्यावहारिक पक्ष को एक ओर रखकर अपनी बौद्धिक सूक्ष्मता का परिचय दिया तथा इस हेतु ही परिश्रम किया और इसके परिणामस्वरूप सुव्यवस्थित 'किंकर्तव्य मीमांसा' का उद्‌भव हुआ। अंतरात्मा की संशयात्मक स्थितियों का समाधान ही पादरी नीतिवेत्ताओं के ग्रंथों की विवेचना का विषय रहा है। ईसाई धर्मसंघ के प्रारम्भिक युग से ही नीतिशास्त्र के विभिन्न विभागों से सम्बंधित अनेक समस्याएं और उनके समाधान जस्टिन मार्टियर, एथान सीजस और आगस्टिन के नाम से चले आ रहे थे। पादरी वर्ग के न्यायशास्त्र के विकास से, प्रायश्चित सम्बंधी पुस्तकों से और मध्यकालीन दार्शनिकों के व्यवस्थित नैतिक नियमों से, किंकर्तव्य मीमांसा के लिए निरंतर प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती रही। यद्यपि उपलब्ध निष्कर्षों को ऐसे रूप में व्यवस्थित करने की आवश्यकता अनुभव की गई जो गोपनीय अपराधों के प्रायश्चित करने के लिए सुविधाजनक हो। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए 14 वीं एवं 15 वीं शताब्दी में व्यावहारिक नीतिशास्त्र या किंकर्तव्यमीमांसा की अनेक पुस्तकों को प्रणयन किया गया। इनमें सबसे प्राचीन पुस्तक को पाण्डित्यवादी परम्परा के नीतिशास्त्र की पाठ्य पुस्तक के रूप में सम्पादित किया गया। दूसरी कुछ पुस्तकों में किंकर्तव्यमीमांसा सम्बंधी प्रश्नों एवं उत्तरों का मात्र अकारादि क्रम से संकलन किया गया है। जैसे किंकर्तव्यमीमांसा का उद्देश्य था, इसमें विधि-निषेध (यह किया जा सकता है और यह नहीं किया जा सकता है) के बीच एक सीमा को सुनिश्चित रूप से निर्धारित किया गया और संशयास्पद प्रश्नों पर गहराई से विचार किया गया और उन्हें काल्पनिक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया। इस प्रकार नैतिकता के इस अर्द्ध-विधिक दृष्टिकोण के रूप में किंकर्तव्यमीमांसा के इस विकास के कारण सामान्य मनुष्य की नैतिक विवेक क्षमता का निषेध हो जाना अवश्यम्भावी था। पुनः, इस काल में ईसाई धर्म-संघ (चर्च) में स्वीकृत विभिन्न परस्पर विरुद्ध आप्त-वचनों से निष्कर्ष प्राप्त करने में अधिक श्रम और शक्ति व्यय की गई।

परिणामस्वरूप, उन प्रश्नों की संख्या बढ़ गई, जिनके सम्बंध में यह असहमति थी। बोनीफोस ऋषभ की मृत्यु के पश्चात् ईसाई धर्मसंघ (चर्च) को नैतिक पतन के दौर से गुजरना पड़ा। उस समय ईसाई धर्मसंघ (चर्च) में ऐसी केंद्रीय सत्ता की कमी थी, जो कि इन तीव्र मतभेदों का निवारण कर सकती थी। इन

मतभेदों के कारण जनसाधारण अनिश्चयात्मक स्थिति में होता था और स्वाभाविक रूप से वह किसी भी धार्मिक एवं परम्परानिष्ठ लेखक की उसी धारणा को स्वीकार कर सकता था, जो कि उसे पालन करने की दृष्टि से सुविधाजनक प्रतीत होती। इसी प्रकार एक निर्बल नैतिक चेतना किसी भी नैतिक नियम के वांछित अपवाद के लिए सूक्ष्मता से शास्त्र (श्रुति) के प्रमाण को खोजने की दिशा में प्रवृत्त हुई। यद्यपि कैथोलिक चर्च के द्वारा संसार पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए किए जाने वाले संघर्ष के दौरान जब शास्त्र की आज्ञाओं के पालन के सिद्धांत को वैयक्तिक निर्णयों पर विश्वास करने के सिद्धांत के साथ एक गहन एवं दीर्घकालिक, किंतु संतुलित विवाद में उलझा दिया गया, तब सुधार-युग के बाद तक इस संकट ने अपने दुर्जेय अंशों को मान्य रखा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता है।

जेज्यूट्स (शिथिलाचारी)

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रति सुधारवाद के अग्रणी जेस्यूट्स की दृष्टि में शास्त्र (श्रुति) को प्रमाण मानने के लिए मूलतः आवश्यक यह था कि जनसाधारण को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए कि वे अपने निर्णयों को अपने मार्गदर्शक धर्मोपदेशकों के निर्णयों के प्रति समर्पित कर सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि धर्मसंघीय (चर्च के) नैतिक नियमों में सांसारिक आवश्यकताओं को स्थान देकर पाप-प्रकाशन (पश्चाताप) को आकर्षक बनाया जाए। सम्भाव्यवाद के सिद्धांत ने इन सुविधाओं को स्थान देने के लिए एक लोकप्रिय पद्धति प्रदान की। यह सिद्धांत यह मानकर चलता है कि *जनसाधारण से उस प्रश्न* पर गहन समीक्षा की अपेक्षा नहीं करना चाहिए, जिसके लिए विद्वानों में भी मत-वैभिन्य होता है। इसलिए जनसाधारण में किसी ऐसी बात के लिए दोषी नहीं मानना चाहिए, जिसे किसी एक भी विद्वान ने प्रामाणिक माना हो, इसलिए उसके अपराधों का प्रायश्चित्त देने वाले व्यक्ति को यह अधिकार दिया गया कि यदि उसके (अपराधी के) पक्ष में कोई भी ऐसा मत प्रस्तुत कर पाना सम्भव हो, जो कि उसे निर्दोष सिद्ध कर दे, तो उस प्रायश्चित्त देने वाले व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी स्वयं की मान्यता के प्रतिकूल भी यदि कोई ऐसी मान्यता हो तो उसे बताए, ताकि वह अपनी अंतरात्मा को आत्मग्लानि के भार से मुक्त कर सके। जिन बातों को इस सम्भाव्यवाद में (चर्च की) त्रास की कठोरता को दूर करने की सच्ची इच्छा से अपनाया था, उनके परिणाम 17वीं शताब्दी में पास्कल के अमर ग्रंथ लेटरस् प्रोविंशियल में प्रकट हुए।

सुधारवाद

किंकर्त्तव्य-मीमांसा के विकास की विवेचना करने में नैतिक विचारक उस महान् संकट से आगे बढ़ गए, जिसमें होकर 16वीं एवं 17वीं शताब्दी के ईसाई धर्म को गुजारना पड़ा था। सुधारवाद का प्रवर्तन लूथर ने किया था। यदि हम उनके राजनीतिक और सामाजिक उद्देश्यों एवं प्रवृत्तियों, जिनसे यूरोप के कई देश सम्बंधित थे, से अलग हटकर केवल उनके नैतिक सिद्धांतों और उन सिद्धांतों के परिणामों को देखने का प्रयास करें, तो उन्हें कई पहलुओं से देखा जा सकता है। सर्वप्रथम इस सुधारवाद ने चरित्रहीन धर्माध्यक्षों के प्रभुत्व की सुविकसित व्यवस्था के विरुद्ध रोपोस्टोलिक ईसाईयत की सरलता को स्वीकार किया। साथ ही धर्मगुरुओं की (बाइबिल की) टीकाओं और चर्च की परम्पराओं के विपरीत बाइबिल के आदेशों को तथा धर्मोपदेशकों की प्रामाणिकता के विरुद्ध वैयक्तिक अंतरात्मा के निर्णय की प्रामाणिकता को स्वीकार किया। इसी प्रकार आत्मशुद्धि हेतु किए जाने वाले प्रायश्चित्तों के लिए पोप के नियंत्रण की अपेक्षा प्रत्येक मानवीय आत्मा के ईश्वर के प्रति उत्तरदायित्व पर बल दिया, क्योंकि प्रायश्चित्त-व्यवस्था ने धर्मगुरुओं (पोपों) को धन के लोभ की विकृत अवस्था पर लाकर खड़ा कर दिया था। यहूदी नियमवाद और ईसाई धर्म के मौलिक विरोध को पुनर्जीवित करते हुए सुधारवाद ने शाश्वत जीवन के लिए कर्मों के बाह्य स्वरूप की अपेक्षा आंतरिक आस्था को ही एकमात्र मार्ग स्वीकार किया। इस प्रकार पुनः आगस्टिन की ओर लौटते हुए तथा आगस्टिन के मूल मन्तव्यों को नए सिद्धांतों के रूप में अभिव्यक्त करते हुए सुधारवाद ने उस नवपेलेगियनवाद का प्रतिरोध किया, जो कि धीरे से चर्च के आभासी आगस्टिनवाद के रूप में विकसित हो गया था। इसने यह भी माना कि मानव स्वभाव के पूरे पतन का कारण उस 'समता' के विरोध में होना है, जिसके द्वारा मध्ययुगीन दार्शनिकों के अनुसार ईश्वरीय कृपा को प्राप्त किया जा सकता है। सेंटपाल की विनयशीलता को पुनर्जीवित करते हुए उसने ईसाई धर्म के सभी कर्त्तव्यों को सार्वभौम एवं निरपेक्ष आदेश के रूप में निरुपित किया तथा उस सिद्धांत के विरोध में खड़े हुए कि ईसाई धर्म पुस्तक की शिक्षाओं के अक्षरशः पालन के द्वारा ही समुचित पुण्य प्राप्त किया जा सकता है। सम्पूर्ण ईसाई आज्ञाकारिता के अपरिहार्य निकम्मेपन को प्रकट किया गया। यद्यपि ये परिवर्तन बहुत ही महत्त्वपूर्ण थे, तथापि नैतिक दृष्टि से विचार करने पर या तो निषेधात्मक लगते हैं या बिलकुल ही साधारण से लगते हैं अथवा मन की उस

अभिवृत्ति से सम्बंधित लगते है, जिसके अनुसार प्रत्येक कर्त्तव्य का पालन किया जाना चाहिए। सुधारवाद ईसाई धर्मसंघ (चर्च) के लेखन और व्याख्याओं में भी साधारण मनुष्यों के आचरण सम्बंधी कर्त्तव्यों का विधायक तत्त्व, सद्‌गुण तथा अधिकांश निषेधात्मक नियम भी तत्त्वतः अपरिवर्तित ही रहे। मात्र संन्यास-मार्ग का पूरी तरह से निरसन कर दिया गया था और ईसाई आचरण के नैतिक आदर्श को संसार की निस्सारता की धारणा से मुक्त कर दिया गया था, यद्यपि पहले ईसाई धर्म में संन्यास मार्ग को बहुत उत्तम मार्ग माना जाता था। 16वीं एवं 17वीं शताब्दी के मध्य किंकर्त्तव्य-मीमांसा की पुरानी पद्धति को मान्य रखा गया था, यद्यपि स्वाभाविक बुद्धि के प्रकाश के द्वारा विवेचित और उससे अनुपूरित धर्मग्रंथ ही अब वे सब सिद्धांत प्रस्तुत करते थे, जिनके आधार पर अंतरात्मा की समस्याओं का निराकरण किया जाना था।

आधुनिक नैतिक दर्शन की ओर

17वीं शताब्दी में नैतिकता की इस अर्द्धविधिक विवेचना के प्रति रुचि क्रमशः कम होने लगी और अनेक शताब्दियों के पश्चात् पुनः नीतिशास्त्र के अध्ययन में नैतिक नियमों के लिए स्वतंत्र दार्शनिक आधार खोजने हेतु शिक्षित वर्ग के द्वारा प्रयास किया जाने लगा। नव जागरण का यह प्रयास परोक्ष रूप से सुधारवाद के कारण हुआ। इसे प्राचीन पेगेन संस्कृति (मूर्त्तिपूजा आदि) के अवशेषों के साहसपूर्ण अध्ययन के साथ भी जोड़ा जा सकता है, जो कि 15वीं और 16वीं शताब्दी में इटली से प्रारम्भ होकर पूरे यूरोप में फैली हुई थी और जो स्वयं ही मध्ययुग में धर्मशास्त्र के प्रति व्यापक विमुखता का आंशिक कारण और आंशिक कार्य थी। प्रथमतः इस 'मानवतावाद' के प्रति रोमन धर्म-शासन (पोप के शासन) की अपेक्षा भी 'सुधारवाद' का रुख अधिक विरोधी रहा। नव जागरण के नाम पर पोप के शासन ने किसी सीमा तक मूर्तिपूजा आदि विधर्मी तत्त्वों (पैगन संस्कृति) को ग्रहण कर लिया था, वह भी सुधारवाद के रोष को भड़काने का एक कारण था। कैथोलिक और प्रोटेस्टन्ट धारणाओं के समान ही स्वतंत्र नैतिक दर्शन के विकास में भी सुधारवाद का परोक्ष योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पाण्डित्यवाद ने धर्मशास्त्र की दासी के रूप में दर्शन को जीवित रखते हुए, उसकी पद्धति को भी उसके स्वामी के अनुरूप अर्थात् धर्मशास्त्रीय बना दिया था। इस प्रकार पाण्डित्यवाद ने जिस पुनर्जीवित बौद्धिक क्रियाशीलता को स्वयं प्रेरित किया था और

जिसका स्वयं उपयोग भी किया था, उसे अरस्तवी दर्शन और धर्मसंघ (चर्च) के दोहरे बंधन में जकड़ दिया गया। जब सुधारवाद ने पारम्परिक आप्तता (चर्च की प्रामाणिकता) के पक्ष पर चोट की, तो उसका धक्का अनिवार्य रूप से दूसरे पर भी लगना ही था। लूथर के द्वारा पोप से सम्बंध तोड़ने को बीस वर्ष भी न हो पाए थे कि एक नौजवान रामस ने पेरिस विश्वविद्यालय के सम्मुख यह धारणा प्रस्तुत कर दी कि अरस्तु ने जो भी शिक्षा दी थी वह गलत थी। इसके कुछ वर्षों के बाद ही काडनिस, टेलसिअस, पेट्रीटिअस, केम्पेनला और ब्रूनो ने आधुनिक भौतिक विज्ञान के उदय की उद्घोषणा की और जगत् की रचना तथा खोज की सम्यक् विधि के सम्बंध में अरस्तू-विरोधी विचारों को प्रस्तुत किया। यह पूर्व दृष्ट ही था कि ऐसी ही स्वतंत्रता के स्वर नीतिशास्त्र में भी सुनाई देंगे। रूढ़ धारणाओं के साथ संघर्ष के कारण तथा वैयक्तिक निर्णयों की विभिन्नता और सन्मार्ग के प्रति विमुखता के कारण सुधारवाद के पश्चात् ईसाई धर्म अनेकानेक शाखा प्रशाखाओं में विभाजित होता गया। (ऐसी स्थिति में) वस्तुतः कोई भी चिंतनशील व्यक्ति स्वाभाविक रूप से एक ऐसी नैतिक पद्धति की खोज का प्रयास करेगा, जो पूरी तरह से मानव जाति की सामान्य नैतिक अनुभूतियों और सामान्य-बुद्धि पर निर्भर हो और सभी सम्प्रदायों के द्वारा सामान्य रूप से स्वीकृत होने का दावा कर सके। इंग्लैण्ड में इस खोज के परिणाम 17वीं शताब्दी में और उसके बाद सामने आए, जिन पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

संदर्भ -

1. यहां पवित्रता का मुख्य लक्षण हृदय की पवित्रता से है। इसे भी व्यापक अर्थ में गृहीत किया गया है।
2. उपवास अपने व्यापक अर्थ में धार्मिक कर्त्तव्यता है। लेकिन ईसाई धर्म के अनुसार यहां विशेष ध्यान रखने की बात है इसे ईसाई धर्म के अनुसार इसे क्रमशः ही अनिवार्य बनाया गया। क्योंकि यह मूलतः एक यहूदी कानून था और ईसाईयत इस सम्बंध में सजग था।
3. उदाहरणार्थ जस्टिन मास्टर का तरतूलीयन साइयपेरिन
4. हमें इसका बाद के काल में सुरियस स्मृति चिन्ह मिलता है, जब विरोधियों

ने कहा कि उसे बिना हत्या के दण्ड देना चाहिए।

5. मैं सोचता हूं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और दासता के सम्बंध में प्राचीन और किसी सीमा तक मध्ययुगीन ईसाई धर्म के दृष्टिकोण को इसी रूप में ठीक प्रकार से समझा जा सकता है। दोनों ही मनुष्य जाति के सभी सदस्यों के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है, क्योंकि मनुष्य जन्मना स्वतंत्र है और भूमि की उपज स्वाभाविक रूप से सामूहिक है और जब ईसा का राज्य पृथ्वी पर उतरेगा, दोनों ही समाप्त हो जाएंगे। यद्यपि दोनों लौकिक समाज व्यवस्था के अंग स्वीकार कर लिए गए हैं, लेकिन दोनों ही प्रकार की असमानताओं की कठोरता को गुलामों और गरीबों के साथ भाईचारे के व्यवहार के द्वारा कम किया जा सकता है।

6. प्लेटो के इस सामान्यीकरण का एक महत्वपूर्ण अपवाद है, जैसा कि वह लाज में न केवल सामूहिक उपासना के नियमन की व्यवस्था करता है, वरन् उन अप्रामाणिक रीति रिवाजों और धारणाओं के लिए कठोर दंड की व्यवस्था करता है, जो कि (प्लेटोवादी) परम्पराओं के विरोधी थी।

7. यद्यपि स्वयं ईसाइयत के साम्राज्यवादी अत्याचार बाह्य दृष्टि से इसके समान प्रतीत होते हैं लेकिन वहां हमने जो दृष्टिकोण अपनाया है उसके अनुसार उन्हें समान नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसमें मिथ्या विश्वास को ही मूलभूत पाप होने की धारणा नहीं थी।

8. प्रारम्भिक ईसाई धर्म में प्रायश्चित के प्रत्यय की क्रूरता को बताने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि एक से अधिक लेखक ईसा की इस प्रायश्चित व्यवस्था का विरोध करते रहे हैं।

9. यह देखा जा सकता है कि इस (ईसाई) दृष्टिकोण और गैर ईसाई दर्शन के सद्गुण को सद्गुण के लिए मानने के प्रयासों के बीच के इस विरोध को एक से अधिक प्रारम्भिक ईसाई लेखकों ने प्रसन्नतापूर्वक बताया है उदारणार्थ-लेक्टेनिक्स (300 ई.) बताता है कि प्लेटो और अरस्तू सद्गुण को इस लौकिक जीवन से सम्बंधित मानकर, उसे एक मूर्खता ही बना दिया है। जब कि वह स्वयं क्षम्य असंगति के साथ यह कहता है कि मनुष्य का सर्वोत्तम शुभ सुख में निहित नहीं है, अपितु आत्मा और ईश्वर के बीच पुत्र सुलभ सम्बंध की चेतना में है।

10. हमें यह ध्यान रखना होगा कि आगस्टिन स्वतंत्रता का अर्थ शुभ या अशुभ संकल्प करने की शक्ति नहीं वरन् शुभ संकल्प करने की शक्ति मानते हैं। उनकी दृष्टि में उच्चतम स्वतंत्रता में अशुभ संकल्प करने की सम्भावना भी नहीं होती है।

11. उनमें कुछ सजाओं (दण्डों) की चर्चा करना सुझावात्मक दिया हो सकता है अतिमौजी और शराबी होने के लिए तीन से चालीस दिन तक के उपवास का प्रायश्चित नियत किया गया है। कामवासना सम्बंधी पापों के लिए पश्चाताप की अवधि दिनों की अपेक्षा वर्षों में बदल जाती है और कुछ अ ति की स्थितियों में जीवन पर्यंत तक हो सकती है। मनुष्य की हत्या के लिए पश्चाताप की अवधि प्रेरणा और परिस्थितियों के आधार पर एक महीने से दस वर्ष तक हो सकती है। एक और साधुओं और पादरियों के लिए कठोर तपस्या की व्यवस्था की गई है दूसरी और पादरी को मारने वाले के लिए सजा दुगनी होती है। अंधविश्वास के कृत्य जैसे जहां कोई आदमी मरा वहां की आस जगा देना - का प्रायश्चित वर्ष भर की तपस्या हो सकता है। (तुलना कीजिए ?)

14. उसने यह सिद्ध करने का साहस किया कि प्राचीन दार्शनिकों को त्रियेक परमेश्वर के सिद्धांत का आंशिक ज्ञान ही था।

15. उसकी सन् 1121 और 1140 की दो धर्मसभाओं में आलोचना की गई।

16. उसका प्रेडेन्सिया को बौद्धिक सद्गुण और नैतिक सद्गुण दोनों में वर्गीकृत करने का औचित्य यह है कि ये बौद्धिक और नैतिक दोनों ही है। यद्यपि यह अरस्तूवी की अपेक्षा पाण्डित्यवादी अधिक है।

17. यह अंतर अरस्तू के द्वारा अनेक स्थानों पर मान्य किया गया है यद्यपि यह वैज्ञानिक विभाजन न होकर जन साधारण का ही विभाजन है।

18. ?

19. यह पद ' ' से निकला है इसी अर्थ में जेरमी ने इसका प्रयोग किया है।

20. वह मानता है कि में जिसे वह कहता है उसका भी अर्थ निहित है।

21. यह नाम सेन्ट विक्टोर के ह्यूगो और उसी मठ के परवर्ती रहस्यवादी रिचर्ड दोनों के लिए प्रयुक्त होता है।

22. यह ' ' नामक ग्रंथ का ही एक भाग है।

अध्याय-4

आधुनिक नीतिशास्त्र (मुख्यतः इंग्लिश)

हाब्स के पूर्व का आधुनिक नीतिशास्त्र

चिंतन की मध्यकालीन विचारधारा और आधुनिक युग के चिंतन की विचारधारा की सधिवेला की योजक कड़ी के रूप में इंग्लैण्ड के जिस महान् लेखक से हम परिचित हैं, वे हैं फ्रांसिस बेकन। बेकन ने अपने ग्रंथ 'एडवान्समेन्ट आफ लर्निंग' में नैतिक दर्शन का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। उसमें मुख्य रूप से न्याय-संगत समालोचना और सार्थक सुझाव दिए गए हैं, जो कि नीतिशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए पठनीय हैं[1]।

बेकन ने अधिक गहराई तक जाना या उन मूल कारणों पर अधिक बल देना लाभप्रद नहीं समझा और इसके स्थान पर स्वयं 'प्रकृति' के मार्गदर्शन को ही अधिक महत्व दिया। प्रकृति के निरीक्षण से ही हमें यह पता चलता है कि प्रत्येक वस्तु में शुभ, किंतु बेकन को वैज्ञानिक पद्धति के सुधार करने के महत्वपूर्ण कार्य के कारण नीतिशास्त्र को एक ओर रखना पड़ा। उन्होंने अपने नैतिक विचारों को एक संगतिपूर्ण दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का कभी भी ऐसा कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया, जो कि अपनी पद्धति की दृष्टि से एक स्वतंत्र आधारभूमि पर बुद्धिसंगत रूप में खड़ा हो। इस प्रकार जिस रूपरेखा के सम्बंध में मैंने कहा है, वह कभी पूर्ण नहीं हो पाई। ऐसा भी प्रतीत नहीं होता है कि उनका नैतिक चिंतन के परवर्ती विकास के निर्धारण में कोई वास्तविक प्रभाव पड़ा हो। ईश्वर के द्वारा आदेशित धर्मशास्त्र के स्वतंत्र इंग्लिश नीतिशास्त्र की चिंतनधारा हाब्स की उन आलोचनाओं से प्रारम्भ होती है, जिन्हें हाब्स के विचारों के कारण वैचारिक उत्तेजना मिली थी। हाब्स बेकन की बौद्धिक संतान है। इस बात को प्रतिपादित करने के मोह का किसी भी भले इतिहासवेत्ता को प्रतिरोध करना चाहिए। हमारी मान्यता यह है कि वस्तुतः हाब्स के नैतिक चिंतन का प्रारम्भ बिंदु बेकन के चिंतन से बहुत दूर अर्थात् प्रकृति के नियम के प्रचलित दृष्टिकोण में खोजा जा सकता है। इस प्राकृतिक नियम के राजनीतिक पक्ष के प्रति हाब्स के पहले की संकटपूर्ण शताब्दी की नवीन परिस्थितियों में विशेष रूप से अनपेक्षित ध्यान दिया गया था, क्योंकि जैसा हमनें बताया है, बहुत कुछ रूप से

सुधारवाद के कारण राजनीतिक सम्बंधों के क्षेत्र में स्वतंत्र व्यावहारिक सिद्धांतों की आवश्यकता का अधिक तीव्रता से अनुभव किया गया था। 16 वीं शती में धार्मिक युद्धों के कारण राजनीतिक और व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र के नियंत्रण को निम्न दो रूपों में बहुत ही अधिक प्रभावित किया। प्रथम तो शासक के अधिकार और शासित के कर्त्तव्यों सम्बंधी शंकाओं की तीव्रता और आवश्यकता के रूप में, जिन्हें शासक और शासित के स्वीकृत विभाजन ने अपरिहार्य रूप से उठाया था, दूसरे, उस अपूर्ण किंतु वास्तविक नियामक प्रभाव का विनाश, जो कि ईसाई धर्म की एकता के द्वारा पहले पश्चिमी यूरोप पर लागू था। लोक-नियम की उत्पन्न अस्तव्यस्त अवस्था के फ लस्वरूप कैथोलिक और प्रोटेस्टन्ट-दोनों ही समुदायों के अनेक लेखकों ने नियामक सिद्धांतों के इस अभाव की पूर्त्ति के लिए प्राकृतिक नियम के इस प्रत्यय को विकसित किया, जिसे मध्ययुगीन दार्शनिकों ने अंशतः सिसरो एवं आगस्टिन की परम्परा से और अंशतः रोमन न्यायशास्त्र के आधार पर पुनर्जीवित किया था, किंतु थामस एक्वीनास के अनुसार यह पूरी तरह से बौद्धिक आधार पर निर्मित है और प्रकाशना अर्थात् श्रुति के आधार पर निकाले गए निष्कर्षों से स्वतंत्र है। दूसरे, परम्परागत धर्मशास्त्री नीतिवेत्ताओं के विचारों का विवेचन करने में भी मैंने अपना ध्यान पूरी तरह से उन्हीं सिद्धांतों पर केंद्रित किया है, जो कि उनके रचयिता की दृष्टि से विशुद्ध रूप में बौद्धिक आधार पर खड़े हैं।

एक्वीनास के दर्शन में प्रस्तुत प्राकृतिक नियम का यह प्रत्यय प्रथमतः न्यायशास्त्र या राजनीतिशास्त्र से सम्बंधित है, किंतु अपने सीमित अर्थ की अपेक्षा यह नीतिशास्त्र को अधिक व्यापक अर्थ में रखता है। प्राकृतिक नियम की परिभाषा का अर्थ पारस्परिक आचरण के वे नियम मात्र नहीं, जिन्हें पालन करने के लिए मनुष्य को सम्यक्तया बाध्य किया जा सकता है, किंतु वे नियम हैं, जिनका पालन करना चाहिए, जहां तक कि वे आगमशास्त्रीय ज्ञान के प्रकाश से भिन्न मानव के प्राकृतिक ज्ञान के प्रकाश से जान सकते हैं। जिस प्रकार नीतिशास्त्र और न्यायशास्त्र के क्षेत्र में स्पष्ट विभाजक रेखा का अभाव है उसी प्रकार प्राकृतिक नियमों के नीतिशास्त्रीय और न्यायशास्त्रीय -दोनों क्षेत्रों के सम्बंध में भी स्पष्ट विभाजक रेखा का अभाव है। ग्रोटीअस के पूर्व के लेखकों में इन दोनों के मध्य सामान्यतया स्पष्ट विभाजन नहीं पाया जाता है।

ग्रोटीअस (1583-1645)

यद्यपि ग्रोटीअस के युग निर्माणकारी लेटिन ग्रंथ (1625) में प्राकृतिक नियम के नीतिशास्त्रीय और न्यायशास्त्रीय क्षेत्रों के इस विभाजन को स्पष्ट रूप से दृष्टि में रखा गया है। उसमें ग्रोटीअस ने यह बताया है कि प्राकृतिक नियम का सिद्धांत मुख्यतः अंतर्राज्यीय सम्बंधों के लिए लागू होता है, फिर भी सामान्य विवेचन से वह उसके व्यापक नैतिक अर्थ को भी स्वीकार करता है। वह प्राकृतिक नियम को सम्यक् ज्ञान के अनुशासन के रूप में परिभाषित करता है, जो यह बताता है कि कोई भी कार्य नैतिक दृष्टि से अनुचित है या नैतिक दृष्टि से आवश्यक (उचित) है, यह उस कार्य के मानव की बौद्धिक एवं सामाजिक प्रकृति के साथ अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने पर निर्भर होता है। यह परिभाषा स्पष्ट रूप से चाहे नैतिक कर्त्तव्य सम्बंधी सभी नियमों पर लागू न हो, फिर भी सामाजिक आचरण[3] से सम्बंधित नैतिक कर्त्तव्यों के एक बड़े भाग पर लागू होती है, साथ ही वह सामाजिक आचरण के उन नियमों पर भी लागू होती है, जो व्यक्ति और समाज के पारस्परिक दायित्व का निर्धारण करते हैं, यद्यपि ग्रोटीअस विशेष रूप से इस परवर्ती अंश से सम्बंधित है। ग्रोटीअस और उस युग के दूसरे लेखकों के अनुसार किसी भी अवस्था में प्राकृतिक नियम, ईश्वरीय नियम का ही एक अंश है जो कि मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्ति से अनिवार्यतया निर्गमित होते हैं। मनुष्य पशुओं से इसी रूप में भिन्न है। उसमें अपने साथियों के साथ शांति एवं सहयोग से रहने की विशेष अभिलाषा तथा सामान्य सिद्धांतों के आधार पर कार्य करने की प्रवृत्ति है। गणित के सत्यों के समान ये प्राकृतिक नियम ईश्वर से भी अपरिवर्तनीय है (यद्यपि उसके परिणामों को किसी विशेष अवस्था में ईश्वरीय आज्ञा से निरस्त किया जा सकता है)। इस प्रकार मानवीय प्रकृति के अमूर्त चिंतन के द्वारा उसका अनुभव निरपेक्ष बोध होता है। यद्यपि इसकी मानव समाज के द्वारा सामान्य स्वीकृति होने से, इसके अस्तित्व को अनुभवाश्रित एवं सापेक्ष रूप में भी जाना जा सकता है। रोमन न्याय-विदो के अनुसार जिनसे प्राकृतिक नियम का यह विचार ग्रहण किया है ये नियम विधायक नियम (कानून) से अलग होकर वस्तुतः अपनी कोई तात्त्विक सत्ता नहीं रखते हैं। प्राकृतिक नियम वे तथ्य हैं, जो इन अस्तित्ववान विधियों के मूल में अंतनिर्हित है और जिन्हें उन विधियों के द्वारा ही खोजा जा सकता है। अंततोगत्वा यह अपेक्षा की जा सकती है कि वह ईश्वर उनसे परे

होगा। इसके साथ ही वह ईश्वर एक आदर्श मानदण्ड प्रस्तुत करता है, जिसके आधार पर कानूनों में संशोधन हेतु मार्गदर्शन प्राप्त किया जा सकता है। कुछ स्थलों पर न्यायविदों की भाषा से यह प्रतीत होता है कि संयोग से कुछ शब्द छोड़ दिए गए थे। मुझे यह बात संदेहास्पद लगती है। मैं सोचता हूं कि ग्रोटीअस ने अपने उसी अध्याय के 9 वें भाग में जो कुछ कहा उसके अनुसार 10 वें भाग में इस पद को छोड़ दिया गया, जो कि सामान्यतया नैतिक कर्तव्यों पर लागू होता है। यद्यपि इन शब्दों के जोड़ देने से परिभाषा उसके विषय के सामान्य विवेचन की दृष्टि से अधिक संगतिपूर्ण बन जाती है, इसलिए मैंने भी इन शब्दों को रहने दिया है। स्पष्टतया यह बात यह अभिव्यक्त करती है मानव इतिहास में सभ्य समाज व्यवस्था के पूर्व एक युग ऐसा भी था जब मनुष्य प्राकृतिक नियमों से पूर्णतया शासित होता था[4]। सिनेका के माध्यम से हमें यह ज्ञात होता है कि स्टोइक पोसीहोनिअस ने इस युग का पौराणिक स्वर्णयुग से तादात्म्य किया था। इस प्रकार गैर ईसाई स्रोतों से लिए गए ये विचार जेनेसिस के आख्यानों से संकलित विचारों के साथ मध्ययुगीन विचारकों के मस्तिष्कीय चिंतन से घुल मिल गए। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से न सही, किंतु सामाजिक दृष्टि से प्राकृतिक राज्य की अब धारणा की स्थापना एवं प्रचलन हो गया, जिसमें व्यक्ति या एकल परिवार मात्र उन प्राकृतिक नियमों के सहारे ही साथ-साथ रहने लगे, जो सबके समान अधिकार की पृथ्वी की वस्तुओं पर अपने-अपने उपयोग से पारस्परिक हस्तक्षेप एवं हानियों से रोक सके जो संतान पर माता-पिता के प्रति, पत्नी की स्वामीभक्ति के दायित्व को एवं स्वेच्छा से किए संविदाओं के पालन को सम्भव बना सके। ग्रोटीअस ने अंतर्राष्ट्रीय कर्तव्य एवं अधिकारों का निर्धारण करने के लिए उपादेय प्राकृतिक नियम के सिद्धांतों के उपयोग से इस विचार को ग्रहण किया और उसे अतिरिक्त शक्ति एवं ठोसपन प्रदान किया। क्योंकि निगम इकाइयों के रूप में स्वीकृत स्वतंत्र (नियम) अभी भी राष्ट्र की प्राकृतिक अवस्था की दृष्टि से एक दूसरे पर स्पष्टतया निर्भर थे। यह नहीं माना जा सकता है कि आदिम युग के स्वतंत्र मनुष्यों के व्यवहार में वर्तमान राष्ट्रों की अपेक्षा प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत पूरी तरह चरितार्थ हो चुका था। वस्तुतः ग्रोटीअस सबसे अधिक प्राथमिक अधिकारों के उल्लंघन से उत्पन्न होने वाले व्यक्तिगत युद्धों का प्राकृतिक अधिकार के दृष्टिकोण से विशेष रूप से सम्बंधित है। सम्यक् ज्ञान के अनुशासन के रूप में पूर्व में उद्धृत प्राकृतिक नियम की परिभाषा एवं उसके पालन की सामान्य प्रवृत्ति को भी अपने में समाहित करती है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए

कि संविदाओं के सामान्य अनुपालन को स्वीकृत कर लेना ग्रोटीअस के लिए विशेष रूप से आवश्यक था, क्योंकि अभिव्यक्त अथवा मौन संविदा के द्वारा केवल सम्पत्ति के उपयोग में हस्तक्षेप नहीं करने के अधिकार से भिन्न सम्पत्ति के (स्वामीत्व के) अधिकार की धारणा को उसने मान्य कर लिया था। इसी प्रकार एक मूलभूत संविदा वैध प्रभुसत्ता के सामान्य स्रोत के रूप में बहुत पहले ही सामान्यतया मान्य कर लिया गया था।

जैसा कि हमनें कहा, उपरोक्त विचार ग्रोटीअस के लिए कोई अजनबी नहीं थे। उस समय उनकी पुस्तक की तात्कालिक एवं महत्वपूर्ण सफलता के कारण प्राकृतिक अधिकार का यह दृष्टिकोण प्रमुख बन गया था और इन प्रश्नों पर ध्यान केंद्रित किया जाने लगा था कि इन नियमों को पालन करने के लिए मनुष्य का अंतिम तर्क क्या है? उसकी बौद्धिक एवं सामाजिक प्रवृत्ति से कर्त्ता तक इस अनुबंध की संगति है? किस सीमा तक और किस अर्थ में उसकी प्रकृति वस्तुतः सामाजिक है?

हाब्स (1588 से 1679)

इन मौलिक प्रश्नों का हाब्स ने जो उत्तर दिया, वही इंग्लैण्ड में स्वतंत्र नैतिक दर्शन का प्रारम्भ बिंदु बन गया। प्रथमतः, हाब्स का मनोविज्ञान स्पष्ट रूप से भौतिकवादी है। वह मानता है कि मनुष्य की संवेदनाएं एवं कल्पनाएं, उसके विचार एवं संवेग उसके शरीर के आंतरिक अंगों में होने वाली गति की मात्र प्रतीतियां (अभिव्यक्ति) हैं। तदनुसार हाब्स सुख को नैतिक क्रियाओं की आवश्यक सहायक गति के रूप में और दुःख को बाधक गति के रूप में मानता है। इच्छा का विषय सदैव ही सुख के रूप में या दुःख की अनुपस्थिति के रूप में होता है। इस सिद्धांत का उपरोक्त मनोवैज्ञानिक धारणा से कोई तार्किक सम्बंध नहीं है, किंतु एक भौतिकवादी, एक मनोवैज्ञानिक-पद्धति का निर्माण करते समय शारीरिक आवश्यकताओं से उत्पन्न होने वाले उन क्रियाशील आवेगों के प्रति विशेष ध्यान देना स्वाभाविक ही है, वे आवेग, जिनका स्पष्ट उद्देश्य कर्त्ता के अवयवों का संरक्षण है। सरलीकरण की दार्शनिक आकांक्षा के साथ यह दृष्टिकोण उसे इस निष्कर्ष की ओर ले गया कि सभी मानवीय प्रेरणाएं समान रूप से स्वहित से सम्बंधित हैं। किसी भी कीमत पर नैतिक मनोविज्ञान में हाब्स का यह मुख्य सिद्धांत है कि प्रत्येक व्यक्ति की क्षुधाएं एवं इच्छाएं या तो उसके जीवन के संरक्षण की ओर उन्मुख होती हैं अथवा जिसे वह सुखद मानता है[5],

उसकी वृद्धि की ओर निर्देशित होती है, यहां तक कि द्वेष या घृणा भी दुःख की विमुखता से इसी प्रकार संचालित होती है। हाव्स ऐच्छिक सुख की खोज और मूल प्रवृत्यात्मक सुख की खोज में कोई अंतर नहीं करता है और वह बाहर से निःस्वार्थ प्रतीत होने वाले संवेगों को निश्चित रूप से स्वहित (स्वार्थ) का ही एक प्रकार बताता है। दया को वह दूसरों के संकटों के लिए होने वाला ऐसा दुःख मानता है, जो कि अपने पर आने वाले ऐसे ही संकट की कल्पना के कारण उत्पन्न होता है। जिस निस्सपहतृा को हम अच्छी मानते हैं और प्रशंसा करते हैं, वह वस्तुतः सुख का अभिवचन है। जब मनुष्य वर्तमान के सुख को तत्काल प्राप्त नहीं करते हैं, तो वे उसकी भावी सुख के साधन के रूप में इच्छा करते हैं और इस प्रकार उस (भावी सुख देने वाली) शक्ति की क्रियान्वित से की गई इस निष्पत्ति में सुख का बोध करते हैं, जो कि उन कार्यों को प्रोत्साहित करती है, तथा समग्र समाज रचना या तो लाभ के लिए है या प्रतिष्ठा के लिए। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्यों को पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा है बच्चों को अपने जीवन के लिए दूसरे की सहायता आवश्यक होती है और वृद्धों को भी ठीक-प्रकार से जीवन जीने के लिए ऐसी ही सहायता की आवश्यकता होती है। किंतु जहां तक इस आवश्यकता का सम्बंध है यह समाज-रचना की अपेक्षा एक अनुशासन है, जिसे समस्त भयों से त्राण पाने के लिए एक मनुष्य अवश्य ही स्वीकार करेगा। पारस्परिक भय से अलग हटकर मनुष्य में अपने साथियों के साथ राजनीतिक संगठन में संगठित होने की और उससे प्रतिफलित होने वाली निषेधाज्ञाओं एवं विधायक दायित्वों में स्वीकार करने की कोई स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है। यदि किसी को मनुष्य की स्वाभाविक असामाजिकता के प्रति संदेह हो, तो हाव्स उसे यह विचार करने को विवश करता है कि उसके और उसके साथियों के निम्न कार्य क्या बताते हैं? जब वह कोई यात्रा करता है, तो अपने को हथियारों से सज्जित करता है, जब सोता है, तो दरवाजे बंद करता है, अपने स्वयं के घर में भी अपनी संदूकों, तिजोरियों पर ताले लगाता है और यह भी, जब कि वह जानता है कि उसे पहुंचाई जाने वाली प्रत्येक क्षति का बदला लेने के लिए कानून एवं शासन के सशस्त्र अधिकारीगण हैं।

तब अपने सामाजिक स्वभाव के कारण अन्य प्राणियों के साथ रहने वाले इस स्वार्थी एवं स्वाभाविक रूप से स्वहित की अपेक्षा रखने वाले इस प्राणी के लिए आचरण का बुद्धिसंगत रूप क्या है और वह आचरण कौनसा है, जिसे उसे अंगीकृत कर लेना चाहिए? प्रथमतः, चूंकि मनुष्य के सभी ऐच्छिक कार्य उसके आत्मरक्षण

या सुख के भाव से प्रवृत्त होते हैं, इच्छा के एक विषय से दूसरे विषय की ओर सतत् प्रगति में हैं, (सुख के अतिरिक्त) किसी अन्य वस्तु की कामना करना बुद्धिसंगत नहीं होगा[6]। वस्तुतः, बुद्धि की अपेक्षा प्रकृति ही मानवीय कार्यों का साध्य निश्चित करती है। प्रकृति के द्वारा निश्चित साध्य के लिए साधन प्रस्तुत करना ही बुद्धि का कार्य है, इसलिए यदि हम यह पूछें कि किसी व्यक्ति के लिए उन सामान्यतया नैतिक कहे जाने वाले सामाजिक व्यवहार के नियम का पालन करना क्यों बुद्धिसंगत है? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह है कि इन नियमों का पालन करना व्यक्ति के स्वयं के आत्मरक्षण या सुख के साधन के रूप में परोक्षतया बुद्धि संगत है। यद्यपि केवल इस प्राचीन सिरेनेक्सवादी या इपीक्यूरीयनवादी उत्तर में हाव्सवाद की विशेषता नहीं है, अपितु उसकी विशेषता इस सिद्धांत में है, कि सर्वाधिक मौलिक नैतिक नियमों की अपरोक्ष बुद्धियुक्तता पूरी तरह उनके उस सामान्य निरीक्षण पर आधारित है, जिसे शासन की मध्यवर्तिता के बिना नहीं पाया जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि मुझे यह साधार संदेह हो कि दूसरा पक्ष बाद में संविदा का पालन नहीं करेगा, तो मेरे द्वारा उस संविदा के अपने भाग का पहले पालन करना, मेरे लिए बुद्धि संगत नहीं होगा। इस आधारभूत तर्क संप्राप्त संदेह का निराकरण केवल समाज की उस अवस्था में ही पूरी तरह हो सकता है, जिसमें वह उन नियमों का पालन नहीं करने के लिए दण्डित किया जाता हो। इस प्रकार सामाजिक व्यवहार के सामान्य नियम केवल सापेक्षिक रूप में ही बंधनकारक है। उनका क्रियान्वयन एक ऐसी सामान्य शक्ति के निर्माण से होता है जो सामान्य हित की ओर प्रवृत्त नियमों को सभी के द्वारा पालन करवाने के लिए सबके साधनों और शक्ति का उपयोग कर सके। दूसरी ओर नैतिक नियमों के सर्वोच्च महत्व को बनाए रखने के लिए हाव्स किसी को झुकाना नहीं चाहता है। न्याय सम्बंधी नियम, प्रसंविदाओं का पालन, सभी मनुष्य को समान समझना, हित करने वाले को उसका प्रतिफल (पुरस्कार), सामाजिकता, जहां तक सुरक्षा को आघात न पहुंचे, वहां तक अपराध करने वालों के लिए क्षमा, घमण्ड, अहंकार, अवज्ञा (निंदा) को रोकने वाले नियमों और दूसरे गौण नियमों को हम एक सरल सिद्धांत में समाहित कर सकते हैं। वह सिद्धांत है कि दूसरे के प्रति वह मत करों जिसे तुम अपने लिए नहीं *चाहते हो*[7]*। इस सिद्धांत को ही वह प्रकृति का अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत नियम* बताता है। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि मनुष्य कार्यों के क्रियान्वयन के लिए निरपेक्ष रूप से बाध्य तो नहीं है, तथापि एक बुद्धिमान प्राणी के रूप में उनकी सिद्धि की

इच्छा या उद्देश्य रखने को बाध्य है, क्योंकि ये नियम शांति की प्राप्ति के साधन होंगे और जहां तक मनुष्य अपने साथियों के साथ विभिन्न सम्बंधों से सम्बंधित है। प्रकृति का प्राथमिक एवं मौलिक नियम शांति की प्राप्ति करना[8] है और उसको बनाए रखना है। किंतु यदि शांति की स्थापना नहीं हो पाती है, तो वह बुद्धिसंगत युद्ध का वरण कर सकता है, वह युद्ध की सहायता ले सकता है एवं उसके लाभों का उपयोग कर सकता हैं। यह बात आत्मरक्षण के प्राकृतिक साध्य के विपरीत होगी कि (1) दूसरे के हितार्थ एकतरफा नैतिक नियमों के पालन के लिए व्यक्ति अपने को समर्पित कर दे और स्वयं दूसरों का शिकार बन जाए अथवा (2) जबकि इस बात की पूर्ण सुरक्षा है कि उनका पालन दूसरों के द्वारा किया जाएगा वह उन नियमों का पालन करने से इंकार कर दे और इस प्रकार शांति के स्थान पर युद्ध का रास्ता चुने। वह प्राकृतिक अवस्था, जिसमें शासन (राज्य संस्था) की स्थापना के पूर्व मनुष्य रहता था और राज्य के समाप्त हो जाने पर, जिसमें मनुष्य को रहना पड़ेगा, वस्तुतः नैतिक मर्यादाओं से स्वतंत्र अवस्था होगी, किंतु इसलिए वह पूरी तरह दुःखों से परिपूर्ण अवस्था भी होगी, यह वह अवस्था है, जिसमें पारस्परिक साधार भय के कारण प्रत्येक व्यक्ति किसी वस्तु पर आधारित रहेगा, यहां तक कि दूसरों के शरीर पर भी, क्योंकि वह भी उसके आत्मरक्षण में सहायक हो सकता है, या जैसा कि हाव्स कहता है यह वह अवस्था है, जिसमें उचित-अनुचित अथवा न्याय-अन्याय की कोई स्थिति नहीं होती है, इसलिए यह अवस्था युद्ध की अवस्था होती है जिसमें प्रत्येक हाथ अपने पड़ोसी के प्रति उठा होता है। बुद्धिसंगत आत्मप्रेम का प्रथम आदेश यह है कि इतनी दुःखद एवं संकटपूर्ण अवस्था से निकलकर एक व्यवस्थायुक्त राष्ट्रमण्डल की शांति में प्रवेश करें। ऐसे राष्ट्रमण्डल का अविर्भाव या तो प्रजाजनों के एक-दूसरे के प्रति किए गए इस संविदे के द्वारा होता है कि वे किसी व्यक्ति या निश्चित इकाई के रूप में कार्य करने वाली सभा को सार्वभौम सत्ता (प्रभुसत्ता) मानकर उसकी आज्ञाओं का पालन करेंगे, अथवा शक्ति के द्वारा प्राप्त सत्ता से होता है, जिसमें व्यक्ति विजेता के निर्णय के प्रति समर्पित हो जाता है, किंतु दोनों ही स्थितियों में प्रमुखता का अधिकार असीम और अप्रश्नित होना चाहिए। प्रभुसत्ता स्वयं भी जनता के शुभ (कल्याण) को प्राप्त करने के प्राकृतिक नियम से बंधी होती है, जो कि उसके स्वयं के हित से अलग नहीं है, किंतु वह अपने कर्तव्यपालन के लिए मात्र ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होती है। उसके आदेश प्रजाजनों के बाहरी आचरण के औचित्य और अनौचित्य के अंतिम

प्रमाणक है और प्रत्येक के लिए निरपेक्ष रूप से पालनीय है, जब तक व्यक्ति उसके संरक्षण का लाभ उठाता है, उसे कोई भी किसी भी बड़े नुकसान की धमकी नहीं दे सकता है, क्योंकि उसके आदेशों के प्रति उंगली उठाना उस अराजकता की ओर प्रथम कदम होगा, जो कि विधि निर्माण एवं प्रशासन में सभी विशेष कमजोरियों को पैदा कर महान संकट का निर्माण कर देगी। अब यह समझना सरल होगा कि सन् 1640 ई. की संकटकालीन अवस्था में जब हाव्स का नीतिपरक राजनीतिक दर्शन लिखित रूप में सामने आया, संघर्षरत सम्प्रदायों के कोलाहल से उबा हुआ एक शांतिप्रिय दार्शनिक उस वैयक्तिक अंतरात्मा के दावों को कैसे स्वीकार कर सकेगा, जो कि मूलतः अराजक है और सामाजिक कल्याण के लिए सबसे अधिक संकटपूर्ण चुनौती यद्यपि व्यवस्था के प्रति मनुष्य की इच्छा कितनी ही तीव्र क्यों न हो, किंतु (सामाजिक शांति हेतु) सामाजिक कर्तव्यों का वह दृष्टिकोण, जिसमें सभी ओर स्वार्थवादिता हो और असीम सत्ता, यही तो एक घातक[9] विरोधाभास ही प्रतीत होता है, चाहे वह ऐसा न हो यह घातक विरोधाभास हो या नहीं हो तथापि हाब्सवाद में एक मौलिकता, एक बल और एक आभासी संगति तो है, जो उसे निश्चित रूप से प्रभावशाली बनाती है। वस्तुतः दो पीढ़ियों तक दार्शनिक आधार पर नैतिकता के निर्माण के लिए किए गए प्रयत्न किसी न किसी रूप में हाब्स के सिद्धांत के प्रतिउत्तर ही थे। एक नैतिक दृष्टिकोण से हाव्सवाद अपने को स्वाभाविक रूप से दो भागों में बांटता है। ये दोनों विभाग केवल हाब्स के विशेष राजनीतिक सिद्धांतों में ही एक संगतियुक्त पूर्ण के रूप में ही जुड़ते हैं, किंतु दूसरे रूपों में अनिवार्यतया एक-दूसरे से सम्बंधित नहीं है। एक ओर उसकी धारणा का सैद्धांतिक आधार स्वार्थवाद है, उदाहरणार्थ वह कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए यही स्वाभाविक और तर्कसंगत है कि उसे पूर्णरूपेण अपने स्वयं के संरक्षण या सुख के लिए प्रयत्न करना चाहिए, जबकि दूसरी ओर कर्तव्यों का तफसील से व्यावहारिक रूप में निर्धारण करते समय उसका सिद्धांत सामाजिक नैतिकता को पूरी तरह से समाज संस्था पर और विधायक नियमों पर निर्भर बनाता है। इस प्रकार वह शुभ और अशुभ की सापेक्षता को दो अर्थों में स्वीकार करता है। किसी भी नागरिक के लिए एक दृष्टिकोण से शुभ और अशुभ को क्रमशः उसकी इच्छा अथवा घृणा के रूप में परिभाषित किया जाता है, किंतु दूसरे दृष्टिकोण से वे व्यक्ति के लिए उसके संप्रभु-शासक के द्वारा निर्धारित होते हैं। हाब्स के सिद्धांत का यह दूसरा पक्ष ही उसके आलोचकों की प्रथम पीढ़ी की आलोचना का

प्राथमिक विषय बना। यह हाब्स की आलोचना अथवा परम्परागत सिद्धांतों की पुनः प्रति-स्थापना केम्ब्रिज के नीतिवेत्ताओं और कम्बरलेण्ड के द्वारा क्रमशः भिन्न-भिन्न पद्धतियों से की गई। एक, केम्ब्रिज नीतिवेत्ताओं के लिए नैतिकता प्रथमतः केवल नियम-संहिता की अपेक्षा उचित और अनुचित एवं शुभ और अशुभ के ज्ञान का एक अंग थी, जो कि किसी विधायक संकल्प से स्वतंत्र अपने निरपेक्ष स्वरूप और अंतरात्मा की निश्चितता पर बल देती है, दूसरी ओर, कम्बरलेण्ड नैतिकता के विधिक दृष्टिकोण से सहमत हैं। वे प्राकृतिक नियमों को बुद्धि पर आधारित सबके सामान्य शुभ के एकमात्र सर्वोच्च सिद्धांत पर आधारित करते हैं एवं इसी रूप में उनकी प्रमाणिकता स्थापित करते हैं। इस प्रकार सामान्य शुभ के सिद्धांत पर आधारित मानकर भी उन्हें ईश्वरीय अंकुश के द्वारा पूर्णतया समर्थित दिखाने का साहस करते हैं।

केम्ब्रिज के नीतिवेत्तागण

कडवर्थ (सन् 1617 से 1688)

कडवर्थ नीतिशास्त्र के एक ऐसे प्रमुख विचारक हैं, जो सत्रहवीं शताब्दी के केम्ब्रिज के विचारकों के उस छोटे समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसे केम्ब्रिज प्लेटोवादी के नाम से जाना जाता था। यह समूह नवप्लेटोवाद के माध्यम से जाने गए प्लेटोवादी सिद्धांतों को ग्रहण करता है, किंतु इसके साथ ही डेकार्थ के उन नए विचारों से प्रभावित है, जिनमें बौद्धिक धर्मशास्त्र को धार्मिक-दर्शन से मिलाने का प्रयत्न किया गया है। कडवर्थ का प्रसिद्ध ग्रंथ शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय नैतिकता है। जो कि उसकी मृत्यु के (1688) चालीस वर्ष बाद भी प्रकाशित नहीं हो सका था। इस ग्रंथ में उसका मुख्य उद्देश्य ईश्वरीय या मानवीय स्वेच्छिक संकल्प से स्वतंत्र शुभ और अशुभ के शाश्वत एवं अनिवार्य अंतर को बनाए रखना था। इस धारणा को वह न केवल हाव्स के उस सिद्धांत के विरोध में मान्य करता है जिसके अनुसार शुभ और अशुभ का निर्धारण शासन के द्वारा होता है। इसे वह स्काटस, ओकम और दूसरे परवर्ती धर्मशास्त्रियों के भी विरोध में स्वीकार करता है, जो कि यह मानते थे कि समग्र नैतिकता केवल ईश्वर के संकल्प या विधायक आदेश पर निर्भर है। कडवर्थ के अनुसार शुभ और अशुभ के विभेद की एक वस्तुगत सत्ता है, जिसे दिक् या संख्या के सम्बंधों के समान ही बुद्धि के द्वारा जाना जा सकता है। निस्संदेह मानवीय मस्तिष्क में उसका ज्ञान ईश्वर के द्वारा आता

है। किंतु यह मात्र ईश्वर के संकल्प के रूप में नहीं वरन् उस ईश्वरीय प्रज्ञा से होता है जिसके प्रकाश का मनुष्य भी अपूर्ण रूप से भागीदार है। गणितीय सत्यों के समान नैतिक सत्य भी मूल रूप से और सम्यक् रूप से इंद्रियगम्य तथ्यों से सम्बंधित नहीं हैं, किंतु वे वस्तुओं के सामान्य एवं बुद्धिगम्य स्वरूप से सम्बंधित हैं, जो कि मनस के समान ही शाश्वत हैं और उनका अस्तित्व भी मनस् से अवियोज्य है, इसीलिए नैतिक तर्कवाक्य बुद्धिमान् प्राणियों के आचरण के निर्देशक (सिद्धांत) के रूप में उतने ही अपरिवर्तनीय एवं प्रामाणिक हैं, जितने कि ज्यामिती के सत्य जिस रूप में हाब्स अपने सापेक्षवाद के बावजूद भी प्रकृति के नियमों को शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय मानता है, उस रूप में कडवर्थ उन्हें शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय नहीं मानता है। कडवर्थ का हाव्सवाद का विरोध भी हमें सामान्यतया प्रभावकारी या असरकारक प्रतीत नहीं होता है। वह हाव्ससाद, जिसे वह नोवन टिक्यू फिलासफी के अर्थ में केवल प्रोटोगोरस के अणुवाद[10] एवं सापेक्षवाद के पुनर्जीवित के रूप में मानता है, उसका मुख्य खण्डनात्मक तर्क प्रतिवादी के निजी सिद्धांतों पर आधारित है, जिसके द्वारा वह यह बताने की कोशिश करता है कि हाव्स का अणुवादी भौतिकवाद एक वस्तुगत भौतिक विश्व के प्रत्यय को प्रस्तुत करता है। वह ऐसे निष्क्रिय बोध का विषय नहीं है, जो कि व्यक्ति व्यक्ति में भिन्न हो किंतु वह क्रियाशील बुद्धि का विषय है, जो कि सभी में समान है। इसी आधार पर वह यह तर्क करता है कि उसी बुद्धि को नीति के क्षेत्र में कार्य करने से रोकना स्वयं तार्किक दृष्टि से असंगत है और उचित एवं अनुचित की भी एक वस्तुतःगत दुनिया है, जिसे मनस् अपनी सामान्य क्रियाओं के द्वारा जानता है।

मूर (1614 से 1687)

कडवर्थ की पूर्वोक्त पुस्तक में उन नैतिक सिद्धांतों की व्यवस्थित व्याख्या नहीं मिलती है, जिनका बोध उसकी मान्यता के अनुसार अंतरात्मा के द्वारा होता है। किंतु इस कमी की पूर्ति उसी विचारधारा के एक अन्य विचारक हेनरी मूर की नीतिशास्त्र सम्बंधी पुस्तक के द्वारा होती जाती है। वह उन तेईस सद्गुणों (शुभों) की सूची देता है, जिनकी सत्यता तत्काल ही स्पष्ट हो जाती है। उनमें से कुछ स्वहितवादी दृष्टिकोण समर्थक है, और ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने भी उन्हें ऐसा ही समझा है। उदाहरणार्थ शुभों में गुणों के साथ-साथ अवधि का अंतर होता है। सर्वोत्तम शुभ और कम से कम बुराई को हमेशा प्राथमिकता दी जानी

चाहिए। यदि शुभ की अनुपस्थिति मात्रा अशुभ की उपस्थिति मात्रा के बराबर है, तो शुभ की अनुपस्थिति ही वरेण्य है। यदि वे समान रूप से निश्चित हैं और करीब-करीब उतने ही अधिक संभाव्य है, तो भावी शुभ अथवा अशुभ को भी उतना ही महत्व देना चाहिए, जितना कि वर्तमान शुभ या अशुभ को। इन मान्यताओं का आधार कुछ भी रहा हो, इतना स्पष्ट है कि हाब्सवाद और आधुनिक प्लेटोवाद के बीच का गहरा विरोध ऐसे सिद्धांतों से सम्बंधित नहीं है, किंतु उन बातों से सम्बंधित है, जो व्यक्ति के द्वारा उसके साथियों के लिए (वास्तविक या प्रतीत्यात्मक) त्याग की अपेक्षा करती है। ईसाई धर्मग्रंथ की शिक्षाएं हैं कि जैसा तुम दूसरों से चाहते हो, वैसा ही व्यवहार उनके प्रति भी करो या प्रत्येक व्यक्ति को जो भी उसका अधिकार है, उसे दो और बिना किसी बाधा के उसे उपभोग करने दो। यह न्याय का सिद्धांत है और मूर विशेष रूप से वह परोपकार का सामान्य सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहता है कि यदि यह शुभ है कि एक व्यक्ति को सम्यक् प्रकार से जीवन जीने और सुखी रहने के साधन दिए जाएं तो दो व्यक्तियों को ऐसे साधन देना गणित का द्विगुणित शुभ होगा और इसी प्रकार आगे भी कि समाज के थोड़े लोगों की अपेक्षा अधिक लोगों को लाभ पहुंचाना, यह सामान्य हित के लिए है, यद्यपि मात्र ऐसे सूत्र के प्रस्तुतिकरण से हाब्स के द्वारा उठाई गई समस्या का पूरी तरह से निराकरण नहीं हो पाता है। यह मान्यता वस्तुतः बहुत कुछ रूप में एक सामान्य प्रकथन है। प्रश्न अभी भी शेष रहता है कि एक व्यक्ति को इस अथवा अन्य किसी सामाजिक सिद्धांत को मान लेने के लिए कौन-सी प्रेरणा कार्य करती है, जबकि ऐसा सिद्धांत उसकी स्वाभाविक इच्छाओं और व्यक्तिगत रुचि के विरोध में है। कडवर्थ स्पष्ट रूप से इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं देता है और मूर का उत्तर भी अधिक स्पष्ट नहीं है। एक ओर वह यह मानता है कि यह सिद्धांत एक निरपेक्ष शुभ को अभिव्यक्त करता है। इसे बौद्धिक कहा जाता है, क्योंकि इसका सारतत्त्व एवं इसकी सत्यता को बुद्धि के द्वारा ही जाना जाता है एवं परिभाषित किया जाता है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि निर्णय करने वाली यह बुद्धि स्वयं ही संकल्प का समुचित रूप से एवं पूरी तरह निर्धारण करती है। बुद्धिमान प्राणी के रूप में मनुष्य को इसी निरपेक्ष शुभ को स्वतःसाध्य मानकर ही इसकी सिद्धि या प्राप्ति का उद्देश्य रखना चाहिए। यही निष्कर्ष मूर की सद्गुण की परिभाषा में भी सूचित किया गया है। मूर के अनुसार, सद्गुण आत्मा की वह बौद्धिक शक्ति है, जिसके द्वारा आत्मा अपने पाशविक आवेगों और दैहिक वासनाओं पर पूर्ण नियंत्रण करती है।

बुद्धि की प्रत्येक क्रिया में आत्मा सरलतापूर्वक उसे प्राप्त कर सकती है, जो कि सरल एवं निरपेक्ष रूप में सर्वोत्तम है। यह दृष्टिकोण वस्तुतः मूर का प्रतीत नहीं होता है। उसकी व्याख्या यह है कि यद्यपि निरपेक्ष शुभ प्रज्ञा के द्वारा जाना जा सकता है, किंतु उसकी मधुरता और सुवास को प्रज्ञा नहीं जान सकती है, अपितु उसे उसके द्वारा जाना जा सकता है, जिसे हम अन्तर्दृष्टि कहते हैं और इसी मधुरता और सुवास में सद्गुणात्मक आचरण का प्रेरक निहित है। नीतिशास्त्र सम्यक् प्रकार से एवं आनंद से जीने की कला है। सच्चा आनंद उस सुख में निहित है, जिसे आत्मा सद्गुणों के बोध के द्वारा प्राप्त करता है। संक्षेप में, मूर का प्लेटोवाद नैतिक क्रियाओं के चरम प्रेरक की धारणा में वस्तुतः हाब्स के समान ही सुखवादी प्रतीत होता है। केवल अंतिम प्रेरक के रूप में जिस भावना को यह अपील करता है, उस भावना का अपेक्षित निर्णायक क्षमता के साथ विशिष्ट नैतिक विशुद्धता से युक्त मन ही आदतन अनुभव कर सकता है।

नैतिकता प्रकृति के नियम के रूप में

यद्यपि यह देखा जाता है कि मूर ने अपने ही समान अपने पड़ोसी के कल्याण के निरपेक्ष सिद्धांत को ईसाई धर्म में दर्शित पूर्ण व्यापकता के साथ उपस्थित किया है और परोपकारिता की वृत्ति के उच्चतम स्वरूप को ही अपने पड़ोसी के प्रति एवं ईश्वर के प्रति प्रेम माना है, किंतु जब वह सद्गुणों का वर्गीकरण एवं विवेचना करता है तो वह परोपकार को उदारता के परम्परागत रूप के सिवाय स्वतंत्र स्थान नहीं दे पाता है। इस सम्बंध में वह प्लेटो और अरस्तू के प्रभाव से बहुत अधिक प्रभावित है। इस सम्बंध में उसका चिंतन कम्बरलैण्ड का स्पष्ट विरोधी प्रतीत होता है।

कम्बरलैण्ड (1632-1718)

कम्बरलैण्ड का नीति सम्बंधी ग्रंथ (1672) भी यद्यपि मूर के समान ही लेटिन में ही लिखा गया है, फिर भी उसके नैतिक विचार पूर्णतया आधुनिक है। कम्बरलैण्ड एक कुशाग्रबुद्धि के मौलिक चिंतक हैं। उन्होंने किसी प्रख्यात नीतिवेत्ता की अपेक्षा भी अधिक विचार-सामग्री प्रस्तुत की है, फिर भी उनकी शास्त्रीय शैली, असंगतता एवं विस्तृतता तथा शास्त्रीय-भाषा के साथ-साथ तथ्यपूर्ण विवेचना की विस्तृत व्याख्या शैली के बावजूद भी स्पष्टता की कमी के कारण उनके ग्रंथ लोकप्रिय न हो पाए।

सबका सामान्य शुभ ही वह परमसाध्य एवं नैतिक प्रमापक है, जिसके आधार पर *अन्य समस्त नैतिक नियम और सद्गुणों का निर्धारण होना चाहिए।* इस

सिद्धांत को प्राथमिकता देने वालों में कम्बरलैण्ड मुख्य है, इसलिए उन्हें परवर्ती उपयोगितावाद का अग्रदूत भी कहा जा सकता है। उनका मुख्य सिद्धांत एवं प्रकृति का सर्वोच्च नियम, जिसमें कि दूसरे सभी प्राकृतिक नियम अंतर्निहित हैं, यह है कि प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति के लिए शेष सभी लोगों के प्रति सर्वाचिक सम्भाव्य परोपकार[11] अपनी शक्ति के अनुसार सभी लोगों की और प्रत्येक व्यक्ति की आनंद की अवस्था को निर्मित करना है, जो कि उसके आनंद के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। इस प्रकार, सामान्य शुभ संकल्प ही सर्वोच्च नियम होते, यद्यपि यह ध्यान रखना आवश्यक है कि व्यक्ति के शुभ में साधारण रूप से केवल आनंद ही अंतर्निहित नहीं है, वरन् पूर्णता भी अंतर्निहित है। कम्बरलैण्ड ने पूर्णता को इतनी कठोरता से परिभाषित नहीं किया है कि नैतिक पूर्णता का विचार उससे बहिर्गत हो। इस प्रकार वह नैतिकता की व्याख्या को एक स्पष्ट तार्किक चक्र में बचाता है, किंतु विशेष नैतिक नियमों के सूक्ष्मता–पूर्वक निगमन के लिए ऐसी अपूर्ण रूप से निश्चित की गई धारणा का उपयोग मुश्किल से किया जा सकता है। वस्तुतः, कम्बरलैण्ड ऐसा प्रयास भी नहीं करता है। उसका मुख्य सिद्धांत सामान्य नैतिकता को संशोधित करने के लिए नहीं है, अपितु उसे समर्थन देने एवं व्यवस्थित करने के लिए है। जैसा कि पहले कहा गया है, निश्चित ही यह सिद्धांत नैतिकता को एक नियम के रूप में स्वीकार करता है और इसलिए इस नियम के निर्माता ईश्वर की ओर संकेत करता है, साथ ही इस नियम के पालन करने अथवा इसका उल्लंघन करने पर कर्ता के सुख को प्रभावित करने की बाध्यता से युक्त है। कम्बरलैण्ड अनेक आगमनात्मक प्रमाणों की समीक्षा के उपरांत मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक संरचना में अभिव्यक्त सामाजिकता के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि इस नियम के द्वारा ईश्वरीय संकल्प प्रकट होता है, यद्यपि मनुष्य इतना भाग्यशाली नहीं है कि वह इसे जन्मना प्रत्यय के रूप में धारण करता है। पुनः, उसकी नैतिक बाध्यता (नैतिक अंकुश) की विवेचना, जिसमें कि सद्गुण के आंतरिक एवं बाह्य पुरस्कार तथा दुर्गुण के आंतरिक एवं बाह्य दण्ड का विचार निहित है, पूर्णतया बोधगम्य हैं। परवर्ती उपयोगितावादियों के समान ही वह भी यह बताता है कि नैतिक दायित्व प्राथमिक रूप में इन नैतिक बाध्यताओं के द्वारा संकल्प पर डाले गए दबाव में निहित रहता है। यद्यपि वह यह मानता है कि यह स्वार्थवादी प्रेरक अपरिहार्य है और सामान्यतया एक सदाचारी मनुष्य के द्वारा नैतिकता के पालन करने की प्रारम्भिक अवस्थाओं में कर्म का सामान्य चालक होता है तथा

बुद्धिमान प्राणी इससे ऊपर उठकर ईश्वरीय प्रेम के उच्च प्रेरक की ओर अभिमुख होते हैं, उसका सम्मान करते हैं और सामान्य सुख के लिए निष्काम भाव से प्रवृत्ति करते हैं। किंतु उसके भिन्न-भिन्न कथनों के प्रति, जैसे वैयक्तिक शुभ और सामान्य शुभ के बीच में सम्बंध के प्रति और इस पद्धति के प्रति स्पष्ट और संगतिपूर्ण दृष्टिकोण रख पाना कठिन है, जिसके अनुसार दोनों या उनमें से कोई एक संकल्प का निर्धारण करता है।

लाक (1632-1704)

जिस स्पष्टता को हमनें कम्बरलैण्ड में व्यर्थ ही ढूंढने का प्रयास किया था, वह स्पष्टता प्रसिद्ध लेखक लाक में अपनी पूर्ण व्यापकता के साथ पाई जाती है। लाक की नीति सम्बंधी पुस्तक की रूपरेखा कम्बरलैण्ड के ग्रंथ के प्रकाशित होने के समय तैयार हो चुकी थी, यद्यपि लाक के नैतिक विचारों को अधिकांशतया गलत रूप में समझा गया है। आधुनिक नैतिक विवेचनाओं में सामान्यतया पाई जाने वाली जन्मजात प्रत्ययों और अंतःप्रज्ञा के बीच की भ्रांति के कारण यह मान लिया गया कि आंग्ल अनुभववाद के प्रवर्त्तक अनिवार्यतया अंतःप्रज्ञावादी नीतिशास्त्र के विरोधी रहे हैं, किंतु जहां तक कि नैतिक नियमों के निर्धारण का प्रश्न है, यह पूर्णतया गलत धारणा है। यद्यपि यह निस्संदेह सत्य है कि लाक इस दृष्टिकोण को अस्वीकार करता है, जो यह मानता हो कि कुछ नियमों के नैतिक आबंधों (दायित्वों) का बोध केवल बुद्धि के द्वारा हो जाता है या बुद्धि किन्हीं नैतिक नियमों के पालन करने या नहीं करने से व्यक्ति पर होने वाले पूर्वानुमानित परिणामों से अलग नैतिक आबन्धों (दायित्वों) के पालन का एक सक्षम प्रेरक है। शुभ और अशुभ अन्य कुछ नहीं मात्र सुख और दुःख है, अथवा सुख या दुःख की उपलब्धि के अवसर या बाधाएं हैं, इस व्याख्या में वह हाव्स से वास्तविक सहमति रखता है। लाक नैतिक शुभ और नैतिक अशुभ की परिभाषा किसी नियम के प्रति हमारे संकल्पित कर्म के अनुमोदन के रूप में करता है, जहां हमारे लिए शुभत्व और अशुभत्व का निर्धारण नियम की मान्यता और संकल्प-शक्ति से होता है, किंतु लाक हाव्स के विरोधियों से भी इस सम्बंध में पूरी सहमति रखता है कि नैतिक नियम राजनीतिक समाज से स्वतंत्र होकर भी आबंधात्मक हैं और अंतःप्रज्ञा के द्वारा ज्ञान होने के सिद्धांत या वैज्ञानिक आधार पर खड़े होने में सक्षम हैं, यद्यपि वह इन्हें मानव मन में जन्मना उपस्थित नहीं मानते हैं। ऐसे नियमों की सम्पूर्णता को ही वह ईश्वरीय

नियम कहता है और यह मानता है कि वह ईश्वरीय नियम होने से समुचित पुरस्कार एवं दण्ड के अंकुश से युक्त होगा। वह इसे न केवल नागरिक नियम से, अपितु जन-साधारण की धारणाओं (मत) या प्रतिष्ठा के नियम से भी स्पष्ट रूप से अलग करता है। प्रतिष्ठा के नियम का तात्पर्य ऐसे परिवर्तनशील नैतिक प्रमाणक से है, जिसके आधार पर वस्तुतः, मनुष्य की प्रशंसा या निंदा की जाती है। वस्तुतः वह इस दैवीय नियम के पूर्ण प्रभावकारी होने के वैज्ञानिक अभिनिश्चय की बात नहीं कहता है, अपितु वह उसकी सम्भावना को दृढ़ एवं निश्चयात्मक भाषा में स्वीकार करता है। वह कहता है कि परम सत्ता का प्रत्यय अनंत शुभत्व, अनंत शक्ति एवं अनंत प्रज्ञा से युक्त है। हम इसी परमसत्ता की कलाकृति हैं और इसी पर निर्भर हैं। बुद्धिमान प्राणी के रूप में हमारी सत्ता का प्रत्यय हममें इतना अधिक स्पष्ट है कि मैं समझता हूं कि यदि इस पर सम्यक् प्रकार से विचार किया जाए एवं इससे प्रेरणा ली जाए, तो यह हमारे कर्तव्यों को आचरण के नियमों के लिए इतना सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करता है जिस पर नैतिकता को प्रमाणिकरण के योग्य विज्ञानों में रखा जा सकता है। मुझे इसमें संदेह नहीं है कि स्वतःप्रमाण्य तर्कवाक्यों से शुभ और अशुभ के मापन के लिए ऐसे अनिवार्य निष्कर्ष प्राप्त किए जा सकते हैं, जो कि गणित के निष्कर्ष के समान ही अकाट्य होंगे। ईश्वर का शुभत्व केवल सुख को देने की इच्छा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी संगतिपूर्ण रूप से नहीं समझा सकता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कार्यों के औचित्यता का अंतिम प्रमापक कार्यों से प्रभावित होने वाले प्राणियों का सामान्य सुख ही होना चाहिए, किंतु इस उद्धरण के आधार पर जिसे कि हमने अभी उद्धरित किया है, लाक स्पष्ट रूप से इस प्रमापक को स्वीकार नहीं कर सकता है। वे कथन जिन्हें वह उदाहरणों के रूप में या अंतःप्रज्ञात्मक नैतिक सत्यों के रूप में प्रस्तुत करता है, सामान्य सुख के सिद्धांत की प्रामाणिकता से सम्बंधित नहीं हैं जैसे कोई भी शासन पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान नहीं करता है तथा जहां कोई सम्पत्ति नहीं है, वहां अन्याय भी नहीं है। पुनः, अपनी पुस्तक में वह प्रकृति के नियम की विवेचना करता है और उसे शासन की शक्ति के स्रोत एवं निर्धारण के लिए महत्त्वपूर्ण मानता है, निर्धारित नियमों की उसकी बौद्धिकता सिवाय किसी अव्यक्त या गौण रूप के उपयोगितावादी नहीं है। अपने प्राकृतिक नियम के विचार को उसने प्रत्यक्ष रूप से ग्रोटीअस से और उसके शिष्य पुफेन्डोर्फ से तथा परोक्ष रूप में स्टोईक और रोमन विधिवेत्ताओं से प्राप्त किया है। यह प्राकृतिक नियम का विचार मुख्यतः वैसा ही है, यद्यपि उसमें एक या दो

महत्वपूर्ण संशोधन उसके स्वयं के चिंतन का परिणाम है। यह कि सभी मनुष्य मूलतया स्वतंत्र और समान हैं, किसी को किसी का नुकसान नहीं करना चाहिए, किंतु उसके संरक्षण में वहीं तक सहयोग करना चाहिए जहां तक कि उसके आत्मसंरक्षण को कोई हानि नहीं पहुंचती है। संविदाओं का पालन करना चाहिए, माता-पिताओं को अपने बच्चों के निर्देशन एवं अनुशासन का अधिकार है और साथ ही उनके शिक्षण एवं पालन का कर्तव्य भी है, किंतु यह तब तक ही, जब तक कि वे बौद्धिक परिपक्वता की उम्र को प्राप्त नहीं हो जाते। प्रथमतया, संसार की सम्पत्ति सभी की है किंतु जब कोई उसे अपने परिश्रम के साथ प्राप्त करता है तो वह वैयक्तिक सम्पत्ति हो जाती है[12], यदि वह पर्याप्त एवं सर्वोपयोगी है तो उसे सबके लिए छोड़ दिया जाए। उपरोक्त सिद्धांत लाक की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति के लिए, जो कि मानव सम्बंधों पर विचार करता है, सामान्य सुख के परमादर्श के बाह्य संदर्भ के बिना भी सरल और बोधगम्य है। मनुष्य को मूलतया एक दूसरे के लिए और ईश्वर के लिए उत्पन्न किया गया है। वह कहता है कि ईश्वर ने मनुष्यों को प्रकृति और शक्ति में समान बनाया है और इसलिए उन्हें एक दूसरे से स्वतंत्र माना जाना चाहिए। पुनः, ईश्वर ने मनुष्य को अपने आनंद के अंतिम क्षणों में बनाया है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने और दूसरों के जीवन के रक्षण के लिए बाध्य है। इस प्रकार लाक नैतिक नियमों की सामान्य सुख के प्रवर्द्धन की प्रवृत्ति का विरोधी नहीं है। उसे इसमें कोई संदेह नहीं है कि मनुष्यों में सामान्य सुख के प्रवर्द्धन की यह प्रवृत्ति पाई जाती है। वह किसी सीमा तक इस सम्बंध में तर्क भी प्रस्तुत करता है, किंतु तर्क करने की यह दिशा उसके दर्शन का मुख्य नहीं है, इसलिए यदि किसी अर्थ में उसके दृष्टिकोण को कर्मों के औचित्य के निर्धारण के आधार पर, न कि केवल उस प्रेरक के आधार पर, जिसे यह सिद्धांत सामान्य रूप से स्वीकार करता है, यदि उन्हें उपयोगितावादी कहा जाए, तो हमें यह जोड़ देना होगा कि बहुत-कुछ रूप में उसका यह उपयोगितावाद अव्यक्त और अचेतन ही है[13]।

क्लार्क (1675-1729 ई.)

सिविल गवर्नमेन्ट नामक लाक के ग्रंथ के 1705 ई. में प्रकाशित होने के पंद्रह वर्ष पश्चात् क्लार्क ने नैतिकता को गणित के समान अकाट्य स्वतःप्रमाण्य तर्कवाक्यों के द्वारा प्रमाणीकरण के योग्य माना और इस (स्वयंसिद्धियों) प्रकार के नीतिशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में रखने का एक प्रभावकारी प्रयास किया, किंतु उसका यह प्रयास लाक की अपेक्षा कडवर्थ

की तर्क प्रणाली पर आधारित है। इस कारण उसका हाव्स और लाक से इस बात में विरोध बना रहा[14] कि स्वतःप्रमाण्य व्यावहारिक तर्कवाक्यों का ज्ञान सुख और दुःख से स्वतंत्र अपने आप में होता है, उसकी दृष्टि में यह ज्ञान एक बुद्धिमान् प्राणी के लिए तदनुसार आचरण करने के लिए एक पर्याप्त प्रेरक सिद्ध होगा, जिनमें कि क्लार्क की विचारधारा अभिव्यक्त हुई है, उन व्याख्यानों का मुख्य उद्देश्य ईसाई-धर्मशास्त्र की बुद्धिसंगतता और निश्चितता को सिद्ध करना था। अपने इस धार्मिक दृष्टिकोण के द्वारा वह एक ओर मनुष्यों पर नैतिकता के शाश्वत एवं अपरिवर्तनशील आबंधों की अनिवार्यता को वस्तुओं के अपने स्वरूप एवं कारण के आधार पर सिद्ध करता है तथा दूसरी ओर बिना किसी प्रभावकारी उद्देश्य से अथवा बिना आत्मा की अमरता और भावी जीवन में मिलने वाले पुरस्कार एवं दंड की आस्था के इन आबंधों का बचाव करना या इन्हें पूरी शक्ति के साथ लागू कर पाना असम्भव मानता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे उसके उद्देश्यों का यह दोहरापन उसकी विवेचना को सूक्ष्म बनाने की अपेक्षा उलझा देता है, जिसे हमें उसकी विचारधारा की समालोचना करते समय सदा बयान में रखना होगा। वह निम्न दोनों ही बातों को स्पष्ट करने के लिए आतुर है, एक तो यह कि ये नैतिक नियम ईश्वरीय विधान की नैतिक बाध्यता से स्वतंत्र होकर भी आबंधक है और दूसरे यह कि ये नियम ईश्वरीय नियम हैं और जिनके पालन करने अथवा उल्लंघन करने के साथ नैतिक बाध्यता जुड़ी हुई है उसकी विचारधारा में ये दोनों तर्क अनिवार्यतया एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। हम केवल समग्र बौद्धिक संकल्पों पर न्याय की निरपेक्ष बाध्यता के द्वारा ही ईश्वर की दार्शनिक निश्चितता का अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि ईश्वर वस्तुतः न्यायी है और इसलिए अशुभ अर्हता के लिए दंड और शुभ अर्हता के लिए पुरस्कार देगा। उसके तर्क के इस प्रथम एवं पूरी तरह से नैतिक भाग की समीक्षा करते समय यह सुविधाजनक होगा कि उसे दो प्रश्नों में बांट दिया जाए (1) क्या नैतिकता के स्वतःप्रमाण्य एवं शाश्वत सिद्धांत हैं?और (2) वैयक्तिक संकल्पों से उनका क्या सम्बंध है? हमें जिस रूप में नैतिक सिद्धांतों का बोध होता है, उसका सामान्य विकल्प यह है कि विभिन्न वस्तुओं के एक-दूसरे के साथ जो विभिन्न प्रकार के अनिवार्य एवं शाश्वत सम्बंध हैं, उनके कारण विभिन्न वस्तुओं या विभिन्न सम्बंधों में एक दूसरे के साथ उपयोग की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता होती है। वस्तुओं की प्रकृति अथवा मनुष्यों की योग्यता के अनुसार कुछ परिस्थितियां कुछ मनुष्यों के लिए उपयुक्त एवं अनुकूल होती है और वे ही परिस्थितियां

दूसरे मनुष्यों के लिए अनुपयुक्त होती है। इन सम्बंधों पर विचार करने के हेतु बुद्धि के लिए यह उपयुक्तता या अनुपयुक्तता वैसी ही अंतःप्रज्ञात्मक रूप में प्रमाण होती है, जैसे कि गणित की सम और विषम संख्याएं। क्लार्क इस सामान्य विचार की उचितता को चार मुख्य नियमों की स्वतःप्रामाण्यता के आधार पर स्पष्ट करता है। ये चार मुख्य नियम हैं- (1) ईश्वर के प्रति पवित्रता, (2) प्राणियों के प्रति समानता, (3) परोपकारिता और (4) अपनी आत्मा के प्रति कर्त्तव्य का नियम, जिसे वह संयम कहता है। इन नियमों में अंतिम नियम को क्लार्क ने जिस ढंग से परिभाषित किया है, उससे यह अपने आबंध के रूप में प्राथमिक और स्वतंत्र प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि यह कर्त्तव्य के परिपालन की दृष्टि से आवेगों एवं क्षुधाओं के नियमन तथा जीवन के संरक्षण को स्वीकार करता है, जो कि पूर्व से ही निश्चित है ऐसा मान लिया गया है। क्लार्क पवित्रता के नियम की अपनी विवेचना में मुश्किल से ही उस नियम स्पष्टता के लिए प्रयास करता है जिसका निर्देश उसके गणितीय उदाहरण करते है[15]। वस्तुतः क्लार्क के सिद्धांत में समानता और सार्वभौमिक परोपकारिता का नियम ही ऐसा है जो सामाजिक कर्तव्यों को निर्धारित करता है जिसमें उस गणितीय समरूपता का अर्थ एवं शक्ति प्रकट होती है। दूसरे व्यक्ति ने जिस कार्य को मेरे प्रति किए जाने पर विवेकयुक्त या विवेकरहित मानता है, तो मुझे भी मेरे द्वारा दूसरों के प्रति किए जाने वाले वैसे ही कार्य को उसी के समान परिस्थिति में उसी निर्णय के आधार पर विवेकपूर्ण या विवेकरहित घोषित करना चाहिए। निस्संदेह समानता का यह सिद्धांत गणितीय एवं सिद्धि से निश्चित समानता रखता है। यही बात उस सिद्धांत के सम्बंध में भी कही जा सकती है कि निस्संदेह में कम शुभ की अपेक्षा अधिक शुभ का वरण करना चाहिए, चाहे वह शुभ (हित) हमारा हो या अन्य किसी का। इस सिद्धांत को हम मूर के ग्रंथ 'नियोमेटा मारलिया' में कुछ भिन्न रूप में देख चुके हैं।

यदि किसी दृष्टि में इन तर्क वाक्यों को स्वतःप्रमाण्य मान भी लिया जाए, तो भी यह प्रश्न विचारणीय रहता है कि कहां तक इनका अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान व्यक्ति के संकल्प के निर्धारण में निर्णायक होता है या होना चाहिए। इस प्रश्न पर क्लार्क के कथन की समीक्षा हमें यह बताती है कि इस सम्बंध में जिस दृष्टिकोण को वह मान्य रखना चाहता है, उस दृष्टिकोण में किसी भी रूप से न तो इतनी स्पष्टता ही है और न इतनी सुनिश्चितता ही है, जितनी कि उसके कथनों के सामान्य तात्पर्य में निहित होती है[16]। प्रथम दृष्टि में वह बिना किसी अपेक्षा के यह सिद्धांत स्थापित करता है कि एक

बुद्धिमान् प्राणी को अपने नैतिक सत्य के बोध के अनुसार ही आचरण करना चाहिए, यद्यपि इस बोध से हम निश्चयपूर्वक यह स्वीकार करने के लिए योग्य हो जाते हैं कि विश्व की नियामक परम प्रज्ञा अर्थात् ईश्वर अपने प्राणियों की नियति को न्याय और परोपकारिता के अनुसार नियत करेगा और मनुष्य को तब तक सुखी बनाएगा, जब तक कि वह दुःखी होने की योग्यता को अर्जित नहीं कर लेता है। इसी आधार पर हम यह भी मान सकते हैं कि जब तक सभी मनुष्य विकृत, अनुत्तरदायी, गलत मान्यताओं से ग्रस्त और भयानक कष्टों एवं आदतों के द्वारा अस्वाभाविक रूप भ्रष्ट नहीं हो जाते हैं, यह उतना ही असम्भव है, जितना कि दो और दो चार नहीं मानना असम्भव है। क्लार्क हमेशा ही गणित और नीतिशास्त्र की समतुल्यता पर जोर नहीं देता है। जहां तक वह इस युक्ति का उपयोग करता है, वहां तक वह उचित है और होना चाहिए, जब तक बुद्ध नीति और गणित के बीच के मूलभूत विभेद को न केवल दृष्टि से ओझल करता है, अपितु इस अंतर के सम्बंध में अस्पष्ट रूप से वर्गाच्छादन भी करता है, जैसे-यह कहना है कि वह मनुष्य, जो न्याय के विपरीत आचरण करता है, वह वस्तुओं को इस रूप में चाहता है, जिस रूप में की वे नहीं हैं और नहीं हो सकती है। इस कथन से उसका जो तात्पर्य है, उसे निम्न सामान्य प्रकथन के द्वारा अल्प विरोधाभास के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि मूलतया और वस्तुतः यह इतना ही स्वाभाविक और नैतिक-दृष्टि से अनिवार्य है कि प्रत्येक कार्य में संकल्प का निर्धारण वस्तु विवेक और परिस्थिति के अधिकार के आधार पर होना चाहिए, जैसे-यह स्वाभाविक और निरपेक्ष रूप से आवश्यक है कि विवेक-बुद्धि को निदर्शनात्मक सत्य को प्रस्तुत करना चाहिए। इन एवं अन्य समान उद्धरणों के द्वारा हम यह अनुमान कर सकते हैं कि यदि मनुष्य सुख और दुःख के प्रलोभन के कारण समदृष्टिता और सार्वभौमिक परोपकारिता के नियमों से विचलित होता है, तो क्लार्क की दृष्टि में इसका अर्थ यह न होगा कि सदाचार से विचलित होने का कोई ठोस कारण है। परंतु आंशिक रूप में इसका कारण अबौद्धिक आवेगों को माना जा सकता है। किंतु बाद में जब वह भावी पुरस्कार अथवा दंड का तर्क देता हैं तब हम यह पाते हैं कि नैतिकता के सम्बंध में उसके दावे आश्चर्यजनक रूप से निर्बल हैं। अब वह केवल इतने से ही संतुष्ट है कि सद्गुणों का चयन स्वतःसाध्य के रूप में करना चाहिए और दुर्गुणों से बचना चाहिए, यद्यपि एक व्यक्ति अपनी स्थिति के बारे में निश्चित है कि उनके अभ्यास से उसे न तो कुछ मिलने वाला है न तो कुछ होने वाला है। क्लार्क पूर्ण रूप

से यह भी स्वीकार करता है कि यह प्रश्न तय और बदल जाता है कि जबकि एक बुरा व्यक्ति बुराई के द्वारा सुख और सुविधाओं के युक्त होता है और सद्गुणी सद्गुणों के द्वारा हानि और कष्टों का सामना करता है और मात्र इतना ही नहीं है। यह वस्तुतः उचित नहीं है कि सद्गुणों का पालन करने वाले व्यक्तियों को अपने जीवन के निर्वाह से भी वंचित होना पड़े सिवाय इसके कि वे स्वयं ही अपनी सद्गुण निष्ठा के कारण किसी भी प्रकार के लाभ उठाने की सम्भावना को स्वयं ही न ठुकरा दें। यदि मानव-जीवन की केवल आनुभविक ज्ञान-अवस्थाओं को ही हम अपने विचारों में लें, तो अव्यक्त रूप से क्लार्क यह स्वीकार करता है कि वैयक्तिक दृष्टिकोण से सद्गुणों की अपेक्षा वैयक्तिक हितों को प्राथमिकता देना तर्कसंगत है, यद्यपि निरपेक्ष या सार्वभौमिक दृष्टिकोण से यह बुद्धिसंगत है कि स्वहितों की अपेक्षा सद्गुणों का वरण किया जाए। इन दोनों प्रकार की तार्किक संगतियों के मध्य का विरोधाभास है। निस्संदेह नैतिक सत्यों के अनुरक्षण के लिए धर्मशास्त्र की आवश्यकता बताने हेतु यह सुविधाप्रद है, किंतु क्लार्क का धार्मिक चिंतन यह बताता है कि नैतिक सत्यों को धर्मशास्त्र से स्वतंत्र एवं अकाट्य रूप में स्थापित किया जाना चाहिए, ताकि ईश्वर के गुणों को दार्शनिक रूप से जाना जा सके। फिर भी यह विरोधाभास उसके सिद्धांत की कमजोरी का मूल आधार है। इसने व्यावहारिक बुद्धि के सहजबोधों के विरोध को स्पष्ट किया है, जबकि क्लार्क इन सहज बोधों की तुलना गणितीय सहज बोधों से करता है, किंतु गणितीय सहज बोधों में इसके समान कुछ भी नहीं पाया जाता है।

इस प्रकार, अंततोगत्वा क्लार्क ने अपनी प्रभावशीलता एवं ईमानदारी के साथ बौद्धिक नैतिकता का सिद्धांत प्रस्तुत किया था, किंतु उसने नीतिशास्त्र को स्वतंत्र दार्शनिक आधार पर स्थापित करने में अधिक कठिनाइयां ही सही है। जहां तक हाब्स के मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद को पूरी तरह समाप्त नहीं कर दिया जाता है। वहां तक ऐसा कर पाना कठिन ही है। जब तक कि यह नहीं किया जाता, सामाजिक कर्त्तव्यों की निरपेक्ष बौद्धिकता का निदर्शन हमें निरपेक्ष बुद्धि और मनुष्य की क्षुधात्मक प्रकृति में सामान्यतया निहित स्वहित के दृष्टिकोण के मध्य होने वाले विरोध को असमन्वयात्मक स्थिति में ही छोड़ देना होता है। यदि हम यह मान लें कि अन्यायपूर्वक कार्य करने में उतनी ही बौद्धिक विसंगति है, जितने कि दो और दो चार होते हैं इस बात को अस्वीकार करने से होती है, तो भी एक व्यक्ति को जब दुःख और विसंगति में से किसी एक को चुनना हो, तो वह विसंगति को ही चुनेगा, किंतु जैसा कि हमने देखा था, क्लार्क

वस्तुतः यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि ऐसा चयन अबौद्धिक है।

शेफ्ट्सबरी (1671 से 1713)

शेफ्ट्सबरी के द्वारा नीति-निर्माण के लिए किसी सीमा तक स्वाभाविक आत्मप्रेम के विरोधी सामाजिक कर्त्तव्यों के सिद्धांत को निरपेक्ष बुद्धि की अपेक्षा दूसरे मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया, जो कि मनुष्य के सामाजिक स्नेह की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में सामाजिक-कर्त्तव्यों और उसके आत्मसम्मान (आत्महित) के विचार के बीच सामान्य संगति के निदर्शन के द्वारा सम्भव था। शेपट्सबरी ने विचार की इसी दिशा को ग्रहण किया। यद्यपि स्वाभाविक आत्मीयता (सहानुभूति) मनुष्य को अपने साथियों से जोड़ती है, इस तथ्य पर जोर देने वाला वही एकमात्र मौलिक विचारक नहीं था। यदि पूर्वयुग के विचारकों को छोड़ दें, तो भी कम्बरलैण्ड ने इस पर किसी सीमा तक विचार किया है और क्लार्क ने विश्व-कल्याण की निरपेक्ष बौद्धिकता की अभिव्यक्ति में इसका सहारा लिया है। किंतु शेपट्सबरी के पूर्व किसी भी विचारक ने इसे अपने चिंतन का केंद्र नहीं बनाया था, न अभी तक किसी ने नैतिक रूचि का केंद्र यह मानकर कि अमूर्त नैतिक अंतरों या ईश्वरीय विधान के नियमों की ज्ञाता बुद्धि है। बुद्धि से सामाजिक कर्तव्यों के चालक संवेगात्मक आवेगों पर पूरी तरह स्थानांतरित किया था और न किसी ने अनुभूति के सावधानीपूर्ण विश्लेषण के द्वारा हमारी क्षुधात्मक प्रकृति के निष्काम और स्वहितवादी पक्षों का स्पष्ट रूप से विधान करने का प्रयास या इन दोनों पहलुओं की यथार्थ संगति को सिद्ध करने का प्रयास किया था। शेफ ट्सबरी अपनी नीति सम्बंधी पुस्तक (1771) का आरम्भ हाव्स के द्वारा प्रस्तुत शुभ की उस स्वार्थवादी व्याख्या की आलोचना से करता है [17]। हमने देखा था कि इस स्वार्थवादी व्याख्या का पूरी तरह बहिष्कार कर्त्तव्य के बौद्धिक अंतःप्रज्ञावादी सिद्धांत में अनिवार्य रूप से नहीं हुआ था। वह कहता है कि यह व्याख्या तभी सत्य हो सकती है जबकि हम मनुष्य को पूर्णतया एक असंबंधित (समाज से कटा हुआ) व्यक्ति माने। निस्संदेह ऐसे व्यक्ति को हम अच्छा व्यक्ति कह सकेंगे, यदि उसकी वासनाओं (आवेगों) और उसकी वृत्तियों में संगति हो और उसकी स्वयं की सुखशांति[18] की उपलब्धि के लिए स्वीकार की गई हो, किंतु हमें उस व्यापक व्यवस्था के सम्बंध में भी विचार करना

होगा, जिसका वह एक अंश है और हमें ऐसा करना भी चाहिए। इसी आधार पर हम उसे अच्छा कह सकते हैं, जब कि उसके आवेग और स्वभाव उस व्यापक पूर्ण के हित को आगे बढ़ाने में संतुलित एवं क्रमबद्ध हो। पुनः, हम उस व्यक्ति को अच्छा केवल इसलिए नहीं कहेंगे कि उसकी बाह्य-क्रियाएं कल्याणकारी परिणामों को प्रस्तुत करती हैं। जब हम किसी व्यक्ति को अच्छा कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि बिना किसी बाह्य दबाव के उसका स्वभाव और आत्मीयता (स्नेह) ऐसी है, जो कि स्वतः ही मानव जाति के सुख एवं कल्याण की वृद्धि के लिए अभिमुख है। हाब्स का नैतिक विचार यदि उसे शासन के नियम से मुक्त कर दिया जाए, तो वह अपने साथियों के लिए प्रत्यक्ष रूप में विनाशकारी ही सिद्ध होगा, जिसे हम साधारणतया अच्छा व्यक्ति कहने के लिए राजी नहीं होंगे। शुभत्व या अच्छाई संवेदनशील प्राणी में प्रथमतया उसके अनासक्त स्नेह या निष्काम प्रेम में निहित होती है, जिसका कि सीधा उद्देश्य दूसरों का कल्याण होता है, किंतु शेफ्ट्सबरी की मान्यता है कि ऐसे परोपकारी सामाजिक आवेग सदैव ही शुभ नहीं होते और दूसरे, ये आवेग एक व्यक्ति को अच्छा बनाने के लिए आवश्यक नहीं हैं। इसके विपरीत, वह यह स्पष्ट करने के लिए उत्सुक है कि किस प्रकार लोक-मंगलकारी आत्मीयता अर्थात् करुणा या वात्सल्यभाव इतने महान् हों कि वे दूसरे प्रकार के ममत्वों की स्वाभाविक क्रिया एवं शक्ति का आकर्षण कर सकें और साथ ही इतने व्यापक हों कि वे अपने आत्मप्रेम को पराजित कर सके और अपने को वैयक्तिक हितों की उपलब्धि से वंचित रख सकें। पुनः, वह यह भी बताता है कि आत्मरक्षण की ओर प्रवृत्त आवेगों का अभाव किस प्रकार जाति रक्षण के लिए हानिकारक हो सकता है और इसलिए बुरा भी हो सकता है। संक्षेप में, अच्छाई या शुभत्व दोनों ही प्रकार के आवेगों के ऐसे सह-अस्तित्व पर निर्भर है, जिसमें प्रत्येक अपने समुचित अनुपात में सापेक्षिक रूप से उपस्थित हो, ताकि विभिन्न पक्षों के मध्य एक न्याययुक्त समानानुपातिकता, संतुलन और संगति बनी रहे। शुभत्व मानव जाति के कल्याण की अभिवृद्धि की प्रवृत्ति के रूप में सम्यक् अंशों और अनुपातों की कसौटी के रूप में माना जा सकता है। इसकी स्थापना के पश्चात् शेफ्ट्सबरी का मुख्य तर्क यह सिद्ध करना है कि यह वैयक्तिक और सामाजिक प्रेम के संतुलन एवं मिश्रण द्वारा स्वाभाविक रूप से लोक-कल्याण की ओर प्रवृत्त होता है और मनुष्यों के वैयक्तिक सुख में सहायक होता है। शेफ्ट्सबरी आवेगों को तीन श्रेणियों में विभाजित करता है- (1) स्वाभाविक स्नेह - जो कि प्रेम, आत्म-

संतोष, शुभ संकल्प और जाति के प्रति सहानुभूति के रूप में पाया जाता है, (2) आत्म प्रेम - जिसके अंतर्गत जीवन के प्रति ममत्व, शारीरिक क्षति से बचाव, दैहिक क्षुधाएं, रुचियां अथवा सुख-सुविधाओं की वे इच्छाएं आती हैं, जिनके द्वारा हम सम्पन्न हों। (3) अस्वाभाविक अनुराग - जिसके अंतर्गत न केवल आत्मरक्षण को छोड़कर सभी अकल्याणकारी प्रेरणाएं आती हैं, अपितु अंधविश्वास, असभ्य रीतिरिवाज, भ्रष्ट क्षुधाएं और कुछ ऐसी आत्मावेग (आत्मवासनाएं) आती हैं, जिनकी मात्रा अत्यधिक होती है[19]।

शेफट्सबरी प्रथम वर्ग का महत्व इसलिए मानता है कि ये उन व्यक्तियों के सुख के साधन हैं जो कि उनका अनुभव करते हैं। शरीर के सुख की अपेक्षा मानसिक सुख श्रेष्ठ है और इस लोक-मंगलकारी आत्मीयता से मानसिक संतुष्टि के सुंदरतम फ ल की निम्न प्रकार से प्राप्ति होती है- (1) लोकमंगलकारी भावना - स्वतः ही आनंदकारक है, (2) दूसरों के सुखों की सहानुभूतिजन्य प्रसन्नता, (3) उनके प्रेम और आदर की चेतना से उत्पन्न होने वाला सुख। वह यह बताता है कि सामाजिक स्नेह मानव जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सामाजिक स्नेह जीवन का उतना ही अपरिहार्य अंग है, जितने हमारे विषय-भोगों के ऐन्द्रिकसुख, जो सामान्यतया हमारे जीवन के लिए अपरिहार्य माने जाते है। वह अंत में कहता है कि इस स्वाभाविक और कल्याणकारी आत्मीयता को सम्पूर्ण रूप से प्राप्त करना आत्मिक आनंद की प्राप्ति का मुख्य स्रोत एवं साधन है और इसका अभाव निश्चित ही दुःख एवं वेदना की प्राप्ति है। यद्यपि दूसरों के कल्याण के इन निष्काम आवेगों के सम्बंध में अस्वाभाविक दृष्टिकोण से ऐसा अभास होता है कि ये मनुष्य को उसके शुभ से दूर ले जाते हैं, किंतु वस्तुतः वे उसे शुभ की ओर ही ले आते हैं। दूसरी ओर आत्मानुराग या आत्मवासनाएं जो कि शेफ्ट्सबरी के अनुसार आत्मप्रेम का निर्माण करती है, उनका सीधा लक्ष्य व्यक्ति का शुभ प्रतीत होता है, किंतु यह केवल तभी ही होता है, जबकि उन्हें कठोर मर्यादा में रखा जाए, ताकि वे वस्तुतः शुभ की वृद्धि करे। इसे बताने के लिए वह इन बातों का विस्तारपूर्वक निरूपण करता है कि क्रोध दुःखद है, ऐन्द्रिक-क्षुधाओं की अतिपूर्ति के द्वारा अंततोगत्वा सुख का स्पष्ट रूप से नाश होता है, प्रशंसा पाने की अत्यधिक इच्छा आकुलता और अशांति को जन्म देती है और अत्यधिक आलस्य से अनेक प्रकार की अनिष्टों की प्राप्ति होती है। यहां तक कि यदि जीवन के प्रति भी अत्यधिक ममत्व होता है, तो वह उस व्यक्ति को, जो कि उसमें अनुरक्त है दुःखदता की ओर ही

ले जाता है। इसलिए वह अंत में यह निष्कर्ष निकालता है कि वह आसक्ति जिससे आत्मवासनाएं या आत्मानुरक्ति का प्रादुर्भाव होता है उसमें आसक्त होने वाले व्यक्ति के लिए तब अनिष्ट कारक बन जाती है जबकि वह समाज के लिए अनिष्टकारक होने लगती है। किंतु कभी-कभी वे वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के हितों के लिए सहायक भी होती है, यद्यपि शेफ्ट्सबरी इन दोनों की वास्तविक संगति या समानता किसी भी निकटस्थ या अकाट्य तर्क के द्वारा सिद्धि करने का प्रयास नहीं करता है।

अस्वाभाविक अनुरागों से एक सुसंतुलित मनस् को पूर्णतया मुक्त होना चाहिए, यह बात भी इसी प्रत्यय में ही निहित है, क्योंकि ये ऐसे अनुराग हैं, जो कि न तो वैयक्तिक हित और न सामाजिक हित की ओर प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि पूरी तरह विनाशकारी इच्छाओं में भी सुख का एक प्रकार निहित होता है, इसलिए जबकि वे बहुत ही तीव्र होती हैं, तो तिरस्कार के योग्य होते हुए भी उनकी संतुष्टि व्यक्ति के सुख के एक घटक की निर्माता प्रतीत होती हैं, किंतु शेफट्सबरी इस दृष्टिकोण को पूर्णतया भ्रांत मानता है। प्रेम करना और दयालु होना उसके अनुसार अपने आप में ही वास्तविक आनंद है जो कि अनुवर्ती दुःख या बेचैनी से युक्त नहीं है और अन्य कुछ नहीं केवल संतोष को उत्पन्न करता है। दूसरी ओर विद्वेष, घृणा और कटुता अपने आप में ही दुःख और पीड़ा है, जो कि किसी प्रकार का सुख या परितोष नहीं दती है, सिवाय इसके कि उस अस्वाभाविक इच्छा की जिससे पूर्ति होती है, उसके द्वारा क्षणिक संतुष्टि हो जाती है। चाहे यह सुख कितना ही तीव्र क्यों न प्रतीत हो इसमें इसे उत्पन्न करने वाली अवस्था का दुःख अधिक मात्रा में ही निहित है। यदि हम इसमें दूसरों के अहित की चेतना की दुःखदता को जोड़ें, तो उसके लिए यह पूरी तरह स्पष्ट है कि इन जघन्य त्रासजनक और अस्वाभाविक अनुराग की उपस्थिति ही उच्चतम बिंदु की दुःखदता है। इस प्रकार हम पुनः उस सामान्य निष्कर्ष की ओर आते हैं कि अनुरक्तियों की वह संतुलितता, व्यवस्थितता एवं मितव्ययता, जो कि सामाजिक हित की ओर प्रवृत्त होती है, वह वैयक्तिक हित की ओर भी प्रवृत्त होगी।

अभी तक हमनें नैतिक इंद्रिय के उस सिद्धांत के सम्बंध में कुछ नहीं बताया, जिसे कभी-कभी शेफ्ट्सबरी के प्रमुख सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यद्यपि यह सिद्धांत वस्तुतः महत्वपूर्ण और विशिष्ट है, किंतु मुख्य तर्क के लिए आवश्यक

नहीं है। यह सिद्धांत उसकी नैतिक संरचना के महल की नींव का पत्थर होने की अपेक्षा उसका शिखर है। ऐसा व्यक्ति भी, जिसे नैतिक बोध नहीं है, शेफ्ट्सबरी के दृष्टिकोण की यह बात अपने हित जीवन में पाएगा कि वह अपने जीवन में सामाजिक और वैयक्तिक अनुरक्तियों का वास्तविक संतुलन बनाए रखे, जो कि मानवजाति के हित में बहुत ही अधिक सहायक है। यदि ऐसा व्यक्ति का अस्तित्व है, तो उसके सम्बंध में सम्यक्तया यह कहा जा सकता है कि उसमें अच्छाई है, यद्यपि सद्गुण नहीं है, किंतु शेफ्ट्सबरी का कहना है कि ऐसा व्यक्ति वस्तुतः नहीं पाया जाता है। न केवल उन प्राणियों में, जो कि अपने आपको केवल ऐन्द्रिकता (सुखों) के लिए समर्पित करते हैं वरन् बुद्धिमान प्राणियों में भी जो अनुराग के विषय होते हैं, किंतु वे क्रियाएं, जो अपने-आपमें और दया करुणा-कृतज्ञता के अनुराग और उनके विरोधी अनुराग चिंतन के द्वारा जब मनस के समक्ष प्रस्तुत होती हैं अनुराग की विषय बन जाती हैं, ताकि वैचारिक बोध के द्वारा उन्हीं अनुरागों[20] के प्रति दूसरे प्रकार के अनुराग वहां उत्पन्न हो अर्थात् अच्छाई के अपने स्वाभाविक सौन्दर्य और मूल्य के लिए अच्छाई के प्रति प्रेम और उसके विरोधी के लिए घृणा। वह यह असम्भव मानता है कि एक बुद्धिमान प्राणी इस नैतिक अथवा प्रतिवर्त संवेदनशीलता से पूरी तरह शून्य हो, जबकि यह संवेदनशील शुभाचरण के लिए एक अतिरिक्त प्रेरणा प्रदान करती है और इसके द्वारा सामाजिक और वैयक्तिक अनुरागों के संतुलन की कमी की पूर्ति अथवा उनमें परिष्कार किया जा सकता है। एक अतिरिक्त कृतज्ञता का ज्ञापन इस संगणना पर विचार करते समय करना होगा, जो कि वैयक्तिक और सामाजिक हितों में अनुरूपता (सहभागिता) को सिद्ध करती है। नैतिक इंद्रिय जब वह विशुद्ध हो तो उसकी कार्यशीलता के लिए शेफटसबरी की यह मान्यता है कि वह सदैव ही मानवजाति के लिए क्या शुभ होगा और क्या अशुभ होगा, उसके बौद्धिक निर्णय के साथ संगति रखेगी। यद्यपि उससे ऐसे निर्णय की बाह्य निर्मिति का निहित होना आवश्यक नहीं है। वह यह भी मानता है कि कोई भी चिंतनात्मक विचार (मत) अपरोक्षरूप से एवं तत्काल इस नैतिक इंद्रिय को समाप्त करने या इसके बोध का बहिष्कार करने में सक्षम नहीं है, यद्यपि यह सम्भव है कि रीति-रिवाजों और अभ्यासों के द्वारा इसे बहुत-कुछ रूप से खोया जा सकता है और यह भी सम्भव है कि ऐसे किसी मिथ्या धर्म के कारण, जो कि अनैतिक गुणों से युक्त देवता के प्रति श्रद्धा और आदरों से युक्त है। यह नैतिक-इन्द्रिय पूरी तरह से पथभ्रष्ट हो सकती है।

शेफ्ट्सबरी के नैतिक दर्शन की विशेषताएं आंग्ल नैतिक चिंतन के इतिहास में एक नई दिशा का सूचक है। उसके अनुयायी नैतिक विचारकों की पीढ़ी में अमूर्त बौद्धिक सिद्धांतों के सम्बंध में विचार गौण हो गया था और मानवीय भय के आनुभविक अध्ययन और मनोजन्य विभिन्न आवेगों एवं स्थाई भावों की वास्तविक भूमिका के निरीक्षण ने उसका स्थान ले लिया था, यद्यपि यह आनुभविक मनोविज्ञान पूर्ववर्ती लेखकों के द्वारा भी वस्तुतः उपेक्षित नहीं था। दूसरे कुछ विचारकों में मूर ने अपने भावावेशों की विवेचना में देकार्त का अनुसरण किया था और लाक के निबंधों ने भी इसी दिशा में उससे भी अधिक दृढ़ता से प्रयास किया था, तथापि शेफ्ट्सबरी वह प्रथम नीतिवेत्ता है, जिसने मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों को स्पष्ट रूप से नीतिशास्त्र का आधार बनाया था। उसके सुझावों का हचीसन के द्वारा एक पूर्ण विवेचित नैतिक दर्शन के रूप में विकास हुआ। साथ ही, अपरोक्ष रूप से हचीसन के माध्यम से इन विचारकों ने ह्यूम के चिंतन को भी प्रभावित किया था और इस प्रकार ये अपने परवर्ती विचारकों से भी सम्बंधित हो गए। इसके अतिरिक्त शेफ्ट्सबरीं की मुख्य युक्तियों को बटलर के द्वारा भी ग्रहण किया गया था, यद्यपि ये युक्तियां उस समर्थ और सजग प्रज्ञा की समालोचना में बिना किसी महत्वपूर्ण संशोधनों और योग के सफ ल नहीं हो सकी। दूसरी ओर, शेफ्ट्सबरी का नैतिक आशावाद वस्तुतः तार्किक न होते हुए भी व्यापक प्रभावकारी है और उस प्राकृतिक धर्म से सम्बंधित था, जिसके लिए कि ईसाइयत अनावश्यक है और जिसने उसे बुरा भी बताया है। शेफ्टस्बरी के इस नैतिक आशावाद पर परम्परागत धर्मशास्त्रियों और स्वतंत्र आलोचकों दोनों ने ही आक्रमण किया।

मेण्डीव्हिले

इन स्वतंत्र आलोचकों में मेण्डीव्हिले का नाम भी पाते है।मेण्डीव्हिले एक विशिष्ट व्यक्ति हैं, यद्यपि वे प्रातिनिधिक व्यक्ति नहीं हैं। उन्हें मुश्किल से ही एक नीतिवेत्ता कहा जा सकता है। यद्यपि उनके नीतिविरोधी वक्तव्यों में बाह्य संगति भी नहीं है, फिर भी उनमें दार्शनिक विचक्षणता की किसी सीमा तक उपस्थिति से इंकार करना भी असम्भव ही है। वे मानते हैं कि सद्गुण विशुद्ध रूप से अस्वाभाविक या कृत्रिम हैं, (जहां कि वे एक दिखावे से अधिक न हो)। किंतु वे इस सम्बंध में दृढ़ निश्चयी नहीं है। ये सद्गुण उन क्षुधाओं और आवेगों के लिए एक निरर्थक बंधन है, जो कि समाज के लिए लाभदायक हैं, किंवा ये सद्गुण उन राजनीतिज्ञों का एक धोखा

है, जिन्होंने मनुष्य जैसे निरीह प्राणी के आत्म-गौरव और आत्म-प्रदर्शन पर खेलते हुए इन्हें उन पर लागू किया है। यद्यपि उसने यह दृष्टिकोण निर्भीकतापूर्वक अभिव्यक्त किया है कि नैतिक नियमन प्राकृतिक मनुष्य के लिए विजातीय तत्त्व हैं और बाहर से थोपे गए हैं। ऐसा लगता है कि यह दृष्टिकोण उसके युग के विनम्र समाज में बहुत ही प्रचलित था, जिसका अनुमान बर्कले के और बाटलर के बहुप्रसिद्ध उपदेशों से लगाया जा सकता है।

बटलर (1692 से 1752)

बटलर ने मानव प्रकृति के सम्बंध में जिस दृष्टिकोण का विरोध किया था वह न तो मेण्डीव्हिले का था और न उसे सम्यक् रूप से हाव्स का ही कहा जा सकता है। यद्यपि बटलर इसे हाव्स के मनोविज्ञान के दार्शनिक आधार के रूप में मानता है। ऐसा कह सकते हैं कि हाव्सवाद ही था, जो भीतर से बाहर की ओर पलट दिया गया था और जो रचनात्मक होने की अपेक्षा अराजक और स्वेच्छाचारी हो गया था। हाव्स ने कहा था कि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था न तो नैतिक थी और न नियमित। नैतिक नियम शांति के साध्य के साधन थे और यह शांति का साध्य भी आत्मरक्षण के लक्ष्य का साधन था। जहां तक हाव्स नैतिकता के इस दृष्टिकोण की व्याख्या करता है, वह इसे कृत्रिम (औपचारिक) एवं अपनी वास्तविकता के लिए उस सामाजिक आबंध पर आश्रित मानता है, जो कि शासन (राज्य) की स्थापना करता है, जबकि बटलर के अनुसार यह वस्तुतः मनुष्य पर एक बुद्धिमान प्राणी होने के नाते बंधनकारक हैं, किंतु यह एक अधार्मिक मान्यता ही थी कि जो प्राकृतिक है, उसे बौद्धिक भी होना चाहिए। सम्भवतया, यह उन अधिकांश लोगों के मस्तिष्कों में रही हुई थी, जो निरंकुश स्वार्थवाद को प्राकृतिक मानते थे। इन दो विश्वासों के मिश्रण से जो परिणाम उत्पन्न हुए, यद्यपि व्यावहारिक रूप में वे शांति के विनाशक नहीं थे, तथापि सामाजिक- कल्याण के लिए खतरनाक अवश्य थे। बटलर भी इस दृष्टिकोण से आत्मसंतुष्ट नहीं था, जैसा कि असावधानी से कभी-कभी उसे मान लिया जाता है। उसने केवल अंतर्विवेक की प्रामाणिकता के स्वाभाविक दावे पर जोर दिया, जिसे कि उसके विरोधियों ने कृत्रिम कहकर त्याग दिया था। वह एक सूक्ष्म ओर प्रभावक तर्क का उपयोग करता है। सबसे प्रथम वह शेफ्ट्सबरी का अनुसरण करते हुए यह बताता है कि सामाजिक अनुराग भी उन क्षुधाओं और इच्छाओं की अपेक्षा, जो कि प्रत्यक्ष रूप में आत्मरक्षण की ओर प्रवृत्त होती हैं कम प्राकृतिक

(स्वभाविक) नहीं है और इससे आगे बढ़कर प्राकृतिक क्षुधाओं के प्राथमिक विषय सम्बंधी स्टोइकों के दृष्टिकोण को पुनर्जीवित करते हुए वह यह सिद्ध करता है कि सुख प्राथमिक विषय नहीं, यहां तक कि आवेग भी प्राथमिक नहीं हैं, जिन्हें शेफट्सबरी ने आत्मानुराग के रूप में स्वीकार किया था। किंतु ये तो उनके प्राकृतिक साध्य का ही एक परिणाम है। वस्तुतः, हमें आत्मप्रेम अर्थात् वह सामान्य इच्छा कि प्रत्येक व्यक्ति अपना आनंद या सुख चाहता है और उन विशेष अनुरागों, भावावेशों और क्षुधाओं में अंतर करना होगा, जो कि सुख की अपेक्षा दूसरे विषयों की ओर प्रवृत्त होती है और जिनकी संतुष्टि से सुख निर्मित होता है। क्षुधाओं आदि को रुचि लेने वाले प्रयत्नों के प्रत्यय से अनिवार्यतया एक भिन्न आवेग मानना होगा, क्योंकि यदि ऐसी कोई पूर्व अस्तित्ववान इच्छाएं नहीं हैं, तो आत्मप्रेम के लिए उनके पाने में कोई सुख नहीं होगा। उदाहरणार्थ, भूख का विषय खाना खाना है, न कि भोजन करने का सुख, इसलिए सही अर्थों में परोपकार की अपेक्षा भूख कोई स्वार्थ (आत्मप्रेम) नहीं है। ऐन्द्रिक सुख उस सुख का एक अंश है जिसके लिए आत्मप्रेम चेष्टा करता है, यह मानने पर यही बात प्रेम और सहानुभूति के सुखों के सम्बंध में भी कही जा सकती है। दैहिक क्षुधाएं (या अन्य विशेष इच्छाएं) आत्मप्रेम को अपना विषय नहीं बनाती है। इसे इस तथ्यों के द्वारा भी बताया जा सकता है कि उनमें से प्रत्येक किन्हीं विशेष परिस्थितियों में आत्मप्रेम के विरुद्ध हो सकती है। वस्तुतः मनुष्य के लिए अपने सच्चे हितों के हेतु आवेगों का त्याग बहुत ही साधारण बात है। इसके साथ ही हम ऐसे आचरण को एक बुद्धिमान प्राणी मनुष्य के लिए स्वाभाविक नहीं मानते हैं, वरन् हम क्षणिक आवेगों पर उसके द्वारा किए गए नियंत्रण को स्वाभाविक मानते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक अनियंत्रित स्वार्थवाद एक मनोवैज्ञानिक कपोल कल्पना के रूप में बदल जाता है, क्योंकि (1) मनुष्य के प्राथमिक आवेगों को किसी भी अर्थ में पूरी तरह स्वहितवादी नहीं कहा जा सकता है, उनमें से किसी का भी सीधा लक्ष्य व्यक्ति का सुख नहीं होता है। जबकि कुछ की स्पष्ट प्रवृत्ति सामाजिक कल्याण की और होती है ओर कुछ की प्रवृत्ति आत्मरक्षण की ओर होती है। (2) एक व्यक्ति सतत् रूप से बिना आत्मसंयमी हुए स्वहितवादी नहीं हो सकता। वस्तुतः, हम यह कह सकते हैं कि एक स्वहितवादी निश्चित ही दोहरा आत्मसंयमी होगा, क्योंकि बौद्धिक आत्मप्रेम को न केवल दूसरे आवेगों पर नियंत्रण करना होगा, वरन् अपने-आप पर भी नियंत्रण करना होगा, क्योंकि सुख उन आंतरिक भावनाओं से बना है, जो कि आत्मप्रेम के अतिरिक्त

दूसरे आवेगों की संतुष्टि का परिणाम है। आत्म-प्रेम का अत्यधिक विकास दूसरे आवेगों को निर्बल करते हुए भी उस सुख को आणनुपातिक रूप से कम ही निर्बल करेगा, जिसके लिए आत्मप्रेम प्रयत्न करता है।

इस प्रकार, शेफ्ट्सबरी की अपेक्षा बटलर के दृष्टिकोण में न केवल मानव प्रकृति को अपने व्यावहारिक पक्ष में अधिक स्पष्ट और प्रकट रूप से आवेगों की ऐसी एक व्यवस्था माना गया है, जिसमें एक अपेक्षित संतुलन और संगति को बनाए रखना आवश्यक है, ताकि वह अच्छी स्थिति में हो सके, साथ ही उसे एक ऐसी व्यवस्था भी माना गया है, जिसमें कुछ कार्यों के प्रेरक शासक एवं नियंत्रक हैं, जबकि दूसरे कुछ स्वाभाविक रूप से उस नियंत्रण के अधीन है। इन दूसरों के सम्बंध में शेफ्ट्सबरी के समान ही बटलर की भी स्पष्ट मान्यता है कि वे सभी आवेग, जिन्हें ठीक प्रकार से स्वाभाविक कहा जा सकता है और वे सभी तथ्य, जो कि मानव प्रकृति की योजना और निर्माण के मौलिक तत्त्व हैं, अपनी क्रियाशीलता का एक समुचित क्षेत्र रखते हैं। यह बात उन आवेगों के बारे में भी सत्य है, जो कि हानिकारक है, वह उन्हें दो भागों में विभाजित करता है- (1) केवल वह मूल स्वाभाविक रोष (नाराजगी) जो कि उसके अनुसार किन्हीं कारणों से उद्भूत तात्कालिक अनिष्ट से आत्मरक्षण करने के लिए सहायक होता है और (2) स्वेच्छिक रोष (नाराजगी), जिसका मुख्य विषय बुराई और अन्याय है, जो कि मात्र हानि पहुंचाने से भिन्न है। यह ऐच्छिक रोष अप्रसन्नता भी जब सम्यक् प्रकार से संयमित हो, तो सामाजिक दृष्टि से एक उपयोगी आवेग है और मात्र इतना ही नहीं वरन् न्याय के प्रभावशील प्रशासन के लिए अपरिहार्य है। यद्यपि यह अपेक्षा की जाती है कि न्यायाधीश अपराधी के अभियोग पर शांतचित्त से विवेकपूर्वक विचार कर निर्णय करें, फिर भी अनुभव यह बताता है कि वे ऐसा नहीं करते हैं। सही अर्थों में किसी प्रसंग से परे रोष ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसके कारण एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के प्रति दुर्भावनाओं का सूचक हो, उदाहरणार्थ, ईर्ष्या एक ऐसी श्रेष्ठता की इच्छा है, जो अपने साध्य के लिए एक बुरे साधन को ग्रहण कर लेती है। संक्षेप में, हमारी सभी प्राकृतिक क्षुधाएं, आवेग और अनुराग यद्यपि अपने तात्कालिक लक्ष्यों की दृष्टि से अलग अलग होते हैं, फिर भी आत्महित और परोपकार-दोनों के द्वारा अपने अंदर वैयक्तिक और सामाजिक हित की किसी सीमा तक अभिवृद्धि करने की प्रवृत्ति रखते हैं। यद्यपि उनका एक वर्ग, जिसमें शारीरिक क्षुधाएं निहित हैं, प्राथमिक रूप से वैयक्तिक हित की ओर प्रवृत्त

होता है, जबकि दूसरा वर्ग अर्थात् श्रद्धा की भावना एवं सामाजिक प्रेम, जो कि सामाजिक हित के अनुराग से भिन्न हैं और सफल दुर्गुणों के प्रति रोष, प्रथमतया लोकहित की और प्रवृत्त होते हैं। यह सब कर्म के उन प्राकृतिक प्रेरकों के बारे में है, जिनके नियमन की आवश्यकता है, किंतु स्वभाविक नियामक सिद्धांतों के बटलर के दृष्टिकोण को निश्चित कर पाना अधिक कठिन है। उसके प्रथम उपदेश (सरमन) में हमें ऐसे तीन सिद्धांतों अर्थात् आत्मप्रेम, परोपकारिता और अंतर्विवेक की सूचना मिलती है। इनमें से प्रथम दो, आवेगों के उन दो वर्गों पर शासन करते हैं, जिनकी क्रमशः आत्महित और लोकहित की ओर प्राथमिक प्रवृत्ति रहती है, जबकि अंतर्विवेक या सद-असद का विवेक सर्वोच्च रूप से सभी का नियामक है, किंतु बटलर के कथनों की निकटता से समीक्षा करते हुए यह देखा जा सकता है कि जिसे वह परोपकार के प्रत्यय के अंतर्गत लेता है, वह निश्चित ही सामान्य शुभ की इच्छा नहीं है, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के प्रति अनुराग का एक प्रकार है। यदि मानव जाति में मित्रता की कोई स्ववृत्ति है, यदि पैतृक या पितृसुलभ वात्सल्य के रूप में सहानुभूति नामक कोई चीज है अथवा मानव प्रवृत्ति में अनुराग का कोई तत्त्व है, जिसका विषय और उद्देश्य दूसरों का हित है, तो यही परोपकारिता भी है। सम्भवतया मानव-जाति के ऐसे सामान्य सुख या लोकहित के अस्तित्व के प्रति वह संदेहशील है, जो कि एक ओर विशेष प्रकार के स्नेहयुक्त अनुरागों[21] से और दूसरी ओर अंतर्विवेक से भिन्न हैं, अधिक निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि अपने समनस् के लेख के समय उसका झुकाव शेफ्ट्सबरी के इस दृष्टिकोण के प्रति नहीं था कि सम्पूर्ण समाज का सुख या हित ही आचरण का परम साध्य है। इसका समर्थन अंतर्विवेक करता है। वह कहता है कि मानव जाति एक बिरादरी है, हम सब एक-दूसरे के सम्बंधी हैं, हमारा एक सामान्य साध्य और सामान्य सामाजिक हित है, जिसके सम्पादन एवं अभिवृद्धि का दायित्व प्रत्येक सदस्य पर है और इन सबका योग ही नैतिकता है। किसी भी प्रकार से यह हचीसन के समान एक सामान्य नियामक सिद्धांत के रूप में सामान्य सुख के प्रति शांतभाव को स्वीकार नहीं करता है, जो कि उस व्यक्तिगत सुख के प्रति एक शांतभाव का समानांतर है, जिसे वह आत्मप्रेम कहता है। अब आत्मा के राज्य के दो प्राधिकारी अर्थात् अंतर्विवेक और बौद्धिक आत्मप्रेम शेष रहते हैं। जैसा कि आमतौर पर माना जाता है, बटलर का यथार्थ दृष्टिकोण यह नहीं है कि आत्मप्रेम स्वाभाविक रूप से ही अंतर्विवेक के अधीन है, कम से कम यदि हम इन दोनों के व्यावहारिक सम्बंधों की

अपेक्षा इनके सैद्धांतिक सम्बंधों पर विचार करें। वह इन दोनों को स्वतंत्र सिद्धांत मानता है और जहां तक वे प्राधिकार में एक दूसरे का सहयोग करते हैं, उस स्थिति में भी यह स्वाभाविक नहीं होगा कि उनमें से कोई भी एक दूसरे पर शासन करें। बौद्धिक आत्मप्रेम और अंतर्विवेक मानव प्रवृत्ति के सर्वोत्तम और मुख्य सिद्धांत है। क्योंकि कोई भी कार्य दूसरे सिद्धांतों का उल्लंघन करके भी यदि इन दोनों सिद्धांतों के आधार पर किया गया है तो वह मानव प्रकृति के अनुरूप ही होगा, किंतु यदि इनमें से किसी भी सिद्धांत का उल्लंघन करके किया गया है, तो वह मानव प्रकृति के प्रतिकूल हो जाएगा। वह इससे भी आगे बढ़कर यहां तक कहता है कि इन दोनों के बीच कभी भी कोई असंगति (विरोध) होना असम्भव है और यदि कभी कोई विरोध होता भी है, तो अंतर्विवेक के द्वारा उनमें समन्वय करना होगा, क्योंकि सुख और दुःख के हमारे विचार दूसरे सब विचारों से हमारे लिए निकटस्थ और अधिक महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि सद्गुण या नैतिक ईमानदारी या उचित या शुभ के प्रति अनुराग, वस्तुतः और प्रयत्नों में निहित नहीं है, तथापि जब भी हम शांति से बैठकर विचार करेंगे, हम इस या अन्य किसी प्रयत्न को अपने आप के प्रति तब तक न्यायपूर्ण सिद्ध नहीं कर पाएंगे, जब तक कि हमें यह विश्वास न हो जाए कि यह हमारे सुख के लिए है या कम से कम उसका विरोधी नहीं है[22], साथ ही यह भी कि अंतिम रूप से विचार व्यक्ति के हित के लिए ही होगा। यह बात शेफ्ट्सबरी के तर्कों में भी मान ली गई थी, यद्यपि औपचारिक रूप से उसके द्वारा ऐसा नहीं कहा गया। उनका सारा बल यद्यपि सद्गुण के निष्काम आवेग के लिए है, तथापि यहां वह एक प्रश्न उठाता है कि सद्गुण के लिए क्या आबंध (नैतिक बाध्यता) है और बुद्धि को इसे क्यों अंगीकार करना चाहिए? तब उसके लिए स्वहितवादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त इन प्रश्नों का उत्तर दे पाना कठिन है। उसका आबंध स्वहित का आबंध है और उसकी बौद्धिकता भी पूरी तरह आत्मप्रेम के लिए है[23], यद्यपि बटलर की मान्यता है कि उसने अंतर्विवेक की प्रामाणिकता को स्थान देकर शेफ्ट्सबरी के दृष्टिकोण की कमियों को दूर कर दिया है, साथ ही यह संशोधन उन संशयवादियों के लिए भी मूलतया महत्त्वपूर्ण है, जो कि इस संसार में सद्गुण की सुखात्मक प्रवृत्ति को नहीं मानते हैं। बटलर का विचार है कि यदि अंतर्विवेक की स्वाभाविक प्रामाणिकता को स्वीकार कर लिया जाए, तो ऐसा संशयी व्यक्ति भी धार्मिक अंकुश से स्वतंत्र सांसारिक हितों की अपेक्षा कर्तव्य के वरण के लिए बौद्धिक रूप से कोई संशय नहीं कर सकेगा, क्योंकि अंतर्विवेक के निर्देश स्पष्ट और निश्चित

होते हैं, जबकि स्वहितों की गणना मात्र संभावित निष्कर्ष ही दे पाते है और जहां दो प्रभु-सत्ताओं में विरोध हो, तो अधिक निश्चित आबंध (नैतिक बाध्यता) कम निश्चित आबंधों (नैतिक बाध्यताओं) को पूरी तरह समाप्त कर देंगे और उनका स्थान ले लेंगे[24]।

अब हम बटलर के नैतिक सिद्धांतों को सुरक्षित आशावाद पर आधारित कह सकेंगे। वह बताता है कि जब तक कि उनके विरुद्ध कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक यह मानना बौद्धिक है कि दो आंतरिक प्रभुसत्ताएं, जिनके अंतर्गत प्रकृति ने हमें रखा है संघर्षशील न होकर संगतिपूर्ण हैं और ऐसा प्रमाण प्रस्तुत कर पाना असम्भव है। उसका कारण स्वार्थवादी गणना की अपरिहार्य अनिश्चितता है। उसने सद्‌गुण की सद्‌गुणी व्यक्ति के सुख के साथ परम संगति को स्वीकार करने के लिए एक मनोवैज्ञानिक कारण हमारी अच्छी और बुरी इच्छाओं की विवेक बुद्धि के रूप में खोजा है, जो कि एक निर्विवाद प्राकृतिक साहचर्य के रूप में हमारे नैतिक शुभ और अशुभ के विवेक की सहगामी होती है। मानव प्रकृति के नियामक सिद्धांतों के द्वैत के सम्बंध में बटलर का कथन नैतिक चिंतन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है, क्योंकि यह हमें आधुनिक आंग्ल नैतिक चिंतन और प्राचीन ग्रीक रोमन नैतिक चिंतन के बीच कहे हुए उस महत्वपूर्ण मौलिक अंतर को स्पष्ट करता है, जो कि बहुत ही आश्चर्यजनक है। एक ओर बटलर का प्रकृति के अनुसार जीवन जीने का सामान्य सिद्धांत स्टोइकवाद से लिया गया है, तो दूसरी ओर आवेगों पर नियंत्रण रखने वाली मानव प्रकृति की धारणा स्पष्ट रूप से प्लेटोवादी है। किंतु प्लेटोवाद, स्टोइकवाद एवं सामान्य रूप से ग्रीक नैतिक चिंतन में यद्यपि बुद्धि की नियामक शक्ति को देखा जा सकता है, तथापि वहां बुद्धि के अंतर्गत केवल एक ही नियंत्रक और शासन शक्ति को स्वीकार किया गया है, जबकि आधुनिक नैतिक चिंतन में बुद्धि दो रूपों में कार्य करती है, एक तो यह सर्वमंगलकारी बुद्धि के रूप में और दूसरे स्वहितकारी बुद्धि के रूप में। इस प्रकार बुद्धि अंतर्विवेक और आत्मप्रेम- इन दो रूपों में पाई जाती है। यह द्वैतवाद क्लार्क के विवेकपूर्ण आचरण के सिद्धांत में अस्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस द्वैत को शेफ्ट्सबरी के सद्‌गुणों के आबंध में भी अव्यक्त रूप से देखा जा सकता है, किंतु इसकी स्पष्ट स्वीकृति बटलर के सिद्धांतों में मिलती है, जिसका पूर्व अनुभाव ओत्सटन के (1722)

ग्रंथ में अधिक निकटता के साथ मिलता है।

ओलस्टन (1659 से 1722)

ओलस्टन के ग्रंथों में प्रथम बार नैतिक शुभ और प्राकृतिक शुभ (सुख) दोनों को अलग-अलग रूप में रखने बौद्धिक प्रयास एवं खोज का विषय माना गया है और उन दोनों के बीच की संगति को नैतिक ज्ञान का विषय न बताकर धार्मिक आस्था का विषय बताया गया है। नैतिक बुराई एक सत्य तर्कवाक्य का व्यावहारिक व्याघात है। ओलस्टन का यह सिद्धांत क्लार्क के सिद्धांत के सर्वाधिक विरोधाभास-पूर्ण भाग से अधिक समानता रखता है। इसे बटलर की दृढ़ सामान्य बुद्धि के द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सकता है, किंतु ओलस्टन की सुख या आनंद की एक ऐसे न्याय एवं वांछनीय साध्य के रूप में व्याख्या, जिसे प्रत्येक बौद्धिक प्राणी को प्राप्त करना चाहिए, स्वाभाविक नियंत्रक आवेग के रूप में आत्मप्रेम की बटलर की धारणा से पूरी तरह समानता रखती है, जबकि उसका नैतिक गणित, जिसके द्वारा वह सुख और दुःख की तुलना करता है और सुख के प्रत्यय को मात्रात्मक बताने का प्रयास करता है, बेन्थम के सिद्धांत का ही पूर्वाभास है।

यदि हम अंतर्विवेक और बौद्धिक आत्म-प्रेम के प्राधिकार के द्वैत की न्यायपरकता पर, उनकी प्रमाण सम्बंधी प्राकृतिक मर्यादाओं से ऊपर उठकर विचार करें, तो हम बटलर के विचारों के एक ऐसे पहलू पर पहुंचते हैं, जो कि अपूर्ण रूप से विकसित या अभिव्यक्त हुआ है। वस्तुतः, आत्म-प्रेम की युक्ति-युक्तता के सम्बंध में वह किसी भी व्याख्या की आवश्यकता को शायद ही स्वीकार करता है। वह केवल यह कहता है कि यह मनुष्य के बुद्धिमान् प्राणी होने के नाते अपने स्वयं के हितों और सुखों के सम्बंध में विचार करते हुए उसमें निहित है और इसीलिए स्वहित या अपना स्वयं का सुख, एक आबंध के रूप में अभिव्यक्त होता है। अंतर्विवेक की युक्ति युक्तता एक अलग प्रश्न है। यहां उसके सामने क्लार्क जैसे नीतिवेत्ताओं के ग्रंथ है, जिसमें नैतिक सिद्धांतों का पूरी तरह से बौद्धिक सहजज्ञान (स्वयं सिद्धि) के रूप में विवेचित करने का प्रयास किया गया है और उन्हें गणित की स्वयंसिद्धियों (सहजज्ञान) के रूप में बताया गया है। बटलर ने तर्क की इस प्रक्रिया को प्रमाणिक माना है। यद्यपि उसका अनुसरण नहीं किया है। यह क्लार्क के साथ इस बात में सहमत है कि सभी संकल्पों के पूर्व भी कार्यों में नैतिक संगति अथवा असंगति रही हुई है, जो कि दैवीय

आचरण का निर्धारण करती है। नैतिक कर्तव्य अपनी परिस्थितियों के आधार पर उत्पन्न होते हैं और नैतिक नियम वे नियम हैं जिनमें बुद्धि परिलक्षित होती है। इसीलिए दुर्गुण वस्तुओं की प्रकृति और वस्तु-विवेक के विरोधी है। यह कार्य उस अर्थ से बिलकुल भिन्न है कि दुर्गुण अपने स्वयं की प्रकृति का उल्लंघन या विनाश करता है, तथापि वह नैतिक नियमों की इस संदर्भित निरपेक्ष युक्ति-युक्तता को सिद्ध करने के लिए कोई प्रयास नहीं करता है। उसकी पद्धति मनोवैज्ञानिक चिंतन के द्वारा अंतर्विवेक के आदेशों को जान लेना है, न कि इन आदेशों की सहज बोधता या नैतिक स्वयं-सिद्धता को दिखाना है। अंततोगत्वा उसकी यह पद्धति उसे नैतिक संकाय के निर्देशों और मात्र सामान्य सुख के प्रेरक विचार और प्राप्त निष्कर्षों के बीच एक विवेक के तत्त्व को स्वीकार करवा देती है। यहां हमने अंततोगत्वा शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि यह जान लेना रुचिकर होगा कि बटलर के नैतिक विचारों के विकास में सहजज्ञानवादी और उपयोगितावादी नैतिकता का वह विरोध क्रमशः स्पष्ट हो जाता है, जिसने तत्कालीन नैतिकता सम्बंधी वाद-विवादों में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। हमें ध्यान रखना होगा कि प्रारम्भिक लेखकों में यह विरोध पूर्णतया अव्यक्त ही है। क्लार्क कम्बरलैण्ड के साथ पूर्णतया सहमत है। शेफ्टस्बरी भी यह मानता है कि नैतिक इंद्रिय सामान्य अवस्था में शुभ या प्रजाति के सुख में सहायक कार्यों को तत्काल स्वीकार कर लेती है। पूर्व उद्धृत बटलर के नौवें सरमन में भी अंतर्विवेक और परोपकारिता के बीच के व्यावहारिक विभेद की उपेक्षा ही की गई है, यद्यपि उसके बारहवें सरमन में प्रारम्भिक रूप में इसका संकेत किया गया है, किंतु सरमन्स के दस वर्ष बाद 1736 में प्रकाशित एक ग्रंथ के साथ संलग्न सद्गुण सम्बंधी निबंध में इसे व्यक्त रूप से और बलपूर्वक स्पष्ट किया गया है। यहां यह स्वीकार करता है कि परोपकार या परोपकार की अनुपस्थिति पर एकाकी दृष्टि से विचार किया जाए, तो वह किसी भी रूप में सद्गुण और दुर्गुण का समग्र नहीं है। क्योंकि हम असत्य, हिंसा और अनुसंचित हिंसा की निंदा करने तथा दूसरों के प्रति किए गए परोपकार की प्रशंसा के करने में इस बात का विचार नहीं करते हैं कि कौनसा आचरण सुख या दुःख के संतुलन को उत्पन्न करने में सक्षम है। यहां तक वह एक भ्रांति के रूप में ऐसा विरोधी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जिससे अधिक खतरनाक अन्य कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि यह निश्चित है कि अन्याय, व्यभिचार, हत्या, प्रवंचना और यहां तक कि अत्याचार की दिल दहलाने वाली कुछ घटनाएं भी अनेक संभावित

स्थितियों में वर्तमान में भी दुःख का अति-आधिक्य उत्पन्न करने वाली प्रतीत नहीं होती है, यद्यपि किन्हीं अवसरों पर वे इसकी विरोधी भी प्रतीति हो सकती हैं।

शेफ्ट्सबरी के सिद्धांत का विकास एवं व्यवस्थापन

बटलर इस सम्बंध में पूर्ण आश्वस्त नहीं है कि किसी भी लेखक ने सद्गुण और परोपकार के बीच उस पूर्ण संगति को स्वीकार किया हो, जिसका उसने पूर्वोक्त उद्धरण में खण्डन किया है, अपितु वह यह सोचता है कि कुछ प्रकाण्ड विद्वानों ने भी इसे इस प्रकार से अभिव्यक्त किया है कि एक साधारण पाठक के लिए खतरे के अवसर उत्पन्न हो सकते हैं और वह उस खतरनाक गलती में गिर सकता है, जिसका कि इसने निर्देश किया है। हम यह बात मान सकते हैं कि प्रकाण्ड लेखकों की ओर किया गया यह संकेत सेफ्ट्सबरी की ओर हो सकता है। इसके साथ ही हम इस संकेत का दूसरा निर्देश हचीसन की ओर भी मान सकते हैं।

हचीसन (1694-1747)

हचीसन ने अपने ग्रंथ में सद्गुण का परोपकारिता के पूर्ण तादात्म्य बताया है। हचीसन के मरणोपरांत प्रकाशित इस ग्रंथ में (1975 ई.) इस तादात्म्य को किंचित् रूप से स्पष्ट किया गया है। उस ग्रंथ में सेफ्ट्सबरी के सामान्य दृष्टिकोण को ही पूरी तरह से अन्य अनेकों नए मनोवैज्ञानिक विभेदों के स्पष्टीकरण के द्वारा विकसित किया गया है। शांत परोपकारिता का एवं इसके साथ ही साथ बटलर के बाद से शांत-आत्मप्रेम का भी वैयक्तिक या सामाजिक भावावेशों से अंतर किया गया है। हचीसन नैतिक इंद्रिय के नियामक एवं नियंत्रक कार्य पर अधिक बल देने में बटलर का अनुसरण करता है, किंतु फिर भी वह करुणाभाव[25] को नैतिक अनुमोदन का मुख्य विषय मानता है। उसने शांत एवं व्यापक अनुराग को विक्षुब्ध एवं संकुचित भावों की अपेक्षा वरेण्य माना है। वह यह मानता है कि सर्वोत्तम मानव स्वभाव सर्वाधिक अनुमोदन को स्वाभाविक रूप से प्राप्त कर लेता है। वह या तो शांत एवं स्थायी सार्वलौकीक सुख का ऐसा संकल्प है, जिसके द्वारा एक व्यक्ति संवदेनशील प्राणियों के उच्चतम संभावित प्रकार के सर्वोच्च आनंद की इच्छा करने हेतु तत्पर होता है। यह नैतिक अच्छाई के प्रति प्रेम और नैतिक अच्छाई की इच्छा है जो कि व्यक्ति में निहित उस सार्वलौकिक सुख के संकल्प से अभिन्न है, जिसका कि वह मुख्य रूप से अनुमोदन करता है। ये दोनों सिद्धांत एक दूसरे के विरोधी नहीं है और इसलिए इनमें से कौन

उच्च है, इसका निश्चय करने की कोई व्यावहारिक आवश्यकता नहीं है। हचीसन ने इन्हें आपस में सुसंगत मानकर इस झगड़े को ही समाप्त कर दिया है। केवल गौण अर्थ में इसका अनुमोदन किन्हीं निश्चित अवधारणाओं से और प्रत्यक्ष रूप से इसका अनुमोदन सद्गुणात्मक अनुरागों से सम्बंधित योग्यताओं एवं स्वभावों से होता है, जैसा कि निष्पक्षता, सत्यवादिता, सहनशीलता, विनयशीलता आदि सद्गुणों में देखा जाता है। यहां निम्न स्तर पर विज्ञानों और कलाओं के साथ-साथ शारीरिक कुशलताओं और उपलब्धियों को रखा गया है। यह अनुमोदन अपने वास्तविक रूप में नैतिक नहीं है, किंतु यह केवल शिष्टाचार और शालीनता के बोध से संबंधित है, जिसे विनयशीलता के साथ साथ नैतिक इंद्रिय से अलग किया जाना चाहिए। हचीसन की मान्यता में शांत-आत्म-प्रेम का स्वतः नैतिक अनुमोदन निष्पक्ष नहीं है। वे अनुराग जो, कि पूरी तरह से आत्मप्रेम से निकले हैं, तो भी इनमें परोपकारिता के अभाव को प्रमाण नहीं माना गया है। इनका दूसरों पर हानिकारक प्रभाव नहीं है, ये नैतिक इंद्रिय से पूर्णतया भिन्न है। इसके साथ ही वह आनंद के घटकों का सावधानी पूर्वक विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है[26]। ताकि यह बताया जा सके कि व्यक्ति के हितों के लिए एक यथार्थ सम्मान सदैव ही नैतिक इंद्रिय और परोपकारिता के अनुरूप है। शेफ्ट्सबरी की स्वार्थ (स्वहित) और परार्थ (लोकहित) के बीच संगति की धारणा को स्वीकार करते हुए भी हचीसन परोपकार की भावना की निष्कामता को पूरी तरह से स्थापित करने के लिए अधिक सजग है शेफ्ट्सबरी का निष्कर्ष यह है कि परोपकार की भावना साधारण अर्थ में स्वार्थपरक नहीं है, किंतु उसने इस धारणा पर बल दिया है कि सुख का सुखद कार्यों से अवियोज्य संबंध है। यहां वह एक सूक्ष्म स्वहितवादी सिद्धांत की ओर निर्देश करता है, जिससे वह तब तक नहीं बच सकता, जब तक कि वह यह मानता है कि आंतरिक पुरस्कार ही परोपकारी व्यक्ति की वास्तविक प्रेरणा का सर्जक है। इस सम्बंध में हचीसन का कहना यह है कि निस्संदेह प्रेम के संवेग की यह प्रसन्नता (आनंद) ही इस परोपकार की वृत्ति को जारी रखने एवं इसका विकास करने के लिए एक प्रेरक है, किंतु यह सुख केवल इसकी इच्छा करने मात्र से, दूसरे सुखों की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। केवल दूसरों के कल्याण की निष्काम भावना के सृजन एवं अनुसरण की अप्रत्यक्ष (परोक्ष) प्रक्रिया के द्वारा ही इसको प्राप्त किया जा सकता है। इस निष्काम भावना को परोपकार के करने के लिए मिलने वाले सुख की कामना (इच्छा) से भिन्न बताया गया है। वह इस बात को स्पष्ट

करता है कि अक्सर मृत्यु के सन्निकटता होने पर व्यक्ति में उन लोगों के कल्याण की इच्छा, जिन्हें वह प्यार करता है, घटने की अपेक्षा बढ़ जाती है। यह कठिन परीक्षण प्रेम की निष्कामता को सिद्ध करता है। इसके साथ सहमति परक वे साध्य जोड़ देने से कि सहानुभूति और प्रशंसा, जो सामान्यतया आत्मत्याग के आधार बनते हैं, इस विश्वास पर आधारित है कि ये केवल परिष्कृत आत्मोपलब्धि से भिन्न वस्तु है, अब इस बात पर विचार करना शेष रहता है कि क्या भावना (नैतिक) अनुमोदन का वास्तविक विषय है? इस सिद्धांत के द्वारा हम किस प्रकार बाहरी कार्यों का निर्धारण या निषेध करने वाले नैतिक नियमों का या प्राकृतिक नियमों का निगमन कर सकते हैं? यह स्पष्ट है कि सामान्य सुख के संकल्प के प्रेरक सभी कार्य यदि निष्काम परोपकार की भावना से किए जाते हैं तो वे हमारे उच्चतम अनुमोदन की अपेक्षा करते हैं। किंतु यदि वे (उस भावना) से नहीं किए जाते, तो प्रश्न उठता है, क्यों नहीं किए जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हचीसन वास्तविक शुभत्व और आकारिक शुभत्व के बीच विद्वतापूर्ण ढंग से एक विभेद रेखा खींचने का प्रयत्न करता है। वह कहता है कि एक कार्य तब ही वास्तविक शुभ होगा, जब कि वह समाज व्यवस्था के हित में वस्तुतः प्रवृत्त होता है, जहां तक कि हम उसकी प्रवृत्ति का मूल्यांकन कर सकते हैं अथवा उस समाज तंत्र के साथ संगतिपूर्ण होने पर वह कुछ अंश में शुभ होगा, फिर चाहे कर्ता की भावनाएं कुछ भी हो। एक कार्य तब आकारिक शुभ होगा जबकि वह यथार्थ अनुपात में शुभ भावना से युक्त होगा। इस विभाजन की धुरी के द्वारा हचीसन शेफ्ट्सबरी के दृष्टिकोण से परवर्ती उपयोगितावादी दृष्टिकोण की ओर अग्रसर होता है। जहां तक किसी कार्य के भौतिक शुभत्व का प्रश्न है वह स्पष्ट रूप से पूरी तरह उस दृष्टिकोण को स्वीकार करता है, जिसे बाद में बेंथम ने अपना मुख्य सिद्धांत बनाया है, वह यह मान लेता है कि वही कार्य अच्छा है, जिससे अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख की प्राप्ति होती है और वह कार्य बुरा है, जिससे अधिकतम संख्या के अधिकतम दुःख के अवसर उपस्थित होते हैं। यद्यपि बाह्य अधिकारों एवं कर्तव्यों के सम्बंध में उसका सिद्धांत अपनी पद्धति में स्पष्टता और सूक्ष्मता की दृष्टि से पेले और बेथम से निश्चित ही निम्न स्तर का है, किंतु मौलिक रूप से उनसे भिन्न नहीं है। मात्र यही कि व्यक्तियों के सुख में प्रत्यक्ष रूप से सहायक कार्यों पर अधिक बल देता है और उनकी सामान्य शुभ सम्बंधी प्रवृत्तियों का अनुमोदन केवल पूरक रूप में अथवा प्रतिबंधात्मक रूप से करता है। इसमें यह भी देखा जाता है कि क्या वह राज्य

के निर्माण के स्वाभाविक ढंग के सम्बंध में सामाजिक संविदा के सिद्धांत को स्वीकार करता है और यह कि दूसरे के साथ मिलाकर कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। दोनों के प्रति आबंध (बाध्यता) का हमारा बोध समान रूप से समाज के लिए उनकी महत्वपूर्ण उपयोगिता के आधार पर स्थित है। नैतिक आबंध सम्बंधी इस निष्कर्ष में ही हचीसन और ह्यूम[27] के नैतिक सिद्धांतों का मौलिक अंतर निहित है, हचीसन आनंद की प्राप्ति में सहायक होने की क्षमता को ही मौलिक या वास्तविक शुभत्व का प्रमापक मानकर शेफ्ट्सबरी के उस दृष्टिकोण का समर्थन करता है जिसके अनुसार मौलिक अनुमोदन के वास्तविक विषय अभिरुचि है न कि कार्य का परिणाम इसके साथ ही वह कार्य उसके अपने वैयक्तिक गुणों में परोपकार की भावना से युक्त है या नहीं? यही बात आवश्यक रूप से हमें कार्यों या गुणों की उपयोगिता या विनाशक प्रवृत्ति के सम्बंध में समुचित निर्देश देगी, किंतु वह केवल किसी बात के नैतिक अनुमोदन या निंदा के लिए पर्याप्त नहीं है। ह्यूम बताता है कि किसी अपराध का सारतत्व कभी भी किसी ऐसे रूप में नहीं है कि उसे बुद्धि के द्वारा खोजा जा सकेद्ध उदाहरणार्थ- जब कृतघ्नता (भलाई के बदले बुराई) की निंदा करते हैं, तो केवल अच्छाई और बुराई का विरोध ही हमारी अस्वीकृति का आधार नहीं है। यदि ऐसा हो, तो हम बुराई के बदले भलाई को भी समान रूप से अस्वीकृत करते हैं। बुद्धि के द्वारा जब किसी कार्य की परिस्थितियों एवं परिणामों का निश्चय कर लिया जाता है, तो मन उसके सम्बंध में कोई नैतिक निर्णय लेता है, किसी-किसी नए तथ्य या सम्बंध को खोजने के लिए अग्रसर नहीं होता है। अक्सर होता यह है कि उन ज्ञान सम्बंधों और परिस्थितियों पर ध्यान देने से मन में श्रद्धा या तिरस्कार अनुमोदन पसंदगी या नापसंदगी के भाव की अनुभूति होती है। यह मन में ठीक वैसे ही होता है, जैसे प्राकृतिक सौन्दर्य बोध में होता है। यद्यपि किसी सुंदर वस्तु की सुंदरता उसके अंगों की अनूपता, सम्बंध एवं स्थितियों पर निर्भर होती है, फिर भी कोई वस्तु किसी समुचित रूप से परिष्कृत संवेदनशील बौद्धिक मनस् के समक्ष प्रस्तुत की जाती है, तो वह सुंदर वस्तु किसी अंग या घटक का परिणाम न होकर उसकी समग्रता का परिणाम होती है।

प्रश्न यह है कि किस प्रकार की अनुभूति नैतिक अनुमोदन का वास्तविक मूलाधार है? दार्शनिकों ने इस मूलाधार को पूरी तरह आत्मप्रेम में खोजने का प्रयास किया है, किंतु ह्यूम मानता है कि इस दृष्टिकोण को हमारी नैतिक भावनाओं के संदर्भ

में निर्णायक प्रयोगों के द्वारा अस्वीकार किया जा सकता है, उदाहरणार्थ- हम अक्सर दूरस्थ देशों एवं सुदूर अतीत में किए गए सद्गुणात्मक कार्यों की प्रशंसा करते हैं और एक विरोधी द्वारा किए गए कठिन दुरूह साहसपूर्ण कार्य का भी अनुमोदन करते हैं, यद्यपि हो सकता है कि उसके परिणाम हमारे विशेष हितों के लिए हानिकारक हो। संक्षेप में, हमें दूसरे व्यक्ति के सुख या दुःख के साथ एक सहचारी भाव (सहानुभूति) को स्वीकार करना होगा, जो कि मानव प्रकृति का एक ऐसा सिद्धांत है, जिससे अलग होकर हम किसी भी अधिक सामान्य सिद्धांत को प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते हैं। यह सहानुभूति ही उन विभिन्न गुणों के सम्बंध में हमारे अनुमोदन की सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत कर सकती है, जो वैयक्तिक सद्गुण का सामान्य प्रत्यय बनाते हैं। सामान्यतया सद्गुणों के रूप में प्रकाशित इन गुणों के सर्वेक्षण के द्वारा ह्यूम सहानुभूति की पद्धति से इसे सिद्ध करने का प्रयास करता है। वह सदैव ही इसे सद्गुणी कर्त्ता या दूसरे लोगों के लिए या तो उपयोगी या प्रत्यक्षतः सहमति (अनुमोदन) के योग्य मानता है। वह यह मानता है कि लोकहित और उपयोगिता पर विचार विमर्श उस नैतिक अनुमोदन का एकमात्र स्रोत है, जो कि कर्त्तव्यपरायणता, न्याय, सत्यवादिता, ईमानदारी और दूसरे महत्त्वपूर्ण सद्गुणों को दिया जाता है। साथ ही साथ, सहानुभूति राज्य-भक्ति सम्बंधी कर्तव्यों का मूल आधार भी है। वह न्याय के निदर्शक वादों में यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि विधि सम्बंधी आबंध मानव प्रकृति में निहित आवेगों के यथार्थ संतुलन और उन विशेष अवस्थाओं और स्थितियों जिनमें व्यक्तियों को रखा गया है, पर पूर्णतया निर्भर है, क्योंकि इसके विपरीत किसी भी विचारणीय स्थिति में मनुष्य की स्थिति अतिबाध्यता या अति अनिवार्यता को उत्पन्न करेगी अथवा न्याय को निरर्थक बताकर मानव लक्ष्य में पर्याप्त उदारता एवं सदयता का रोपण या पूर्ण क्रूरता और घृणा का रोपण करेगी इस रूप में आप उसके सारतत्व को पूरी तरह समाप्त कर मानव जाति पर से उसकी आबन्धात्मकता को समाप्त कर देंगे।

इसी प्रकार यदि हम उन विशेष नियमों का परीक्षण करें, जिनके द्वारा न्याय का निदर्शन और सम्पत्ति के स्थायित्व का निर्धारण किया जाता है, तो हम पाएंगे कि लोकोपयोगिता ही उनकी प्रमाणिकता का आधार है, उदाहरणार्थ–कौन इस बात का ध्यान नहीं रखता है कि किसी मनुष्य की कला एवं परिश्रम से जो कुछ भी निर्मित या उत्पन्न किया जाए अथवा कोई सुधार किया जाए, उस वस्तु को हमेशा

उसके निर्माण लिए सुरक्षित रखा जाना चाहिए, ताकि ऐसी उपयोगी आदतों एवं कौशल को प्रोत्साहन दिया जा सके। इसी प्रकार इसे कौन नहीं मानता है कि उपयोगिता के उद्देश्य के लिए सम्पत्ति का उत्तराधिकार व्यक्ति के बच्चों को एवं उसके सम्बंधियों को दिया जाना है चाहिए यह बात भी कौन नहीं मानता है कि सहमति से सम्पत्ति का हस्तांतरण किया जा सकता, जिससे वाणिज्य एवं व्यापार का संवर्द्धन हो, जो कि मानव जाति के लिए बहुत ही उपयोगी है, साथ ही यह कि संविदाओं एवं प्रतिज्ञाओं का सावधानीपूर्वक पालन किया जाए ताकि पारस्परिक विश्वास एवं निष्ठा बनी रहे। जिससे मानव जाति के सामान्य हितों का बहुत अधिक विकास किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि हम इन बातों को छोड़कर चलें, तो सभी या अधिकांश सम्पत्ति या न्याय सम्बंधी विधियां केवल अस्वाभाविक, सनकपूर्ण और अंधविश्वासों से अधिक प्रतीत नहीं होंगी। वस्तुतः, कभी कभी विशेष नियम विवेकाधीन होते हैं, क्योंकि जब कभी समाज के हितों के लिए किसी नियम की आवश्यकता होती है, तो हम यह तय नहीं करते हैं कि कौन-सा विशेष नियम बनाया जाना चाहिए, अपितु उस परिस्थिति में कुछ सरसरी तौर से कुछ तत्त्व ले लिए जाते हैं, ताकि उस अस्पष्टता तथा तटस्थता से बचा जा सके, जिसके कारण सतत रूप से मतभेद उठ सकते हैं। केवल इसी रूप में हम नागरिक नियमों में होने वाले उन परिवर्तनों की उचितता को सिद्ध कर सकते हैं, जो कि प्राकृतिक न्याय के नियमों को प्रत्येक समाज की विशेष सुविधाओं के अनुसार विस्तृत एवं सीमित करते हैं तथा परिष्कृत एवं रूपांतरित करते है, ह्यूम यह मानता है कि उसके सिद्धांत के सम्बंध में उस सुस्पष्ट तथ्य के आधार पर संदेह हो सकता है कि हम अन्याय की तब भी निंदा करते हैं जब कि हम उसके हानिकर परिणाम के सम्बंध में प्रत्यक्ष रूप से सजग नहीं होते हैं, किंतु वह यह मानता है कि इसकी व्याख्या शिक्षा एवं अर्जित आदतों के प्रभाव के आधार पर की जा सकती है। वह यह भी कहता है कि किन्हीं स्थितियों में विचार सहचर्य के द्वारा वे सामान्य नियम जिनके आधार पर हम प्रशंसा या निंदा करते हैं, जब पहली बार बनते हैं, तो उपयोगिता के सिद्धांत से भी अधिक व्यापक होते हैं[28]।

यद्यपि ह्यूम की दृष्टि अनेक महत्वपूर्ण सद्गुण का मूल आधार एवं दूसरे व्यक्तियों से सम्बंधित अच्छाइयों के विशेष भाग का मूल स्रोत उपयोगिता ही है फिर भी उपयोगिता नैतिक भावनाओं[29] का पूर्ण आधार नहीं है। प्रफुल्लता, भद्रता, विनम्रता आदि ऐसे दूसरे भी मानसिक गुण हैं, जो कि किसी उपयोगिता या शुभ में सहायक

होने की प्रवृत्ति के बिना भी उनके धारक व्यक्ति को आकर्षित करते है, और दूसरे व्यक्ति में इनके द्वारा प्रदत्त तात्कालिक सुख के प्रति सहानुभूति के द्वारा अनुमोदन की उत्तेजना प्रदान करते हैं। चाहे कोई गुण कितना ही उपयोगी हो, परोपकार के रूप में वह अंशतः अपनी प्रत्यक्ष अनुमोदनशीलता के द्वारा ही मान्य किया जाता है। जैसा कि निंदा का मृदुल तरीका में देखा जाता है, जिसमें जब कोई व्यक्ति सीमा उल्लंघन कर दूसरे का बहुत अधिक ध्यान रखता है, तो हम कहते हैं कि यह बहुत ही भला है ऐसी स्थिति में परोपकार उपयोगी का विरोधी होता है और हम उसकी निंदा करने से बाज नहीं आते हैं, किंतु उसकी क्रियाशील सदयता (कोमल हृदयता) मन को इतना जीत लेती है कि हम उसकी आलोचना इस प्रकार करते हैं कि उस आलोचना के अंतर में अनेक प्रशस्तियों की अपेक्षा भी अधिक समादर भाव होता है[30]।

पुनश्च, उपयोगिता जो कि अनुमोदन का स्रोत है, आवश्यक रूप से लोक-हित नहीं है। वस्तुतः, अपने सामान्य सिद्धांत के लिए ह्यूम के मौलिक एवं सूक्ष्म तर्क उन गुणों से सम्बंधित हैं, जो उनके धारक के लिए प्रत्यक्ष रूप से उपयोगी होने से पसंदगी के विषय है। वह कहता है कि संसार का सर्वाधिक मानवद्वेषी व्यक्ति, चाहे वह कैसे भी अनिष्टकर संदेह से युक्त होकर सद्गुणों को एक पवित्र ढोंग मानते हुए उन्हें अस्वीकार करे, वह भी न तो सावधानी, साहस, परिश्रम, सादगी एवं विवेकबुद्धि आदि गुणों के अनुमोदन से वस्तुतः इंकार करता है और न संयम, मद्रता, धैर्य, अध्यवसायिता, विचारशीलता, युक्तिसंगत-मार्गदर्शन, सजगता, शीघ्र ही निर्णय-क्षमता (उत्पाद-बुद्धि) अभिव्यक्ति की सुविधा आदि के महत्त्व को ही अस्वीकार करता है। इससे यही प्रमाणित होता है कि इन विशेषताओं की सद्गुणात्मकता मुख्यतया हमारी दृष्टि में इनमें अपने धारक के हितों की पूर्ति करने की प्रवृत्ति को देख पाने के कारण ही है, इसलिए मानव द्वेषी व्यक्ति भी इनकी प्रशंसा में वस्तुतः उसी निःस्वार्थ सहानुभूति को ही अभिव्यक्त करता है, जिसके अस्तित्व के सम्बंध में शंका करता है।

जहां तक नैतिक शक्ति को क्रियान्वित होने की अपेक्षा से विमर्शात्मक या चिंतनपरक माना जाता है, वहीं तक इसमें वस्तुतः वहां दृष्टिबिंदु प्रस्तुत है, जिससे ह्यूम इसे मुख्यतया देखता है। वह भी हचीसन के समान बाह्य कर्त्तव्यों की रूपरेखा देने का प्रयत्न नहीं करता है और न उन विभिन्न गुणों में, जिनको नैतिक भावना अनुमोदन करती है के नैतिक मूल्यों में श्रेणी या क्रम का निर्धारण करता है। हम यह भी देखते हैं कि सद्गुणात्मक आचरण की वास्तविक निष्कामता के प्रश्न पर भी ह्यूम का दृष्टिकोण

अधिक स्पष्ट नहीं है। यह ध्यान देने योग्य है कि अपने प्रारम्भिक ग्रंथों में वह उस शांत एवं स्थाई सार्वलौकिक शुभ संकल्प की जन सामान्य में उपस्थिति को अस्वीकार करता है, जिसे हचीसन ने सामान्यतया नैतिकता का सर्वोच्च प्रेरक माना था। सामान्यतया यह माना जा सकता है कि वैयक्तिक गुणों, सेवाओं अथवा सम्बंधों से स्वतंत्र मानवता के प्रति प्रेम की ऐसी कोई भावना (आवेग) मानव मस्तिष्क में नहीं है, न ही उस सुख के प्रति सहानुभूति है, जिसे उसका परोपकारी संवेग प्रदान करता है[31], इसलिए लोकोपकार (जनकल्याण) या मानव जाति के हितों का सम्मान न्याय का मौलिक प्रेरक नहीं हो सकता। अपने परवर्ती ग्रंथों में भी वह अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्टतया वापस नहीं लेता है, किंतु वह यह कहता है कि नैतिक अनुमोदन (पसंदगी) मानवता और परोपकार से निगमित है। बटलर के पश्चात् वह स्पष्टतया यह स्वीकार कर लेता है कि हमारे परोपकारी आवेगों में एक तटस्थ तत्व निहित है (जैसे कि भूख, प्यास, प्रतिष्ठा, प्रेम आदि दूसरे आवेगों में होता है), दूसरी ओर वह इस बात पर भी विचार नहीं करता है कि क्या नैतिक भावनाएं या रुचियां किसी कार्य की प्रेरक हो सकती हैं? सिवाय इसके कि वे सुख या दुःख देती हैं और किसी प्रकार से आनंद या संकट की निर्माता हैं, यद्यपि इन दृष्टिकोणों की संगति बैठाना कठिन है, किंतु किसी भी कीमत पर ह्यूम पूरी तरह यह मानता है कि बुद्धि किसी कर्म की प्रेरक नहीं है, सिवाय इसके कि यह क्षुधाओं या रुचियों से प्राप्त भावावेगों का निदर्शन करती है। अपने परवर्ती ग्रंथों में तो निश्चय ही वह सद्गुणों के प्रति सिवाय कर्त्ता के हित या सुख के अतिरिक्त किसी भी नैतिक बाध्यता को स्वीकार नहीं करता है, यद्यपि संक्षेप में वह यह बताने का प्रयास करता है कि उसका नैतिकता का सिद्धांत जिन कर्त्तव्यों की अनुशंसा करता है, वे सभी व्यक्ति के सच्चे हित है। यदि व्यक्ति स्वयं के आचरण पर शांत चित्त से किए गए विचार से प्राप्त आनंद के महत्त्व को ध्यान में रखे, किंतु यदि हम नैतिक चेतना को केवल एक विशेष प्रकार का सुखात्मक संवेग मानें, तो ह्यूम के नैतिक सिद्धांत में एक स्पष्ट प्रश्न खड़ा होता है, जिसका कि उसने कोई ठीक उत्तर नहीं दिया है। यदि नैतिक रुचि का सारतत्त्व दूसरों के सुख से युक्त सहानुभूति है तो यह विशेष संवेग सद्गुणों के अतिरिक्त उन अन्य वस्तुओं से, जो कि ऐसे सुख को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति रखती है, क्यों उत्तेजित नहीं होता है? इस प्रश्न पर ह्यूम अपने आपको इस असंतोषजनक टिप्पणी से आश्वस्त करता है कि आवेगों और स्थाई भावों के अनेक वर्ग हैं, किंतु प्रकृति की मूलभूत रचना के आधार पर विचारशील बुद्धिमान्

प्राणी उसमें से केवल एक ही उपयुक्त विषय है। इसके अतिरिक्त भी उसकी नैतिक अनुमोदन की धारणा की अस्पष्टता उपयोगी और रुचिकर गुणों की उस सूची से प्रकट हो जाती है, जिसे वह अनुमोदन के योग्य मानता है, जिसमें समीचीन नैतिक अच्छाइयों के साथ केवल बौद्धिक उपलब्धियों को अविवेकपूर्ण ढंग से मिला दिया गया है[32], इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि उसने नैतिक स्थाईभावों के उस विशिष्ट गुण को छोड़ दिया, जिसकी व्याख्या की आवश्यकता थी। इस समस्या का मौलिक एवं उत्तम समाधान उसके समकालीन एवं मित्र एडमस्मिथ के द्वारा दिया गया।

एडमस्मिथ (1723-1790)

एडमस्मिथ ह्यूम के समान ही सहानुभूति को ऐसा अंतिम घटक मानता है, जिसमें नैतिक स्थाईभाव का विश्लेषण किया जा सकता है। वह यह भी बताता है कि विशिष्ट नैतिक इंद्रिय को स्वीकार करने का कोई आधार नहीं है। वह सद्‌गुण के सुखद परिणामों में निहित सहानुभूत्यात्मक सुख की वास्तविकता या महत्व के बारे में विवाद में भी नहीं पड़ता है, जबकि ह्यूम ने इस पर अधिक बल दिया था, फिर भी वह यह मानता है कि कठोर परीक्षण के पश्चात् सामान्य रूप से हम यह पाएंगे कि मनस् का कोई भी गुण सद्‌गुण के रूप में स्वीकृत नहीं है, जबकि ऐसे गुण, जो व्यक्ति स्वयं को या दूसरों को उपयोगी या रुचिकर हैं और सद्‌गुण के रूप में मान्य हैं, किंतु उन्हें मान्य करने में प्रकृति ने हमारे अनुमोदन के स्थाईभावों को व्यक्ति और समाज दोनों की सुविधा के साथ आनंदपूर्वक समायोजित कर दिया है, तब भी वह मानता है कि ये स्थाईभाव मूलतया एवं आवश्यक रूप से किसी उपयोगिता के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न नहीं होते हैं। यद्यपि निस्संदेह ऐसा प्रत्यक्षीकरण उन्हें व्यापक एवं सजीव बना देता है, साथ ही विवेक न्याय और परोपकार के अनेक महत्वपूर्ण उदाहरणों में सद्‌गुण के अनुकूल प्रभाव का बोध सदैव ही हमारे अनुमोदन (पसंदगी) के विशेष एवं बहुधा बड़े भाग का निर्माण करता है, तथापि यह असम्भव है कि उस उपयोगिता के अतिरिक्त, जिसके आधार पर हम खाने वाली संदूक की अनुशंसा करते हैं हमारे पास किसी व्यक्ति की प्रशंसा करने का कोई दूसरा तर्क हो। परीक्षण के उपरांत हमें यह पता चलेगा कि किसी मानसिक स्वभाव की उपयोगिता कभी कभी ही प्राथमिक अनुमोदन का आधार बनती है, साथ ही यह कि अनुमोदन के स्थाईभाव में उपयोगिता के प्रत्यक्षीकरण से

बिलकुल भिन्न एक औचित्य का बोध होता है।

यह औचित्यबोध हमारे नैतिक निर्णयों का सारभूत एवं सामान्य तत्त्व होता है। प्राथमिक रूप से ये नैतिक निर्णय दूसरों के चरित्र और आचरण पर ही दिए जाते हैं। ऐसी स्थिति में औचित्य बोध अपने सरलतम रूप में सीधा सहानुभूति या दूसरों के भावावेगों के सहगामी भाव से उत्पन्न होता है, जिसमें दृष्टा स्वयं अपने को भी उसी स्थिति में कल्पित कर उस भाव का अनुभव करता है। यह दूसरे मनुष्य की भावनाओं के साथ हमारी भावनाओं के साहचर्य की चेतना सदैव ही सुखद होती है। तब भी, जबकि सहानुभूति को उत्तेजित करने वाला भाव और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली सहानुभूति की भावना स्वयं भी दुःखद हो, यह तदनुसारिता का बोध ही उसका सारतत्त्व है। जब हम भी किसी भावना एवं उसकी अभिव्यक्ति का अनुमोदन करते हैं तो वह उन कर्मों का सारतत्त्व होता है, जो इसके परिणामस्वरूप होते हैं। दूसरों की भावनाओं को उनके लक्ष्यों की दृष्टि से उपयुक्त मानना ही वह वस्तु है, जिसे हम सहानुभूति कहते हैं[33]। एक व्यक्ति, जिसकी सहानुभूति मेरे दुःखों के साथ है और कुछ नहीं, वरन् वह मेरे दुःखों की पर्याप्तता को स्वीकार करता है। इसी प्रकार एक दर्शक एक भावना को केवल अति मानकर तब नापसंद करता है, जब वह इतनी अधिक मात्रा में अभिव्यक्त की जाती है कि वहां तक उसकी सहानुभूति पहुंच नहीं पाती है, अथवा उसे तब दोषपूर्ण मानता है, जबकि वह उस दर्शक की सहानुभूत्यात्मक कल्पना से पूरी तरह मेल नहीं खा पाती है, यद्यपि ऐसा कम ही होता है। इस स्पष्ट प्रतिवाद के सम्बंध में कि हम अक्सर बिना सहानुभूति के भी अनुमोदन करते रहते हैं। यहां यह प्रत्युत्तर दिया गया है कि ऐसी अवस्था में हम इस बात के लिए चेतन होते हैं कि हमें उसके प्रति सहानुभूति रखना चाहिए, यदि हम सामान्य अवस्था में हैं और उसकी और अपेक्षित ध्यान देते हैं। यह ठीक वैसे ही होता है, जैसे कि हम एक व्यंग्य या विनोद अथवा मित्रमंडली की ऐसी मजाक का अनुमोदन तब भी करते हैं, जब कि हम गम्भीर मनोदशा में होने के कारण स्वयं हंसते नहीं है, क्योंकि हम इस सम्बंध में सचेत है कि अनेक अवसरों पर ऐसे हास्य-विनोद के हम भी सहभागी होते हैं। यहां यह ध्यान में रखना होगा कि औचित्य का यह बिंदु विभिन्न आवेगों (भावनाओं) में विभिन्न स्थानों पर स्थिर रहता है। कभी वह अति की ओर होता है, तो कभी कमी की ओर होता है। यही कारण है कि इस बिंदु की वास्तविक स्थिति के सम्बंध में दर्शकों में अधिक मतभेद रहता है। वस्तुतः, भावना अनुरूपता को प्राप्त करने के लिए अक्सर

दोनों पक्षों की ओर से प्रयत्न अपेक्षित है। दर्शक को सम्बंधित व्यक्ति के स्थाईभावों (भावनाओं) में प्रवेश करना होता है और सम्बंधित व्यक्ति को अपने संवेगों को इस प्रकार प्रकट करना या कम से कम उनकी बाह्याभिव्यक्ति करना होती है, ताकि दर्शक में उसके समान भाव को जाग्रत कर सके। दर्शक को प्रभावित करने वाले व्यक्तियों को ऐसा प्रयत्न उस सीमा तक करना होगा, जो कि दर्शक को आश्चर्य में डाले एवं उसे प्रसन्न करे। ऐसे लोगों को हम आत्मपीड़न और आत्मसंयम के कठोर और समादरणीय सद्‌गुणों से युक्त मानते हैं, जबकि मानवता का सौम्य सद्‌गुण सहानुभूति की उस मात्रा में निहित होता है, जो अपनी अनपेक्षित एवं अति संवेदनशील कोमलता एवं दयालुता के द्वारा आश्चर्यचकित करे। यद्यपि सौम्य सद्‌गुण के सम्बंध में दर्शक का न केवल दयालुता के संवेग से युक्त होकर सहानुभूति प्रदान करना है, अपितु 1 उस सुख में भी, जो सदयता अपने पात्र को प्रदान करती है और 2 (उस ज्ञापित होने वाली) कृतज्ञता से भी, जो उस (सद्‌गुण) को उद्दीप्त करती है।

सहानुभूति की इसी अंतिम प्रक्रिया के कारण ही हमें सद्‌गुणात्मक कार्य में अच्छाई का बोध होता है। हम तब ही किसी कार्य को या कर्त्ता को अच्छा मानते हैं, जब कि वह कृतज्ञता ज्ञापन के लिए एक सम्यक् एवं स्वीकृत विषय प्रतीत हो। यह कि जब हम एक तटस्थ साक्षी के रूप में उस कृतज्ञता भाव से, जिसे वह कार्य उन लोगों में, जो उससे लाभान्वित हुए हैं, उद्दीप्त करता है या सामान्यतया उद्दीप्त करेगा, सहमति रखते हैं। किंतु हम कृतज्ञता के भाव से हृदय से तब तक सहमति नहीं रखते हैं, जब तक कि हम उस कार्य के उद्दीप्त करने वाली प्रेरणा से सहानुभूति नहीं रखे। इस प्रकार अच्छाई का बोध एक मिश्रित स्थाई भाव है जो दो भिन्न-भिन्न संवेगों का बना हुआ है (1) कर्ता के स्थाई भावों के प्रति प्रत्यक्ष सहानुभूति और (2) कर्त्ता के कार्यों से लाभान्वित होने वाले व्यक्तियों की कृतज्ञता भावना के साथ परोक्ष सहानुभूति। यह परवर्ती तत्त्व ही प्रभावशाली तत्त्व हैं इसी प्रकार बुराई का बोध भी बुरा कर्म करने वाले की भावना के प्रति प्रत्यक्ष घृणा और उस बुराई से पीड़ित होने वाले व्यक्ति की नाराजगी के साथ परोक्ष सहानुभूति से बनता है। यह सहानुभूत्यात्मक क्रोध ही उसका प्राथमिक घटक है, जो दूसरे को दी गई पीड़ा के लिए दण्ड की मांग करने एवं दण्ड का अनुमोदन करने के लिए हमें प्रेरित करता है और जिसे हम न्याय का बोध कहते हैं।

सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए ऐसे दण्ड के महत्त्व का विचार इस स्थाईभाव का गौण व द्वितीयक स्रोत है।

अभी तक हम दूसरों के आचरण और स्थाईभावों के संदर्भ में ही हमारे नैतिक निर्णयों के मूल स्रोत एवं आधार के बारे में विचार कर रहे थे। यद्यपि जब ऐसे ही निर्णय हमारे स्वयं के आचरण के सम्बंध में देना होते हैं, तो पुनः उनके मूल घटक की जटिलता को समझने के लिए उनकी व्याख्या अपेक्षित होती है।

अंतर्विवेक की इस प्रक्रिया में हम अपने-आप को दो व्यक्तियों में विभाजित कर लेते हैं और हमारे आचरण को देखने वाले उस कल्पित दृष्टा की भावनाओं में प्रवेश करने का प्रयत्न करते हैं। वास्तविक दर्शक (अर्थात् दूसरे व्यक्ति) हमारे कार्यों और प्रेरकों के अपूर्ण ज्ञान के कारण गलत प्रशंसा या निंदा के दोषी हो सकते हैं, किंतु गलती से दिए गए सम्मान और प्रशंसा से हमें बहुत ही अपूर्ण एवं बनावटी संतोष मिल पाता है और जब इन्हें उस गलती से रोक दिया जाता है, तो हमें (उस) काल्पनिक वास्तविक ज्ञाता और तटस्थ दर्शक की अनुशंसा से एक वास्तविक सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार, हमारी प्रशंसा पाने की इच्छा से अलग, प्रशंसनीय होने की इच्छा का विकास होता है और इसी प्रकार निंदा की आशंका से अलग, निंदनीय होने की आशंका का विकास होता है। यद्यपि यह ध्यान देने योग्य है कि गलत प्रशंसा से संतोष प्राप्त करने की अपेक्षा गलत निंदा से उत्तेजित होने की क्षमता हममें सामान्यतया अधिक है, क्योंकि आंशिक रूप से हम यह जानते हैं कि अपराध की स्पष्ट स्वीकृति गलत प्रशंसा को समाप्त कर सकती है, किंतु गलत निंदा से बचने के लिए यह रास्ता नहीं है। तदनुसार इस दूसरी स्थिति में आदर्श दृष्टा अंतरात्मा कभी बहिरात्मा के विरोध एवं अपमान के कारण भौचक्का एवं हतप्रभ हो जाता है। दूसरी ओर, यह भी मान लेना होगा कि अंतरात्मा वास्तविक दर्शकों की उपस्थिति के कारण प्रायः अपने कर्त्तव्य के प्रति मन से सजग रहने की अपेक्षा करता है। अब जब वास्तविक दर्शक पक्षपाती और आसक्ति से युक्त होते हैं तथा निष्पक्ष-दृष्टा उदासीन होते हैं, तो नैतिक स्थाई भावों का औचित्य भी दूषित हो जाता है, इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय-नैतिकता और दलीय-संघर्ष जैसी नैतिकता की निम्न अवस्था की तुलना साधारण व्यक्तिगत-नैतिकता से की जाती है।

पुनश्च, अंतरात्मा की सूचना प्रतिष्ठा एवं वासना के आंतरिक-प्रभाव और उसके साथ ही बहिरात्मा के विचारों के द्वारा सत्य से दूषित होने की सम्भावना भी हो सकती है, किंतु ऐसी आत्मवंचना से बचने के लिए एक

मूल्यवान् उपचार नैतिकता के सामान्य नियमों के रूप में प्रकृति के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, किंतु नैतिकता के इन सामान्य नियमों को मौलिक प्रतिमज्ञान नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अंततोगत्वा ये हमारे उन अनुभवों पर निर्भर हैं, जिन्हें विशेष अवस्थाओं में हमारी नैतिक-शक्ति अथवा अच्छाई और औचित्य का हमारा प्राकृतिक-बोध पसंद या नापसंद करता है। इन (प्राकृतिक) सामान्य नियमों के प्रति निष्ठा को ही कर्त्तव्य-बोध कहा जाता है। इस निष्ठा के बिना कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा, जिसका चरित्र प्रसन्नता की उस असमानता पर आश्रित रह सकेगा कि असमानता से सभी व्यक्ति युक्त हैं। वस्तुतः, एडम स्मिथ तो यहां तक कहना चाहता है कि सामान्य नियमों के प्रति वह निष्ठा ही केवल एकमात्र ऐसा सिद्धांत है, जिसके द्वारा मानव जाति के अधिकांश व्यक्ति अपने कार्यों के निदर्शन में सक्षम होते हैं, किंतु इस निष्ठा को एडम स्मिथ के सामान्य सिद्धांत के साथ संगति बैठा पाना कठिन है। विशेष रूप से, अनेक सद्गुणों के सम्बंध में हमारे सामान्य नियम अधिकांशतया इतने अपूर्ण एवं ढीले-ढाले होते हैं कि हमारे आचरण को किन्हीं संक्षिप्त सिद्धांतों की अपेक्षा क़िसी विशेष रुचि से निदर्शित होना पड़ता है, यद्यपि वह मानता है कि न्याय के नियम उच्चतम कोटि की पूर्णता रखते हैं, ताकि अपेक्षित किसी भी बाह्य-कार्य का निर्धारण सर्वाधिक सत्यता के साथ कर सके। एडम स्मिथ हमें यह विश्वास दिलाने का प्रयास भी करते हैं कि नैतिकता के सामान्य नियमों को ठीक ईश्वरीय-नियमों के रूप माना जाना चाहिए और अंतरात्मा अर्थात् कल्पित निष्पक्ष दृष्टा की आवाज को यदि हम अध्यवसाय एवं निष्ठापूर्वक ध्यान से सुन सकें, वह हमें कभी धोखा नहीं देगी, किंतु उसका यह सिद्धांत इन निष्कर्षों[34] के लिए कोई अकाट्य तर्क नहीं दे पाता है। ह्यूम और एडम स्मिथ के सिद्धांतों को एक सीमा तक साथ साथ लेने पर हमें नैतिक स्थाई भाव के मूल स्रोत की उस व्याख्या का पूर्वानुमान हो जाता है, जो कि उपयोगितावादी-सम्प्रदाय में अभी-अभी तक प्रचलित थी, लेकिन ह्यूम और एडम स्मिथ - दोनों ही नैतिक स्थाई भाव की जटिलता का कम मूल्यांकन करने की गलती करते हैं। साथ ही, वे इस बात को अस्वीकार करने की गलती भी करते हैं कि अंतर्दर्शनात्मक रूप से समीक्षा करने पर नैतिक स्थाई भाव दूसरों के आवेगों एवं भावनाओं के साथ मात्र सहानुभूति से भिन्न है। यद्यपि ये नैतिक स्थाई भाव उससे उत्पन्न हो सकते हैं, ये जटिल एवं मिश्रित हैं, ये जटिल इसलिए हैं कि इन्हें सीधे-सीधे सहानुभूति के सरल घटक में विश्लेषित नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से ह्यूम और

एडम स्मिथ - दोनों की व्याख्या करने की पद्धति की तुलना हार्टले की पद्धति के निषेधात्मक रूप से की जा सकती है।

हार्टले (1705-1757 ई.)

हार्टले की पुस्तक 'आब्जरवेशंस आन मेन (1749)' ह्यूम की पुस्तक 'इन्क्वायरी इन्टू दी प्रंसीपल्स आफ मारल्स' से पहले प्रकाशित हो गई थी। हार्टले का महत्त्व मुख्यतः जटिल एवं परिष्कृत संवेगों की व्याख्या के लिए प्रत्ययों के साहचर्य-नियम के मौलिक एवं व्यापक उपयोग में निहित है। वह यह बताता है कि सुख और दुःख की प्राथमिक-संवेदनाओं से साहचर्य के पुनरावर्तित एवं मिश्रित प्रभाव के द्वारा किस प्रकार 1 कल्पना, 2 आकांक्षा, 3 स्वहित, 4 सहानुभूति, 5 समाधि और 6 नैतिक-बोध के सुख-दुःखों का विकास होता है। वस्तुतः, आंग्ल-लेखकों में वह पहला व्यक्ति नहीं था, जिसने मानसिक घटना-चक्र के परिष्कार में साहचर्य के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया हो। साहचर्य के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रभावों की ओर लाक का ध्यान भी गया था और इसी प्रक्रिया को ह्यूम के तत्त्वमीमांसा सम्बंधी सिद्धांतों में मुख्य केंद्र बनाया गया था। ह्यूम ने अपने न्याय एवं दूसरे कृत्रिम सद्गुणों की विवेचना में इस सिद्धांत का उपयोग किया है। इसके कुछ वर्ष पहले में[35] हचीसन के नैतिक एवं परोपकारी आवेगों में उपस्थित निष्कामता के प्रमाण को स्वीकार करते हुए यह बताया कि (ज्ञान या यश की इच्छा तथा पढ़ने, शिकार करने या वृक्षारोपण के आनंद के समान ही) ये सद्गुण भी आत्म-प्रेम से ही साहचर्य की शक्ति के द्वारा व्युत्पन्न होते हैं, किंतु नैतिक मनोविज्ञान में साहचर्य सिद्धांत का गहन एवं व्यवस्थित उपयोग सर्वप्रथम हार्टले की रचना में पाया जाता है। वही पहला व्यक्ति है, जो इस बात से पूर्ण आश्वस्त है कि साहचर्य में मानसिक-घटना-चक्र की मात्र सम्बद्धता के स्थान पर एक ऐसे अर्द्ध-रासायनिक मिश्रण को उत्पन्न करने की शक्ति है, जो कि उसके घटकों के आभासी मिश्रण से भिन्न होता है। प्राथमिक रूप से उसका सिद्धांत मनोवैज्ञानिक है और मन एवं शरीर में पूर्ण संवादिता को स्वीकार करता है। वह यह बताता है कि संवेदना के ग्राहक अंग में उत्पन्न होने वाले प्राथमिक-कम्पनों से किस प्रकार मज्जा- द्रव्य में मिश्रित प्रकम्पनों का निर्माण होता है और इसके परिणामस्वरूप सातत्यपूर्वक या अव्यवस्थित अनुक्रमों में संवेदनाओं की पुनरावृत्ति किस प्रकार लघु चित्रों के संसक्त समूहों को या प्राथमिक भावना-चिह्नों को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति रखती है, जो वस्तुतः जटिल, किंतु सरल प्रतीत होने वाले संवेगों

और प्रत्ययों से एक रूप हो जाते हैं। सुख और दुःखों के छह वर्गों में से प्रत्येक वर्ग, जिसे सूची में अनुक्रम से दिया गया है, वह अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा अधिक जटिल है। इसका कारण परवर्ती वर्गों की मिश्रित प्रक्रिया है। तदनुसार, नैतिक-बोध का सुख अंतिम होने के कारण सबसे अधिक जटिल है। अपने विकास की प्राथमिक अवस्था में वे मुख्यतया उस पसंदगी और नापसंदगी की भाषा के साहचर्य से निर्मित होते हैं, जिसे बच्चे क्रमशः सद्गुणी व्यक्ति के प्रसंग में सुनते हैं। व्यक्ति स्वयं के सद्गुणों या दूसरों के सद्गुणों से उपलब्ध (नीतिविहीन) संतुष्टियों के चिह्नों को क्रमशः मिश्रित करता है। सामाजिकता और परोपकार के विचार जब विकसित हो जाते हैं, तो वे भी इसमें अपना योगदान भी करते हैं, उससे अगला योगदान सभी सद्गुणों की पारस्परिक-संगति एवं उनकी विश्व की सौंदर्य व्यवस्था और पूर्णता के साथ संगति से उत्पन्न सौंदर्यात्मक संतुष्टि के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। पुनश्च, कर्त्तव्य के निष्पादन के पश्चात् मिलने वाले पुरस्कार की सतत् आशा के द्वारा आदर्श सुख स्वयं को कर्तव्य के प्रत्यय के साथ सम्बंधित करने की प्रवृत्ति रखता है। यह भी इन आशाओं के प्रति बिना किसी अभिव्यक्त स्मृति के अंत में धार्मिक संवेग मिश्रित सामान्य सुखद विचार और चेतना के साथ एक अन्य तत्त्व को जोड़ देते हैं। यह तत्त्व हममें तब उत्पन्न होता है, जबकि हम अपने सद्गुणात्मक अभिरुचियों (अनुरागों) एवं कार्यों पर विचार करते हैं। इसी प्रकार, दुःखों का मिश्रण अपराध और पश्चाताप का बोध उत्पन्न करता है, वह भी तब उत्पन्न होता है, जबकि हम स्वयं अपनी बुराइयों पर विचार करते हैं।

हार्टले का वह संवेदनावाद उसे दैहिक-सुखों से बहुत दूर ले जाता है। वस्तुतः, उसकी दृष्टि में तथ्य यह है कि दैहिक-सुख उन शेष सभी का आधार है, जिसके द्वारा उनकी निम्नता के तर्क को प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि प्रकृति की व्यवस्था में पूर्ववर्ती अपने परवर्ती की अपेक्षा हमेशा आधारभूत और अपूर्ण होता है। इसी प्रकार, कल्पनाजन्य सुखों की निम्नता का बोध प्रकृति के सौंदर्य, कला तथा विज्ञान के द्वारा होता है। उनकी निम्नता के तर्क का आधार यह है कि वे हमारे बौद्धिक-सुखों से भी सामान्यतया प्रथम है और उच्चतम प्रकार के सुखों की उत्पत्ति एवं बुद्धि के लिए स्पष्ट रूप से प्रवृत्त होते हैं। अंततोगत्वा हार्टले यह निष्कर्ष निकालता है कि अपने अधिकतम सुखों को चाहने वाला कोई भी व्यक्ति एन्द्रिक- सुखों अथवा कल्पित या अकल्पित सुखों को सर्वोपरि विषय नहीं बनाना चाहेगा। इन निम्न सुखों की अधिकतम मात्रा तभी उपलब्ध की जा सकती है, जबकि इनकी प्राप्ति के प्रयास

सहानुभूति, दया और नैतिक-बोध के सिद्धांतों के अधीन हों। जहां तक कि धर्म और नैतिकता के पक्ष में तर्कों का प्रश्न है, वे स्पष्टतया स्वहित के आधार पर ही प्रतीत होते हैं, किंतु इसके आगे हार्टले यह भी मानता है, कि बौद्धिक-स्वहित को ही अपने लक्ष्य का प्राथमिक-विषय मानने पर भी वह लक्ष्य ईश्वर एवं पड़ोसी के प्रति प्रेम के उच्चतम सुख को निरूत्साहित एवं समाप्त ही करेगा। मानव के विकास में उसका मुख्य कार्य तो हमें परोपकार, दया और नैतिक बोध की अभिवृद्धि उत्पन्न करने हेतु प्रवृत्त करना है। तदनुसार, हमारा आदर्श लक्ष्य स्वहितों की इस दासता को आगे और आगे ही बढ़ाते जाना है, जहां तक कि हम अहं का पूर्ण विसर्जन कर और विशुद्ध प्रेम तक नहीं पहुंच जाते हैं, यद्यपि इसे इस जीवन में प्राप्त कर लेना असम्भव-सा है, ताकि बौद्धिक-आत्मप्रेम स्वयं का विसर्जन करके अपनी पूर्णतम आत्मसंतुष्टि को प्राप्त कर सके। सहानुभूति, समाधि और नैतिक-बोध के सुखों के लिए निम्न श्रेणी के सुखों से भिन्न रूप में बिना पारस्परिक संघर्ष और बिना अति के भय के, प्रयास किया जा सकता है। दया और बौद्धिक परोपकार परस्पर एक दूसरे के सहयोगी हैं। एक पूर्ण परोपकारी मनुष्य की यही इच्छा होगी कि वह अनंत सार्वलौकिक-परोपकार को कर सके। दूसरी ओर, परोपकार कभी भी तब तक पक्षपात और स्वार्थपरायणता से मुक्त नहीं हो सकता, जब तक कि हम अपने को ईश्वरीय-प्रकृति में स्थित न कर लें और प्रत्येक वस्तु को केवल उसी ईश्वरीय-प्रकृति की दृष्टि से न देखें। पुनश्च, सहानुभूति-जन्य सुख उस नैतिक-बोध के द्वारा पूर्णतया अनुमोदित एवं पुष्ट होते हैं, जिसके कि वे एक प्रमुख स्रोत हैं।

हार्टले का व्यावहारिक-सिद्धांत स्थूल रूप से शेफ्ट्सबरी और हचीसन के साथ संगति रखता है और वह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि परोपकार ही प्राथमिक लक्ष्य है। अपने सिद्धांत में वह यह भी मानता है कि हमें प्रत्येक कार्य इस तरह करना चाहिए कि उससे हम हमारी शक्ति पर कम-से-कम दुःख और अधिक सुख उत्पन्न कर सकें। यही सामाजिक व्यवहार का नियम है, जिसे सार्वलौकिक असीम परोपकार हमारे मन में उत्पन्न करता है। इस नियम की निस्संकोच स्वीकृति परवर्ती उपयोगितावाद का विरोध तो नहीं करती है, किंतु परवर्ती उपयोगितावाद के पूर्व कल्पना से हार्टले बहुत दूर है। वह यह मानता है कि हमारे कार्यों के परिणामों की गणना में आने वाली कठिनाइयों और उलझनों के कारण बहुधा हम इस सामान्य नियम के स्थान

पर दूसरे कम सामान्य नियमों को स्थानापन्न कर लेते हैं, जैसे कि (धर्मग्रंथ की आज्ञा-पालन के अतिरिक्त) अपने स्वयं के और दूसरे लोगों के नैतिक-बोध को सम्मान देना और दया एवं शुभेच्छा के प्रति हमारी स्वाभाविक अभिरुचि, व्यक्तियों की अपेक्षा अपने निकट संबंधियों की तथा परोपकारी एवं धार्मिक-व्यक्तियों की प्राथमिकता, सत्यवादिता के प्रति निष्ठा रखना, नागरिक-अनुशासन का पालन करना आदि ये गौण नियम मुख्यतया हमारे विचारपूर्ण कार्यों का निर्देशन करते हैं। उन आपदकालीन परिस्थितियों में जहां विचार सम्भव ही नहीं होता, नैतिक-इंद्रिय (नैतिक-अंतर्बोध) ही हमारी मार्गदर्शक होगी, किंतु जब इन दो या दो से अधिक सिद्धांतों में आपस में विरोध हो, जो कि अक्सर प्रत्यक्षतः दिखाई देता है, तो किस पद्धति का प्रयोग किया जाए- इस सम्बंध में हार्टले स्पष्ट नहीं है। वह अस्पष्ट रूप से यही कहता है कि वे नियम भी किसी सीमा तक दूसरे को सुव्यवस्थित, नियंत्रित एवं प्रभावित करते हैं तथा एक-दूसरे का अर्थ निर्धारित करते हैं, साथ ही, नैतिक-बोध की उत्पत्ति का जिस निश्चयात्मकता के साथ उसने अपने कथनों में निरूपण किया है, उनका समुचित आधार भी नहीं मिलता है।

मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र

अंततोगत्वा हमें यह कहना ही होगा कि यद्यपि जीवन के नियम का निर्धारण करने सम्बंधी अपने प्रयासों में हार्टले स्पष्टतया ईमानदार रहे हैं। उनका सुव्यवस्थित उत्साह, अपनी पद्धति एवं व्याख्या-सम्बंधी कमियों के बावजूद भी, उनकी मनोविज्ञान में अभिरुचि उत्पन्न करता है, तथापि वे उसका उपयोग उचित आचरण की प्रभावकारी कसौटी के प्रश्न पर नहीं कर पाए हैं। इस प्रश्न पर उनकी व्याख्या अस्पष्ट है। वे व्याख्याएं उस विश्वास के कारण दूषित हो गई है, जो कि उन्हें इस समस्या की कठिनाइयों का मुकाबला करने से बचाता है। ऐसी ही एक कमी एडम स्मिथ के ग्रंथ में भी देखी जाती है। जब एडम स्मिथ मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण के माध्यम से नैतिक सिद्धांतों के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग की आंग्ल-नैतिक-चिंतनधारा की बौद्धिक-शक्ति कठोरतापूर्वक नैतिकता की दिशा में मुड़ने की अपेक्षा मनोविज्ञान की दिशा में मुड़ने की एक सामान्य प्रवृत्ति रखती है। वस्तुतः, ह्यूम के चिंतन में तो नीतिशास्त्र का मनोविज्ञान में विलयन इतना पूर्ण हो गया कि वह उसे भाषा के भ्रांत प्रयोग की दिशा में ले

गया। वह केवल एक या दो स्थानों पर ही मनोविज्ञान से नैतिकता के वास्तविक विभेद पर आभासी रूप से ही बल दे पाया है, किंतु इसकी निकटतम समीक्षा यही बताती है कि ह्यूम इसे पसंदगी और नापसंदगी के वास्तविक अस्तित्व से अधिक कुछ नहीं समझता है, वह पसंदगी या नापसंदगी, जिसका मनुष्य एक-दूसरे के गुणों के सम्बंध में अनुभव करते हैं। तथ्य यह है कि सेफ्ट्सबरी से प्रारंभ होकर नैतिक-चिंतन की दिशा में प्रमुख बने भावों के विवेचन एवं विश्लेषण के मध्य उचित क्या है और क्यों है? ये मुख्य प्रश्न नैतिकता के प्रति स्पष्ट खतरे को जाने बिना ही परिपार्श्व में जाकर समाप्त से हो गए। यदि हम यह मानते हैं कि पसंदगी और नापसंदगी का बोध प्रत्येक व्यक्ति में अपनी रुचि के अनुसार स्वाभाविक रूप से भिन्न-भिन्न होगा, ऐसी स्थिति में नैतिक-नियमों की आबंधात्मक शक्ति लुप्त हो जाएगी। वस्तुतः, यह ह्यूम के उस सिद्धांत को प्रतिपादित करने का दूसरा तरीका है, जिसमें कार्यों के लक्ष्य से बुद्धि का कोई सम्बंध नहीं है, किंतु यह कहना होगा कि एक स्थाई भाव की उपस्थिति अपने-आप में नैतिकता के पालन का कोई पर्याप्त कारण नहीं है।

नीतिशास्त्र का मनोविज्ञान में विलय करने की इस प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया किसी न किसी रूप में अपरिहार्य थी। यह सुस्पष्ट था कि यह प्रतिक्रिया निम्नलिखित विचारधाराओं की किन्हीं दो दिशाओं में से कोई एक दिशा ग्रहण करती। एक दिशा क्लार्क और कम्बर-लैण्ड की विचारधारा से अविरोध-भाव से सम्बंधित होने में थी और दूसरी बटलर और हचीसन की उस विचारधारा से सम्बंधित होने में थी, जो कि स्पष्ट रूप से इस विलय की विरोधी हो चुकी थी। यह प्रतिक्रिया या तो नैतिक-सिद्धांतों की सामान्य स्वीकृति की ओर एवं उनकी वस्तुगत सत्यता को मान्य करने की दिशा में लौट सकती थी और उन्हें परम नैतिक-सत्यों के एक पूर्ण एवं संगतियुक्त प्रारूप के रूप में दिखाने का प्रयास कर सकती थी, अथवा ह्यूम के द्वारा उल्लेखित नैतिक स्थायीभावों की उत्पत्ति के लिए सुख की प्रेरकता या उपयोगिता को एक ऐसा अंतिम प्रमापक मान सकती थी, जिसके द्वारा स्थायीभावों को मापा जा सकता है या सुधारा जा सकता है। पहली दिशा को तात्त्विक-सहमति के साथ प्राइस, रीड, स्टेवार्ट और सहजज्ञानवादी दूसरे विचारकों के द्वारा स्वीकार किया गया, जबकि दूसरी दिशा का अपेक्षा से

अधिक दृष्टिकोण-भेद एवं पद्धति-भेद के साथ पेले और बेंथम के द्वारा नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में स्वतंत्र एवं समान्तर रूप से उपयोग किया गया। यही विचार-पद्धति वर्त्तमान युग में उपयोगितावाद के नाम से प्रचलित है।

परवर्ती सहज ज्ञानवाद

प्राइस (1723-1791)

एडमस्मिथ के ग्रंथ के प्रकाशित होने के दो वर्ष पूर्व ही सन् 1757 ई. में प्राइस का ग्रंथ रिव्यू ऑफ चीफ क्यूशनस एण्ड डिफरेंस ऑफ मोरहब्स प्रकाशित हो गया था। प्राइस ने सत्य के सहज ज्ञान या बुद्धि के द्वारा वस्तुओं के स्वरूप के अपरोक्ष ज्ञान से नैतिक-प्रत्ययों की उत्पत्ति के कडवर्थ और क्लार्क के सिद्धांतों का पुनरोद्धार ऐसे कुछ प्रकारान्तरों के साथ किया है, जिनकी व्याख्या हमें नैतिक-चिंतन के उस मध्यवर्ती विकास से मिलती है, जिस पर हम विचार कर चुके हैं। प्रथमतः, प्राइस की मान्यता यह है कि उचित और अनुचित ऐसे एकल प्रत्यय हैं, जो परिभाषा या विश्लेषण के योग्य नहीं हैं। उचित, ठीक चाहिए, कर्त्तव्य एवं नैतिक-आबंध के प्रत्यय सम्पाती हैं या उनसे तादात्म्य है। यह कम-से-कम उन संदेशों को दूर कर देता है, जिनके कारण क्लार्क और बोलस्टन नैतिक-गणितीय एवं भौतिक-सत्यों की तुलना के शिकार हुए थे। दूसरे, नैतिक-चेतना के उस सांवेगिक-पक्ष को, जिस पर शेफ्ट्सबरी और उसके अनुयायियों ने अपना ध्यान केंद्रित किया था, अब स्पष्ट रूप से बौद्धिक-अंतःप्रज्ञा (अंतर्विवेक) का सहचारी स्वीकार किया, यद्यपि वह वस्तुतः उसके अधीन है। प्राइस के दृष्टिकोण में उचित और अनुचित कार्यों के वस्तुगत गुण हैं, जबकि नैतिक-सौंदर्य और असौंदर्य आत्मनिष्ठ प्रत्यय हैं। ये उन भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो कि आंशिक-रूप से बौद्धिक-प्राणियों में उचित और अनुचित के प्रत्यक्षीकरण का अनिवार्य परिणाम है और आंशिक- रूप से विकसित बोध या परिवर्तनशील सांवेगिक-भावुकता के कारण है। इस प्रकार, बुद्धि और नैतिक-इंद्रिय या मूल प्रवृत्ति दोनों ही सद्गुणात्मक आचरण के आवेगों के प्रति सहयोगी है। यद्यपि बौद्धिक तत्त्व प्राथमिक एवं सर्वोच्च है, प्राइस कर्त्ता में पाप और पुण्य के प्रत्यक्षीकरण से उसके सहगामी व्यक्ति के कृत्यों के औचित्य और अनौचित्य के प्रत्यक्षीकरण का स्पष्ट अंतर करने में यद्यपि बटलर का अनुसरण करता है।

प्रथम का ज्ञान केवल दूसरे का ही विशेष वर्ग है। क्योंकि किसी में पुण्य (अच्छाई) का दर्शन करने का अर्थ, यह देखना है कि वह कार्य पुरस्कार के योग्य है। रीड के समान ही वह भी यह बताने में सजग है कि कर्त्ता की अच्छाई पूर्णतया प्रयोजन पर या कर्म की आकारिक उचितता पर निर्भर है। एक व्यक्ति, जब तक उसका प्रयोजन बुरा नहीं है, निंदा का पात्र नहीं है। यद्यपि जानबूझकर की गई उस असावधानी के लिए उसकी आलोचना की जा सकती है, जिसमें उसने अपने वास्तविक कर्तव्य के प्रति अज्ञानता उत्पन्न की है। जब हम सद्गुण की विषय-वस्तु की ओर आते हैं, तो यह पाते हैं कि प्राइस निश्चय ही मूर और क्लार्क की अपेक्षा प्राथमिक नैतिक सिद्धांतों की स्वीकृति एवं उनकी विवेचना के प्रति लापरवाह है। मुख्यतया वह सेफ्ट्सबरी और हचीसन के दृष्टिकोण के उस नवीन विरोध के प्रसंग में लापरवाह है, जिसके कारण उसकी विरोधात्मक स्थिति अधिक जटिल बन गई है। प्राइस विशेषतया जिसे स्पष्ट करना चाहता है, वह यह है कि सार्वलौकिक परोपकार के सिद्धांत के अतिरिक्त भी कुछ परम नैतिक सिद्धांतों को अपना अस्तित्त्व है। वह इस दूसरे सिद्धांत के लिए या बौद्धिक आत्म प्रेम के सिद्धांत के लिए नैतिक आबंधों का निरसन करना नहीं चाहता है। इसके विपरीत, वह दोनों की ही स्वतः प्रामाणिकता को सिद्ध करने का प्रयास करता है। वह कहता है कि सुख, चाहे वे अपने स्वयं के हों या दूसरों के हो, उनकी अभिवृद्धि एवं उनका अनुसरण करना उचित है, इससे बढ़कर और कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका हमें अधिक असंदिग्ध रूप से सहज-ज्ञान (आंतरिक प्रत्यक्षी-करण) होता है, किंतु वह बटलर से इस बात में सहमत है कि निष्ठा, सत्यता, वचनों का पालन और न्याय अपनी सुख की संवर्द्धकता से स्वतंत्र होकर भी आबंधात्मक हैं। बटलर के द्वारा उपेक्षित अन्तःप्रज्ञा से ज्ञात सुस्पष्ट सत्यों की निकाय के आधार पर इन कर्त्तव्यों की हमारी सामान्य नैतिक चेतना के क्रियान्वयन के इस कार्य में जुटने के लिए, वह नैतिक प्रामाणिकता के निर्णायक के रूप में बुद्धि की अपेक्षा सहज-बोध का समर्थन करने से कठिनाई में पड़ गया। इस प्रकार सत्यवादी होने की आबंधकता को मान्य रखने में यह स्पष्टतया सत्य ही बोलना चाहिए इस निरपेक्ष बंधन की स्वतः प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर पाता है, वरन् सामान्य नैतिक धारणा के आगमिक संदर्भ के द्वारा वह यह कहेगा कि हम इस कथन से इंकार नहीं कर सकते हैं कि सच्चाई में एक आंतरिक औचित्य है।

इस प्रकार न्याय के इस विवेचन में वह कहता है कि न्याय सद्गुण का वह

भाग है, जो सम्पत्ति का सम्मान करता है, वह पूरी तरह से रोमन विधिशास्त्र के पारम्परिक सिद्धांतों को अंतिम वैधिक सत्य मानने को तैयार है, जो सम्पत्ति के अधिकार को प्रथम स्वामित्व, श्रम, उत्तराधिकार और दान से सम्बंधित करता है, इस प्रकार वह आंशिक रूप से अचेतन स्तर पर नीतिशास्त्र के अंतर्गत दार्शनिक पद्धति में उस एक सामान्य परिवर्तन का पूर्वानुमान कर लेता है, जिसे हम सहजबोध के दर्शन के संस्थापक रीड के नाम के साथ जोड़ते हैं।

अंततोगत्वा मानव प्रकृति में निष्काम आवेगों की उपस्थिति की बटलर और शेट्सबरी की धारणाओं की सिद्धि के पश्चात् प्राइस कडवर्थ और क्लार्क की अपेक्षा इस बात पर बल देने में अधिक स्पष्टता और साहस का परिचय देता है कि एक सदाचारी व्यक्ति सत्कर्मों का चयन उनके औचित्य के कारण ही करता है। आगे बढ़कर वह तो यहां तक कह देता है कि एक कार्य अपने नैतिक मूल्य को उस अनुपात में खो देता है, जिस अनुपात में वह प्राकृतिक अभिरुचि से किया जाता है।

रीड (1710-1796)

इसी दूसरे दृष्टिकोण के आधार पर रीड अपनी रचना- ऐसेज आन दि एक्टिव पायरस् आफ ह्यूमन-माइण्ड (1788) में एक ऐसा निष्कर्ष प्रस्तुत करता है, जो सहजबुद्धि से अधिक संगति रखता है। वह लिखता है कि कोई भी कार्य इस अर्थ में नैतिक शुभ नहीं हो सकता, जब तक कि वह जिसके लिए उचित है, उस पर कुछ प्रभाव नहीं डालता है। यह बात आंशिक रूप में तो इस कारण मान ली गई कि रीड का नैतिक मनोविज्ञान प्राइस की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से बटलर के द्वारा निर्धारित दिशा में विकसित हुआ है। बटलर के समान वह भी मानता है कि (1) किसी कार्य के बौद्धिक एवं नियामक सिद्धांतों में और (2) उन अबौद्धिक आवेगों में, जिनके नियमन की आवश्यकता है, एक मौलिक अंतर है। इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि जहां तक ये अबौद्धिक आवेग प्राकृतिक हैं, वहां तक उनके क्रिया-कलापों का एक वैध क्षेत्र है। वे समान और व्यक्ति के शुभ की ओर प्रवृत्त होते हैं और मनुष्य में निहित बौद्धिक सिद्धांत के वस्तुतः अवियोग्य पूरक हैं। क्रियाओं के अबौद्धिक प्रेरकों को वह दो भागों में विभाजित करता है- (1) वे यांत्रिक मूल प्रवृत्तियाँ और आदतें, जो कि बिना किसी संकल्प, प्रयोजन या विचार के क्रियाशील होती हैं और (2) वे प्राणीय व्यवहार[36] के सिद्धांत जो संकल्प और प्रयोजन से क्रियाशील होते हैं, किंतु जिस

लक्ष्यों की ओर वे प्रवृत्त होते हैं, उनका निर्धारण करने के लिए बुद्धि और निर्णय की आवश्यकता नहीं होती है। मनुष्य में निहित मौलिक प्राणीय व्यवहार के सिद्धांतों का वर्गीकरण वह बटलर की अपेक्षा अधिक गहराई से निम्न रूपों में करता है - (अ) वे क्षुधाएं, जो नियत कालिक और बैचेनी की संवेदनाओं से युक्त होती हैं, जैसे भूख, (ब) (अपने सीमित अर्थ में) मुख्यतः वर्चस्व या अधिकार की इच्छा, साथ ही आदर या सम्मान की इच्छा और ज्ञान प्राप्ति की इच्छा और (स) वे मनोभाव या संवेग, जो उपकारी और अपकारी दोनों प्रकार के व्यक्तियों के प्रति होते हैं। परोपकारी-अभिरुचियों का सामान्य लक्षण पसंदगी की भावना और परोपकार के पात्र व्यक्तियों के शुभ की इच्छा है। इसी प्रकार, अपकारी- अभिरुचि हानि के पहुंचाने की इच्छा के साथ और अशांति से जुड़ी हुई है, तो भी रीड दूसरे सभी मूलभूत एवं प्राकृतिक-आवेगों के प्रति आकस्मिक और ऐच्छिक-नापसंदगी के औचित्य और उपयोगिता को स्वीकार करने में बटलर का अनुसरण करता है।

दूसरी ओर, अर्जित इच्छाएं सामान्यतया न केवल अनुपयोगी हीं हैं, अपितु हानिकारक और घृणित भी हैं। नियामक-सिद्धांत की द्वैतता को मान्य करने में रीड पुनः बटलर का अनुसरण करता है। जैसा कि हमने देखा, यह द्वैतता बटलर के सिद्धांत का केंद्रीय तत्त्व है। वह यह मानता है कि अपने स्वयं के स्यापक शुभ के प्रति निष्ठा (बटलर का आत्म-प्रेम) और कर्त्तव्य-बोध (बटलर का सद्सद्विवेक) वस्तुतः दो अलग-अलग और संगतिपूर्ण बौद्धिक-सिद्धांत हैं, यद्यपि अकसर स्वाभाविक रूप से एक ही शब्द विवेक के अंतर्गत समाविष्ट हैं। वह ह्यूम के सिद्धांत के विरोध में प्रथम सिद्धांत (आत्म-प्रेम) बौद्धिकता की स्थापना एवं व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। ह्यूम का सिद्धांत यह मानता है कि उन साध्यों का निर्धारण करना बुद्धि का कार्य नहीं है, जिनका हमें अनुसरण करना चाहिए, या जिन्हें दूसरे साध्यों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाना चाहिए, किंतु रीड कहता है कि अंततोगत्वा शुभ का प्रत्यय ऐसा है, जिसका निर्माण एक बौद्धिक-प्राणी ही कर सकता है, जिसमें सभी विशेष इच्छाओं के विषयों से अन्यमनस्कता और वर्त्तमान भावनाओं की भूत और भविष्य से तुलना भी निहित है। उस सबके लिए व्यावहारिक रूप से आनंद को दृष्टिगत रखना आवश्यक मानता है। वह यह मानता है कि ऐसे बौद्धिक-प्राणी की कल्पना करना, जिसमें कुल मिलाकर अपने शुभ का विचार बिना उस शुभ की इच्छा के उपस्थित हो, यह परस्पर विरोधी होगा और यही शुभ की इच्छा ऐसी इच्छा है, जो आवश्यक रूप से सभीं विशेष

क्षुधाओं एवं मनोभावों की नियामक है। इसे युक्तिपूर्वक नैतिक-शक्ति के अधीन भी नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः, किसी व्यक्ति का यह मानना कि सद्‌गुण कुल मिलाकर उसके सुख का विरोधी है- यह यथार्थ में नीति से अनुशासित विश्व का उदाहरण नहीं हो सकता है। यह तो उस दुःखद उभयतोपास में फंसने के समान है कि या तो धूर्त्त (बेईमान) होना अच्छा है, या मूर्ख होना अच्छा है।

नैतिक-शक्ति के प्रसंग में रीड के कथन मुख्यतया प्राइस से संगति रखते हैं। रीड कर्त्ता और कर्म के सम्बंधों को सरल और अविश्लेषणीय मानता है। उसका सिद्धांत बौद्धिक और क्रियात्मक- दोनों ही है। वह न केवल कार्यों की उचितता और नैतिक-आबंधात्मकता पर ही ध्यान देता है, वरन् जिसे उचित समझा गया है, उसे क्रियान्वित करने के संकल्प की प्रेरणा भी देता है। रीड एवं प्राइस- दोनों ही यह मानते हैं कि किसी कर्म के औचित्य और अनौचित्य का यह प्रत्यक्षीकरण कर्त्ता में अच्छाई और बुराई के प्रत्यक्षीकरण के साथ और विशेष संवेगों के साथ जुड़ा है, किंतु जहां प्राइस इन संवेगों को मुख्यतया सुख और दुःख के रूप में, अथवा भौतिक सौंदर्य और असौंदर्य के द्वारा हमारे मन में उत्पन्न भावनाओं के रूप में मानता है, वहां रीड उन संवेगों को मुख्यतया सदाचारी कर्त्ता की उपकारीभावना, निष्ठा एवं सहानुभूति के रूप में या इनके एक दुराचारी कर्त्ता के इनके विपरीत गुणों के रूप में मानता है। जब नैतिक-निर्णय व्यक्ति के स्वयं के कार्यों के संबंध में हो, तो वह सुखद शुभ संकल्प एक शुभ अंतरात्मा का प्रमाण बन जाता है। यह सुखद शुभ संकल्प सभी मानवीय-सुखानुभूतियों में सर्वाधिक मूल्यवान् और पवित्र है। रीड अपनी इस मान्यता के प्रति भी सजग है कि नैतिक-शक्ति अपने बीज-रूप को छोड़कर जन्मजात नहीं है। इसके लिए शिक्षा, प्रशिक्षण, अभ्यास और आदत की आवश्यकता है, जिसके लिए समाज का होना अपरिहार्य है, जो इसे नैतिक-सत्य की प्राप्ति के योग्य बना सके। रीड प्राइस के अनुरूप इस नैतिक-शक्ति को नैतिक-इंद्रिय (नैतिक-बोध) कहने में भी कोई आपत्ति का अनुभव नहीं करता है। मात्र यही कि हम इस नैतिक-शक्ति को भावनाओं या विचारों का मूल स्रोत न समझें, वरन् इसे चरम सत्यों का मूल स्रोत समझें। यहां वह इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को छोड़ देता है कि नैतिक तर्कशक्ति का क्षेत्र सार्वभौमिक-निर्णय है या व्यक्तिगत-निर्णय है। जहां तक हम इसके लिए इंद्रिय शब्द का प्रयोग करते हैं, तब यह दूसरे विकल्प को ही सूचित करता है। वस्तुतः, वह इस प्रश्न पर अपने-आपको अनिश्चयात्मक-स्थिति में ही पाता है। यद्यपि वह सामान्यतया नैतिक- पद्धति

को निगमनात्मक रूप से प्रस्तुत करता है, फिर भी वह यह कार्य उचित है या वह कार्य अनुचित है के रूप में मौलिक निर्णयों के बारे में भी बताता है।

सत्य तो यह है कि नीतिशास्त्र के लिए वैज्ञानिक पद्धति का निर्माण अधिक व्यावहारिक-महत्त्व का विषय नहीं है, क्योंकि वह यह मानता है कि मानव-आचरण में क्या उचित है और क्या अनुचित है? यह जानने के लिए मन की शांत और अनुद्विग्न स्थिति में केवल अंतरात्मा के आदेशों को सुनना ही पर्याप्त है[37], यद्यपि वह निगमन के द्वारा प्राथमिक नैतिक-नियमों की एक सूची प्रस्तुत करता है, जिसे मनुष्यों की सामान्य नैतिक- धारणाओं से अनुमोदित किया जा सकता है, यद्यपि वह उस सूची की पूर्णता का दावा प्रस्तुत नहीं करता है। सामान्य सद्गुणों से सम्बंधित सिद्धांतों के अतिरिक्त सिद्धांत है- (1) आचरण में उचित और अनुचित के तत्त्व होते हैं, किंतु (2) ये तत्त्व केवल ऐच्छिक-आचरण में ही होते हैं, साथ ही (3) हमें अपने कर्त्तव्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिए और (4) उन प्रलोभनों से बचना चाहिए, जो हमें अपने कर्त्तव्यों से विमुख करते हैं। रीड नैतिकता की पांच मुख्य स्वयंसिद्धियों[40] को प्रस्तुत करता है, इनमें पहली केवल बौद्धिक-आत्म-प्रेम की है, अर्थात् हमें दूरस्थ होने पर भी अपेक्षाकृत अधिक शुभ को और अपेक्षाकृत कम बुराई को प्राथमिकता देना चाहिए। यह बात रीड के द्वारा मान्य नैतिक-शक्ति और आत्म-प्रेम की भिन्नता के आधार पर असंगत-सी ही लगती है। तीसरी स्वयंसिद्धि परोपकार का सामान्य नियम है, जिसे स्टोइक ढंग से स्पष्ट रूप में ही रखा गया है, अर्थात् कोई भी अपने लिए पैदा नहीं हुआ है। चौथी, पुनः केवल एक अकाट्य-सिद्धांत है, अर्थात् सभी के लिए सभी परिस्थितियों में उचित-अनुचित वही होंगे। यह तथ्य वस्तुनिष्ठ नैतिकता के सभी सिद्धांतों में पाया जाता है। पांचवीं स्वयंसिद्धि ईश्वर के प्रति श्रद्धा एवं समर्पण के धार्मिक-कर्त्तव्यों का निर्धारण करती है। इस प्रकार, केवल दूसरी स्वयंसिद्धि ही ऐसी प्रतीत होती है, जो कि सामाजिक-कर्त्तव्यों के लिए निश्चित मार्गदर्शन प्रस्तुत कर सकती है, इसके अनुसार, मनुष्यों के निर्माण में प्रकृति का जो उद्देश्य परिलक्षित होता है, हमें उसी उद्देश्य के आधार पर आचरण करना चाहिए। निगमनात्मक-दृष्टि से इसकी अनुपयोगिता[41] तब स्पष्ट हो जाती है, जबकि हम इसका व्यवहार में प्रयोग करने लगते हैं। यह स्पष्ट है कि इन सभी सिद्धांतों को एक साथ लेने पर भी ये हमें एक सामान्य व्यक्ति की अंतरात्मा के आदेशों को क्रमबद्ध करने में बहुत अधिक आगे नहीं ले जाते हैं और न इनकी अपूर्णताओं की पूर्त्ति परवर्ती अध्यायों[42] में रीड के द्वारा की

गई न्याय-सम्बंधी विवेचनाओं के द्वारा यथार्थ रूप से की जा सकती है। ह्यूम के विरूद्ध रीड साहसपूर्वक यह तर्क प्रस्तुत करता है कि (1) व्यक्ति और उसके परिवार को कष्ट पहुंचाना किसी की स्वतंत्रता में बाधा डालना, किसी की प्रतिष्ठा पर आघात पहुंचाना, वचन भंग करना आदि विभिन्न प्रकार की न्याय-विरूद्ध क्रियाएं (हानियां) अंतरात्मा के द्वारा नैसर्गिक-अधिकारों का हनन प्रतीत होता है तथा जिनका सामाजिक सम से कोई भी वेतन-सम्बंध नहीं है और (2) यद्यपि सम्पत्ति का अधिकार बंधन नहीं, किंतु अर्जित है, फिर भी यह जीवन जीने के नैसर्गिक-अधिकार का अनिवार्य परिणाम है, इसका अर्थ है- जीवन जीने के साधनों पर अधिकार और स्वतंत्रता भी नैसर्गिक-अधिकार का ही अनिवार्य परिणाम है। इसका अर्थ है- निर्दोष श्रम की उपलब्धियों पर अधिकार, किंतु रीड न्याय के ऐसे स्पष्ट और सरल नियमों को प्रस्तुत करने का कोई प्रयास ही नहीं करता है, जिनके द्वारा वास्तविक परिस्थितियों में इन अधिकारों का निर्धारण लोकोपयोगिता को अंतिम प्रमापक माने बिना भी किया जा सके।

इयूगाल्ड स्टेवार्ट (1753-1828)

उसके नैतिक-सिद्धांतों में भी सामाजिक-कर्त्तव्यों के संदर्भ में इसी प्रकार की अपूर्णता पाई जाती है[43]। यदि हम रीड के बहुत ही अधिक प्रतिभाशाली शिष्य इयूगाल्ड स्टेवार्ट की ओर आते हैं, तो उसके ग्रंथ फिलासफी ऑफ एक्टिव एंड मारल पावरस में बटलर, रीड एवं किसी सीमा तक प्राईस के सामान्य दृष्टिकोण भी उपलब्ध हैं। यह ग्रंथ सुव्यवस्थित रूप से, सूक्ष्मता के साथ एवं अधिक सुरूचिपूर्ण ढंग से लिखा गया है। यद्यपि इसमें नैतिक-मनोविज्ञान के सम्बंध में कुछ छोटे-मोटे संशोधन इसमें कोई महत्त्वपूर्ण मौलिक परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं किया गया है[44]। स्टेवार्ट परोपकार से भिन्न न्याय की आबंधात्मकता पर अधिक जोर देता है, तो भी न्याय को परिभाषित करने में वह निष्पक्षता के सामान्य विचार से आगे नहीं जाता है। यह निष्पक्षता का विचार उन सभी नैतिक-विचारधाराओं में पाया जाता है, जो नैतिक-नियमों के सार्वलौकिक-विनियोग की स्थापना करती है, फिर चाहे वे उपयोगितावादी हों या किसी अन्य सिद्धांत पर आधारित हों। निःसंदेह, न्याय की एक शिक्षा के रूप में ईमानदारी या सत्यनिष्ठा का विश्लेषण करते हुए वह एक नैतिक-सिद्धांत प्रस्तुत करता है। वह सिद्धांत यह है कि श्रमिक अपने स्वयं के श्रम से उत्पन्न वस्तु का स्वामी है। यही एक ऐसा सिद्धांत है, जिस पर सम्पत्ति के समस्त अधिकार आधारित हैं। वह

यह भी मानता है कि केवल आधिपत्यता (स्वामित्व) उपयोग करने का अस्थाई अधिकार ही प्रदान करती है। दूसरे सिद्धांत, जिनका वह विवेचन करता है, वे सत्यनिष्ठा और अपने वचनों के प्रति सच्चा होना (प्रतिज्ञापालन) है। उनकी विवेचना में उसका मुख्य उद्देश्य यह बताना है कि मानव-मन में उपयोगिता की गणना से स्वतंत्र सत्य के प्रति एक नैसर्गिक और सहज प्रेम होता है। इसके साथ ही अपने पारस्परिक-व्यवहारों में विश्वास-पात्रता का एक नैसर्गिक आवेग भी होता है। इसी प्रकार, प्रमाणिकता के प्रति एक स्वाभाविक विश्वास तथा यह स्वाभाविक-प्रत्याशा कि दिए गए वचनों का पालन होना भी पाई जाती है और यह बात की ईमानदारी में सुखदता और पसंदगी के तत्त्व भी और एक दुनिष्ठा में एक अन्याय स्वीकृति है। ये तथ्य हमें अंतिम परिणामों के प्रति आस्था से दूर कर देते हैं। स्टेवार्ट किसी भी स्थिति में कोई एक ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं करता है, जो तत्काल स्पष्टतया और पूर्णरूपेण आबंधात्मक हो और व्यावहारिक-मार्गदर्शन देने में पूरी तरह सक्षम हो[45]।

इस प्रकार, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रीड और स्टेवार्ट- दोनों ने ही एक अपर्याप्त और कामचलाऊ सिद्धांत के अतिरिक्त नीति-शास्त्र को ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण सिद्धांत नहीं दिया है, जिसके आधार पर स्वतः प्रमाणित प्रथम सिद्धांतों को नियमित किया जा सके, जबकि उन्हें ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत कर देने का विश्वास था।

व्हीवेल (1794-1866)

इसी दिशा में एक अधिक महत्वाकांक्षी, किंतु कम सफल प्रयास व्हीवेल के द्वारा अपनी पुस्तक एलीमेन्ट्स ऑफ मारलिटी (1846) में किया गया है। व्हीवेल का सामान्य नैतिक-दृष्टिकोण अपने स्काट-पूर्वजों से भिन्न है। मुख्यतया यह भिन्नता उस पर काट के प्रभाव के रूप में देखी जा सकती है। स्वतंत्र बौद्धिक एवं नियामक-सिद्धांत के रूप में आत्मप्रेम का उसके द्वारा किया गया निरसन और व्यक्ति के बौद्धिक साध्य के रूप में सुख के स्थान पर कर्त्तव्य के स्वीकृति-क्षुधाओं उस पर काट के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। नैतिक बुद्धि की सर्वोच्चता के आधार पर वह पांच परम सिद्धांतों की घोषणा करता है। वे सिद्धांत - 1. परोपकार, 2. न्याय, 3. सत्य, 4. पवित्रता और 5. आज्ञा हैं। थोड़े बल के साथ यह कह सकते हैं कि पांचों सिद्धांत अधिकार के पांच मुख्य विमार्गों, अर्थात् वैयक्तिक-सुरक्षा, 2. सम्पत्ति, 3. संविदा (अनुबंध), 4. विवाह, 5. शासन के समरूप हैं। उदाहरणार्थ- व्यक्ति सुरक्षा के वैयक्तिक-अहित का सामान्य कारण दुर्भावना है और उसका विरोधी परोपकार है।

पहला, दूसरा और चौथा सिद्धांत क्रमशः मानवीय-प्रेरणा के तीन वर्गों अर्थात् भावनाओं, मनोजन्य-इच्छाओं और क्षुधाओं के नियामक हैं। इस प्रकार, इनमें दो सामान्य सिद्धांतों अर्थात् सत्यनिष्ठा और नैतिक-उद्देश्य को जोड़ देने से यह सूची बहुत-कुछ रूप में सुव्यवस्थित एवं पूर्ण हो जाती है। यद्यपि जब हम निकटता से देखते हैं, तो यह पाते हैं कि आज्ञा का सिद्धांत या शासन के आदेशों का पालन राजनीतिक-निरपेक्षतावाद को लागू करने में गम्भीरतापूर्वक प्रवृत्त नहीं है, जैसा कि उससे अभिव्यक्त होता है और जिसका आंग्ल-बौद्धिक-चेतना बलपूर्वक निरसन करती है, जबकि न्याय का सिद्धांत एक पुनरूक्ति के रूप में किया गया है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वयं के अधिकार को प्राप्त करना चाहिए। वस्तुतः, व्हीवेल यह बताता है कि इस परवर्ती सिद्धांत की विधायक नियम के द्वारा व्यावहारिक रूप से व्याख्या की जाना चाहिए। यद्यपि वह असंगत रूप से यह कहता है कि मानो इस सिद्धांत ने नियमों के औचित्य और अनौचित्य का निश्चय करने के लिए एक प्रमापक प्रस्तुत कर दिया हो। पुनः, पवित्रता का सिद्धांत, अर्थात् हमारी प्रकृति के निम्न अंशों को उच्च अंगों के आधीन होना चाहिए, केवल ऐन्द्रिक-तार्किक-आवेगों पर बुद्धि की प्रधानता को परिलक्षित करता है, जो कि नैतिकता की बौद्धिक धारणाओं में निहित है। इस नैतिकता की बौद्धिक-धारणा का उपयोग उन प्राणियों के लिए है, जिनके आवेग उन्हें अपने बौद्धिक-कर्त्तव्य से विमुख करते हैं। इस प्रकार, यदि हम सुख के विचार के अतिरिक्त किसी स्पष्ट, सुनिश्चित एवं आधारभूत अंतःप्रज्ञा की अपेक्षा करते हैं, तो हमें केवल सत्यनिष्ठा (जिसके अंतर्गत प्रतिज्ञा पालन भी विहित है) के अतिरिक्त व्हीवल के सिद्धांतों में कुछ नहीं मिलता और इसकी भी स्वतः प्रामाणिकता की विशेषता अधिक निकटता से देखने पर लुप्त हो जाती है, क्योंकि यह नहीं माना गया है कि यह नियम व्यावहारिक रूप से पूर्ण है, लेकिन केवल यह कि इस नियम की विशेषताओं का निर्धारण व्यावहारिक रूप से असंभव है।

वर्त्तमान युग में जीवित नैतिक-अंतःप्रज्ञा के सिद्धांत को मानने वाले लेखकों के साथ इस विवाद में उतरना इस पुस्तक का विषय नहीं है। ये विचारक मोटे रूप से बटलर और रीड के सिद्धांतों से सम्बंधित हैं, किंतु हमारी दृष्टि से यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि अंतःप्रज्ञावादी से प्रदाय का सिद्धांत मध्ययुग से लेकर वर्त्तमान शताब्दी तक अपेक्षित संगति और जागरूकता के साथ विकसित नहीं हो पाया है, विशेष रूप से उन मूलभूत स्वयं-सिद्धियों या अंतःप्रज्ञा के द्वारा ज्ञात नैतिक तर्क के आधार-

वाक्यों के रूप में विकसित नहीं हो पाया है।

अंतःप्रज्ञावादी और उपयोगितावादी-सम्प्रदायों का विवाद

अंतःप्रज्ञावादी-सम्प्रदाय का पेले और बेंथम के उपयोगितावाद के साथ से जो विवाद है, वह मुख्यतया कर्त्तव्य की विषय-वस्तु के निर्धारण से सम्बंधित है। इस बात में बहुत ही कम संदेह होगा कि इस कर्त्तव्य की विषय वस्तु के निर्धारण के लिए उन सिद्धांतों और विधियों को पूरी तरह एवं असंदिग्ध रूप से परिभाषित करने के लिए व्यवस्थित एवं सूक्ष्म प्रयास किए गए, जिन पर कि व्यावहारिक-निष्कर्षों के लिए हम निगमनात्मक- तर्क करते हैं[46], किंतु नैतिक-नियमों का तफसील (ब्यौरा) में निर्धारण करने की पद्धति के सम्बंध में अंतःप्रज्ञावादी और उपयोगितावादी विचारों की भिन्नता वस्तुतः नैतिक-आबंध के अर्थ के बारे में मूलभूत विरोध के कारण अधिक जटिल हो गई है। पेले और बेंथम ने नैतिक-आबंध को नैतिक-नियमों का पालन करने या उन्हें तोड़ने से उत्पन्न होने वाले भावी सुखों या दुःखों का संकल्प पर पड़ने वाला प्रभाव माना था। इसी के साथ, वे दोनों हचीसन के विचारों से सहमति रखते हुए यह मानते हैं कि सामान्य सुख ही इन नियमों का अंतिम साध्य और प्रमापक है। उन्होंने सामान्य सुख के प्रत्यय को स्पष्ट और सही रूप में रखने के लिए उसे निम्न प्रकार से परिभाषित किया, उनके अनुसार, सामान्य सुख या प्रत्यय दुःखों के ऊपर सुखों की अधिकता में निहित है। सुखों और दुःखों का अंतर केवल उनके सातत्य या तीव्रता के रूप में है। उनका यह सिद्धांत अपनी इस सरलता के कारण आकर्षक बन गया, क्योंकि उचित क्या है? और हमें उसे क्यों करना चाहिए? आदि मूलभूत नैतिक-प्रश्नों का उत्तर सुख और उसकी निषेधात्मक मात्र दुःख के एक स्पष्ट प्रतीत होने वाले प्रत्यय के रूप में की, किंतु अभी तक विचारे गए इन उत्तरों का एक सिद्धांत की दृष्टि से कोई लौकिक सम्बंध नहीं था। इस आभासी एकता और सरलता ने वस्तुतः मूलभूत विरोधों को छिपा लिया और इस प्रकार आधुनिक नैतिक-विवेचना में संदिग्धता उत्पन्न की।

उपयोगितावादी सिद्धांत

पेले और बेंथम के दर्शन की मौलिकता नए सिद्धांतों के निर्माण की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम है। उनकी मौलिकता विस्तृत या तफसील- पूर्वक विवेचन करने की पद्धति में निहित है। पेले ने अम्ब्राहम टूकर उटपटांग और अस्तव्यस्त हुए विचारों से युक्त किंतु मौलिक एवं सुझावात्मक रचना के प्रति

आभार प्रकट किया है।

टूकर (1766-74)

टूकर के इस ग्रंथ में हम यह विचार पाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी संतुष्टि या अधिक सही अर्थ में संतुष्टि की आकांक्षाएं या संभावना ही एक ऐसी चालना है, जो सभी प्रेरणाओं को क्रियान्वित करती है और जो सामान्य सुख से सम्बंधित है, साथ ही, वह एक तना है और आचरण के हमारे सभी नियम एवं सम्मान की भावनाएं उसकी शाखाएं हैं। टूकर प्राकृतिक-ईश्वर-मीमांसा के द्वारा सृष्टि के रचयिता की शुभता को सिद्ध करता है। वह यह मानता है कि नए झुकाव या रुझान स्थानांतरण से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् हम किसी चील की पसंदगी उसके द्वारा बार-बार दूसरी इच्छाओं को प्रवृर्त्तित करने के आधार पर करते हैं। विशेष रूप से नैतिक- बोध का और परोपकार का निर्माण भी ऐसे ही होता है। वह परोपकार को करने वाला किसी को लाभ पहुंचाने में सुख मानता है, जो कि हमें शुभ कार्यों को करने के लिए प्रोत्साहित करता है, क्योंकि हम उन्हें पसंद करते हैं, किंतु उसकी दृष्टि में यह सही है कि सुखों या संतुष्टियों के योग की अपेक्षा से एक व्यक्ति का अपना स्वयं का सुख ही उसके कार्यों का परमसाध्य है। वह बड़ी सतर्कता से यह बताता है कि सभी संतुष्टियां या सुख एक ही प्रकार के हैं, यद्यपि उनमें मात्रा का अंतर हो सकता है, फिर चाहे व्यक्ति से गीत सुनकर, भावी जीवन में उन्नति की सम्भावना पर विचार कर, सुरुचि-पूर्ण स्वाद लेकर, प्रशंसनीय कार्यों को सम्पादित कर या संगतिपूर्ण विचारों के द्वारा यह संतुष्टि प्राप्त करे और पुनः सामान्य शुभ से उसका तात्पर्य सुख की मात्रा से है, जिसमें अपने पड़ोसी के प्रति किया गया प्रत्येक सुख एक योगदान है। यहां हम पेले के उपयोगितावाद की सब विशेषताओं को देखते हैं (1) सुख का विशुद्ध रूप से मात्रात्मक मूल्यांकन, (2) सामान्य सुख की अभिवृद्धि को ही नैतिक नियमों की कसौटी मानना, (3) व्यक्तिगत सुख को सामान्य प्रेरणा मानना, (4) प्रेरणाओं और नियमों का संबंध सर्वशक्तिमान परोपकारी सत्ता का संकल्प। यद्यपि टूकर ने वैयक्तिक और सामान्य-सुख के बीच जिस ईश्वरीय-कड़ी को माना है, उसमें एक विशेष प्रकार की अवास्तविकता है, जिस पर पेले की सहज बुद्धि ने विचार नहीं किया है। वह कहता है कि यदि व्यक्ति की कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं है, तो कोई इच्छा ही नहीं है, इसलिए ईश्वरीय समता अंत में सभी को सुख का समान भाग ही प्रदान करेगी, इसलिए अंतिम रूप में मुझे अपने उस आचरण के द्वारा अपने सुख में अभिवृद्धि

करना चाहिए, जो उस सामान्य सामूहिक हित (फंड) में, जिसका प्रशासक ईश्वर है, अधिक योग दे।

किंतु, पेले के नैतिक-दृष्टिकोण की एक सरल रूपरेखा उसकी पूर्ववर्ती पीढ़ी के एक विचारक गे के निबंध के निम्न अंश में पाई जाती है। गे का यह निबंध किन्टस के पाप का उद्भव में जुड़ा है। गे का वह अंश इस प्रकार है- 'सद्गुण का प्रत्यय जीवन के नियम का समर्थक है, वह सभी बौद्धिक-प्राणियों के कार्यों को एक-दूसरे ने सुख की दिशा में निर्देशित करता है। यह सुख सबके लिए सदैव ही आबंधात्मक है। यह आबंध सुखी होने के लिए किसी चीज को करने या छोड़ने की अवश्यता (बाध्यता) है। जो सभी स्थितियों में लागू हो, ऐसा व्यापक एवं पूर्ण आबंध तो केवल वही होगा, जो ईश्वरीय-आदेश के द्वारा लागू किया जावेगा। ईश्वर का संकल्प (जहां तक वह दूसरे के व्यवहार को निर्देशित करता है) अव्यवहित नियम या सद्गुण की कसौटी है, किंतु ईश्वर के स्वभाव से यही सिद्ध होता है कि मनुष्य-गति के निर्माण में मनुष्यों के सुख के अतिरिक्त उसकी दूसरी कोई योजना नहीं है और इसलिए ईश्वर भी मनुष्यों के आनंद की कामना करता है, अतः मेरा व्यवहार भी ऐसा होना चाहिए कि वह मानव-जाति के सुख का साधन हो सके, ताकि मानव जाति के सुख को पुनः सद्गुण की कसौटी कहा जा सके।

पेले (1743 से 1806)

यद्यपि इस सुखवादी-कसौटी के आधार पर निर्मित यथासंभव पूर्ण नैतिक-दर्शन का प्रतिपादन प्रथम पेले के ग्रंथ नैतिक एवं राजनीतिक-दर्शन के सिद्धांत में पाया जाता है। वह अपने ग्रंथ का प्रारम्भ आबंध की परिभाषा से करता है। आबंध (बाध्यता) का अर्थ है कि प्राणी किसी अन्य शक्ति के आदेश से उत्पन्न एक प्रबल प्रेरक के द्वारा अनुदेशित होता है। नैतिक-आबंध की स्थिति में आदेश ईश्वर की ओर से होता है और प्रेरणा इस जीवन के पश्चात् मिलने वाले पुरस्कार अथवा दंड की प्रत्याशा में निहित होती है। ईश्वर के आदेश को धर्मशास्त्र और निसंग की रचना-दोनों के द्वारा जाना जा सकता है, यद्यपि पेले यह मानता है कि धर्मशास्त्र नैतिकता की शिक्षा देने की अपेक्षा उसे उदाहरणों के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं और नए अंकुशों को अधिक निश्चितता से लागू करते हैं। प्रकृति (निसर्ग) की रचना उस बात को स्पष्ट करती है कि ईश्वर का संकल्प अपने प्राणियों का सुख है। इस प्रकार, पेले की नैतिक-

पद्धति नैतिक-प्रश्नों के समाधान के हेतु सामान्य सुख की अभिवृद्धि अथवा ह्रास के आधार पर कार्यों का मूल्यांकन करती है। मान्य अपराधों के दण्ड से उत्पन्न होने वाले तात्कालिक सुख जैसे किसी दुष्ट धनी व्यक्ति के सिर पर प्रहार करना। इस पद्धति की स्पष्ट आलोचनाओं से बचने के लिए वह किसी प्रकार के विधान के रूप में सामान्य नियमों की आवश्यता पर बल देता है[47], जबकि अच्छी आदतों के निर्माण और बनाए रखने को महत्त्व देकर वह आंशिक रूप से विशेष कार्यों के परिणाम की गणना करने की उलझन से भी बचना चाहता है। इस प्रकार, पेले की उपयोगितावाद-पद्धति उन विनाशक प्रवृत्तियों से मुक्त है, जिन्हें बटलर और दूसरे लोगों ने उसमें देखा है। पेले स्वयं बताता है कि वह केवल प्रचलित नैतिक और न्यायिक- विशेषताओं की व्याख्या करता है, कानून और नैतिकता के अधिकांश नियमों के द्वारा समर्पित औचित्यता के स्पष्ट आधारों को व्यक्त करता है और किंकर्त्तव्य मीमांसा के कुछ जटिल प्रश्नों का सहज बुद्धि से संगतिपूर्ण एवं सरल समाधान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार, प्राकृतिक अधिकार ऐसे अधिकार बन जाते हैं, जिनका सामान्य पालन नागरिक-शासन-संस्था से अलग रहकर भी उपयोगी होगा और जो उन आबंधक आनुषंगिक अधिकारों से, जिनकी उपयोगिता इस नागरिक-प्रशासन-संस्था पर निर्भर है, भिन्न है। इस अर्थ में वैयक्तिक सम्पत्ति अपने श्रम, अपनी कुशलता और अपनी सुरक्षा को प्रोत्साहित करने की स्पष्ट उपयोगिता के कारण स्वाभाविक है। यद्यपि सम्पत्ति का वास्तविक अधिकार भूमि के नियम के समान ही उन सामान्य उपयोगिता पर आधारित है, जिसके द्वारा कि वे नियम निर्धारित किए जाते हैं। इस प्रकार, पुनः इन कर्त्तव्य के आबंधों को स्वेच्छा से उत्पन्न आकांक्षाओं (प्रत्याशाओं) को संतुष्ट करने वाली सामान्य एवं विशेष उपयोगिता पर आधारित करके ईमानदारी और शुभ निष्ठा के कर्त्तव्यों से संबंधित अनेक समस्याओं का समाधान किया जाता है, ताकि उनकी ढिलाई को दूर किया जा सके, जो कि अंधविश्वास पर आधारित धर्म-संकोच से कम नहीं है, इसीलिए प्रचलित लैंगिक-नैतिकता के सामान्य उपयोगितावादी आधार को भी प्रभावपूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया गया। यद्यपि हम देखते हैं कि पेले की पद्धति अक्सर प्राचीन विदेशी विचार-प्रणाली के तर्कों से युक्त है। उदाहरणार्थ, वह गरीबों के दान प्राप्त करने का अधिकार का समर्थन मानव-जाति के उस प्रयोजन के संदर्भ में करता है, जिसके अनुसार मनुष्य सामूहिक सम्पत्ति के बंटवारे के लिए सहमत हुए थे अथवा एक विवाह का समर्थन पुरुषों और स्त्रियों की समान संख्या की

ईश्वरीय योजना के आधार पर करता है। दूसरे प्रसंगों में, उसके उपयोगितावादी विचार अस्त-व्यस्त हैं एवं पद्धति-विहीन हैं और अपेक्षाकृत घिसे-पिटे विषयों पर निबंध उपदेशों के रूप में विकृति की ओर अग्रसर होते हैं।

बेंथम और उसका सम्प्रदाय (1748 से 1845)

अपनी पद्धतिगत विशिष्टता तथा (सैद्धांतिक) एकता एवं संगतिपूर्णता में बेंथम का उपयोगितावाद निश्चित ही पेले के उपयोगितावाद से श्रेष्ठ है। वह सदैव ही कार्यों को उनके वास्तविक अथवा संभावित परिणामों की सुखदता या दुःखदता के संदर्भ में ही देखता है। वह इन परिणामों की ऐसी व्यापक और व्यवस्थित सूची बनाने की आवश्यकता को पूरी तरह स्वीकार करता है, जो जन-साधारण की प्रशंसा एवं निंदा के रूप में अभिव्यक्त नैतिक-मतों के प्रभावों से पूर्णतया मुक्त हो, साथ ही, जिनके आधार पर वह चरित्र का मूल्यांकन करता है, उन परिणामों को केवल अनुभवात्मक-रूप में ही जाना जा सकता है, क्योंकि जिनका अधिकांश व्यक्ति अनुभव करते हैं, ऐसे सुखों एवं दुःखों की अनुभूति को सभी देख सकते हैं। बेंथम जिस पद्धति के आधार पर सभी राजनीतिक और नैतिक निष्कर्षों को प्राप्त करता है, वे प्रत्येक स्थिति में व्यावहारिक- अनुभव के परीक्षण के विषय हैं। बेंथम यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति यह कह सकता है कि उसके लिए भरण-पोषण, काम-वासना, सामान्य इंद्रियों, सम्पत्ति, सत्ता, जिज्ञासा के सुख इनके अभाव के दुःख का क्या सहानुभूति-मूल्य है[48]। इसी प्रकार, व्यक्ति या समाज की सद्भावनाओं के सुखों और उनकी विरोधी दुर्भावनाओं के दुःखों एवं इसके साथ ही साथ श्रम और शारीरिक रोगों के दुःखों का क्या मूल्य है? वह बहुत ही अच्छी तरह से उस मूल्य का भी अनुमान कर सकता है, जिस रूप में दूसरे व्यक्ति उनका मूल्यांकन किस प्रकार करते हैं, इसलिए यदि एक बार यह मान लिया जाए कि सभी कार्य सुखों या दुःखों से निर्धारित होते हैं और उसी प्रमापक (कसौटी) के आधार पर उसका मूल्यांकन किया जाता है, तो वैयक्तिक आचरण और वैधानिक आचरण- दोनों की कला को स्पष्ट रूप से एक व्यापक, सरल और सुस्पष्ट अनुभवात्मक-आधार पर सुलझाया जा सकता है। यदि हम किसी एक कार्य की अच्छाई या बुराई की खोज करना चाहते हैं, तो हम उनमें से किसी भी एक व्यक्ति से उस खोज को प्रारंभ कर सकते हैं, जिसके हित प्रत्यक्ष रूप से उस कर्म से प्रभावित होते हैं और उस कर्म के परिणामस्वरूप उस व्यक्ति में उत्पन्न होने वाले इंद्रिय-गोचर प्रत्येक सुख या दुःख अनुभव के आधार पर

इस कर्म के मूल्य का निर्धारण कर सकते हैं। यहां हमें उन अनुभवों की तीव्रता और समयावधि- दोनों का विचार करना होगा और साथ ही निश्चितता और अनिश्चितता का भी[49], किंतु तीव्रता से भिन्न किसी गुणात्मक-अंतर की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि सुख की मात्रा के समान होने के लिए पुशपिन का खेल भी इतना ही शुभ है, जितनी एक कविता। उसके पश्चात्, हमें उन प्राथमिक-परिणामों की उत्पादकता और विशुद्धता पर भी विचार करना होगा। विशुद्धता का अर्थ है- उनकी विशेष प्रकार की भावनाओं के अनुसरण करने की प्रवृत्ति और विरोधी प्रकार की भावनाओं से अलग रहने की प्रवृत्ति, तब यदि हम इस प्रकार समीक्षित सभी सुख और दुःखों के मूल्यों का योग करें, तो सुख या दुःख की ओर की जमा राशि हमें किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा कर्म की अच्छी और बुरी प्रवृत्ति को सूचित करेगी। तब हमें इसी प्रक्रिया को उन सब व्यक्तियों, जिसके हित उससे सम्बंधित प्रतीत होते हैं, के लिए दोहराना होगा और इस प्रकार हम कर्म की सामान्य शुभ अथवा सामान्य अशुभ प्रवृत्ति की ओर पहुंच सकेंगे। वस्तुतः, बेंथम इस बात की अपेक्षा नहीं करता है कि प्रत्येक नैतिक निर्णय के पहले इस प्रक्रिया का पूरी तरह अनुसरण किया जाए, किंतु यह मानता है कि इसे हमेशा दृष्टिगत दृष्टि में रखना चाहिए और हम जितने ही इसके निकट होंगे, हमारे नैतिक निर्णय (नैतिक तर्क) उ तने ही यथार्थ हो सकेंगे।

मानलो कि इस प्रकार किस परिस्थिति में कौन-सा कर्म अपने आचरण की दृष्टि से उत्तम होगा, इसका निर्धारण किया जा सकता है। इसके बाद हमें इस सम्बंध में भी खोजबीन करनी होगी कि व्यक्ति को उस आचरण को किस प्रेरणा से करना होगा। इस प्रश्न के निदर्शनात्मक उत्तर को प्राप्त करने के लिए हमें सुखों और दुःखों को एक भिन्न दृष्टिकोण अर्थात् निमित्त कारण या साधन के आधार पर वर्गीकृत करना होगा या उनके लिए इस सम्बंध में बेंथम के मुख्य आचरण के नियमों की अनुशास्ति नाम नैतिक-अंकुश, जिनके अनुसार चलने के लिए वे मनुष्य को प्रेरित करती है। स्वयं के सुख और दुःख की प्रत्याशा से मनुष्य उपयोगी नियमों का पालन करने हेतु जिन तथ्यों के द्वारा उद्यत होते हैं, वे या तो (1) सामान्य प्राकृतिक-अवस्थाएं होती हैं, न कि किसी मानवीय या ईश्वरीय संकल्प के माध्यम के द्वारा उद्देश्यपूर्ण ढंग से रूपांतरित अवस्थाएं, अथवा (2) किसी प्रभुसत्ता के संकल्प को पालन करवाने के लिए नियुक्त न्यायाधीशों की कार्यवाही होती है या (3) प्रत्येक व्यक्ति के अपने सहज स्वभाव के अनुसार समाज के चुने हुए व्यक्ति होते हैं। इन्हें बेंथम की शब्दावली

में प्राकृतिक (भौतिक) अंकुश, राजनीतिक-अंकुश और लोकप्रियता का अंकुश या नैतिक अंकुश[50] कहा गया है। इनमें वह धार्मिक अंकुश को भी जोड़ देता है, अर्थात् वे दुःख और सुख, जिनकी प्राप्ति स्वयं सर्वोच्च अदृश्य सत्ता के द्वारा होती है। प्रथम दृष्टि में पारलौकिक परिणामों की यह स्वीकृति प्रथम के दर्शन को उस लौकिक अनुभव के सरल और इंद्रिय-गोचर आधार से ऊपर उठा देती है, जो कि विशेष रूप से हमारे ध्यान को आकर्षित करता है, किंतु सत्यता यह है कि वह धार्मिक-आशाओं और भयों को गम्भीरतापूर्वक स्वीकार नहीं करता है, सिवाय एक ऐसे प्रेरक के रूप में, जो कि वस्तुतः मानव मन को प्रभावित करता है और इसलिए यह धार्मिक-प्रेरक भी दूसरे प्रेरकों के साथ-साथ निरीक्षण और मापन के विषय हैं। बेंथम स्वयं सर्वशक्तिमान् और परोपकारी सत्ता के संकल्प का व्यक्ति और सामान्य सुख के प्रत्ययों को तार्किक-रूप से जोड़ने के साधन के रूप में उपयोग नहीं करता है[51]। इस प्रकार, वह निश्चित ही अपने दर्शन को सरल बनाता है और पेले के दर्शन में उपस्थित प्रकृति और शास्त्र के विवादास्पद निष्कर्षों से स्वयं को बचा लेता है, किंतु यह उपलब्धि एक महंगा सौदा है, क्योंकि तत्काल ही यह प्रश्न उठता है कि जिनके पालन से मनुष्यों के सामान्य सुख की अभिवृद्धि होती है, ऐसे इन नैतिक-नियमों के अंकुशों को कैसे उन सभी व्यक्तियों के लिए उचित सिद्ध किया जावे, जिनसे इनका पालन अपेक्षित है। इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर देने के लिए बेंथम ने अपने द्वारा रचित ग्रंथों में कोई प्रयास नहीं किया है। अपनी प्रारम्भिक-पुस्तक में वह स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि केवल वे ही हित, जिन्हें मनुष्य हर समय विचार के योग्य प्रेरक के रूप में पाता है, उसके अपने हैं और वह यह मानने के लिए आगे नहीं आता है कि परिणामों का सम्पूर्ण ज्ञान सामान्य सुख को साध्य बनाने के लिए सदैव ही एक यथोचित प्रेरक प्रस्तुत कर सकेगा। अपनी वृहद् रचनाओं के अनेक भागों में कानूनी और संवैधानिक-सिद्धांतों के प्रसंग में वह यह मानता हुआ दिखाई देता है कि एक व्यक्ति के हित अपने दूसरे साथियों के हितों से सदैव ही संघर्षरत रहेंगे, जब तक कि हम दण्डों के पुनर्समायोजन के द्वारा विवेकपूर्ण गणना के बेलेंस को बदलते नहीं हैं, किंतु स्पष्ट रूप से इस मान्यता के आधार पर तब तक यह नहीं माना जा सकता है कि एक व्यक्ति सदैव ही अधिकतम सामान्य सुख के द्वारा अपने सर्वाधिक सुख को प्राप्त करेगा, जब तब कि कानूनी और संवैधानिक-सुधार पूर्ण नहीं कर लिए जाते हैं। सम्भवतया, हम यह मान सकते हैं कि बेंथम अपने प्रारम्भिक-युग में एक व्यावहारिक-लोकोपकारी

के रूप में यह मानता हो कि यह उसका कार्य नहीं है कि वह उन आकस्मिक और आंशिक-संघर्षों, जो कि विश्व की वर्त्तमान अपूर्ण अवस्था में व्यक्ति और सामान्य सुख के बीच होते हैं, पर निर्भर रहे, वरन् इसकी अपेक्षा वह बलपूर्वक मनुष्यों पर यह प्रभाव डालना चाहता है कि किस सीमा तक उनके सुख वस्तुतः उन तथ्यों से अभिवृद्धि पाते हैं, जो कि सामान्य सुख को उत्पन्न करते हैं। वह यह बताता है कि कैसे ईमानदारी सामान्यतया अच्छी नीति है। किस प्रकार दूसरों की ऐच्छिक-सेवा सामान्य शुभ संकल्परूपी बैंक (अधिकोष) में लाभपूर्ण विनियोजन है। उन सुखों और दुःखों का मूल्यांकन प्रत्येक स्थिति में कितना भ्रांत है, जिनके आधार पर व्यावहारिक-रूप में स्वार्थी और दुष्ट मनुष्यों के कार्य निर्धारित होते हैं। तो भी बेंथम की मृत्यु के पश्चात् उसकी पांडुलिपियों से बोरिंग के द्वारा प्रकाशित ग्रंथ में वह स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि अनुभवात्मक-दृष्टि से ज्ञात वास्तविक मानव-जीवन में सामान्य सुख की सर्वाधिक वृद्धि करने वाला आचरण सदैव ही उसकी समाप्ति है, जो कि कर्त्ता के सुख की सर्वाधिक अभिवृद्धि करता है। यहां बुराई को एक विशुद्ध इहलौकिक-दृष्टिकोण के आधार पर संयोगों की गलत गणना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह संभव दिखाई देता है कि बेंथम ने अपने बाद के दिनों में इसे एक सच्चे सिद्धांत के रूप में स्वीकार कर लिया होगा, क्योंकि वह निश्चित रूप से यह मानता है कि सदैव ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए किसी कार्य को करते समय कार्य का वास्तविक साध्य अपना सर्वाधिक वास्तविक सुख अर्थात् उस क्षण से जीवन के अंत तक का सुख है। बेंथम इसे अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख की अपनी निरपेक्ष स्वीकृति से बिना पीछे हटे ही नैतिकता के क्षेत्र में क्या उचित या अनुचित है, इसके एक सरल किंतु वास्तविक प्रमापक के रूप में स्वीकार करता है[53]। यदि जिस आनुभविक आधार पर उसके सारे तर्क आश्रित हैं, उसे मान्य रखा जाए, तो उसकी यह मान्यता दो धारणाओं के समन्वय के लिए अपेक्षित भी है, लेकिन मानव समाज की वास्तविक परिस्थितियों में हितों की इस सामान्य संगति का अनुभवात्मक सही प्रमाण दे पाना बहुत ही कठिन है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि बेंथम के बहुत-से अनुयायियों ने उसके दर्शन की इस रिक्तता से बचने का प्रयास किया है। बेंथम के सम्प्रदाय का एक वर्ग, जिसके प्रतिनिधि जान आस्टिन हैं, पुनः पेले की ओर लौटते हुए दिखाई देता है और उपयोगितावादी-नैतिकता[54] को ईश्वरीय विधान के नियम के रूप में प्रस्तुत करते हैं। दूसरा वर्ग ग्रोटे के नेतृत्व में व्यक्ति पर सामान्य सुख के द्वारा प्रस्तुत दावों की

तीव्रता को कम करने से ही संतुष्ट है और उपयोगितावादी कर्त्तव्य को व्यावहारिक-रूप में पारस्परिक-हितों तक सीमित करते हैं, जबकि इनके विपक्ष में सामान्य सुख के प्रति वैयक्तिक-सुखों की पूर्ण आधीनता की धारणा को जे.एन. मिल के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। मिल ने राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र- दोनों क्षेत्रों में उपयोगितावाद को फैलाने और लोकप्रिय बनाने में बेंथम के सम्प्रदाय के किसी भी दूसरे सदस्य की अपेक्षा सम्भवतया अधिक कार्य किया है।

जे.एस. मिल (1806 से 1873)

मिल ने अपने छोटे-से ग्रंथ उपयोगितावाद (1861) में सामान्य सुख को व्यक्ति का परम साध्य बताने के लिए जिस ढंग से प्रयास किया है, वह कुछ जटिल और उलझनपूर्ण है। प्रारम्भ में वह ह्यूम और बेंथम के समान यह मानता है कि परम-साध्य-सम्बंधी प्रश्न अपने साधारण अर्थ में प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता है। यद्यपि वह यह मानता है कि ऐसे विचारों को प्रस्तुत किया जा सकता है, जो तर्क के आधार पर इस सिद्धांत को अपनी स्वीकृति देने में तथा इसका निर्धारण करने में सक्षम हों। इस सम्बंध में उसने वस्तुतः जो विचार (चौथे अध्याय में) प्रस्तुत किए हैं, वे संक्षेप में निम्न हैं- (1) प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वयं के लिए जो चाहता है, वह दुःखों का अभाव[55] या सुख है और वह हमेशा सुखों की मात्रा या उनके विस्तार के अनुपात में उनकी इच्छा करता है। (2) किसी वस्तु के वांछनीय होने का एकमात्र सम्भव प्रमाण यह है कि लोग वस्तुतः उसकी इच्छा करते हैं। (3) प्रत्येक व्यक्ति का सुख को इसलिए वांछनीय या शुभ है। (4) इसलिए सामान्य सुख सभी व्यक्तियों की समिष्टि के लिए शुभ है। यदि समिष्टि संकल्प के एक वास्तविक सामूहिक कार्य को सम्पन्न कर सके, तो सम्भवतया उपरोक्त विचार व्यक्ति को अपने संकल्प में सामान्य सुख को साध्य मानने के लिए प्रेरित कर सके, किंतु ये विचार मुश्किल से ही किसी व्यक्ति से यह मनवाने में सफल हुए हों कि उसे अपने स्वयं के सुख की अधिकतम मात्रा की अपेक्षा (सामान्य) सुख की अधिकतम मात्रा को अपने वैयक्तिक-आचरण के सर्वोच्च निर्देशक नियम और प्रमापक के रूप में स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि जब तीसरे अध्याय में स्पष्ट रूप से वह यह प्रश्न उठाता है कि उपयोगितावादी-नैतिकता का आबंधक स्रोत क्या है? तो उसका उत्तर पूरी तरह से बेंथम के अर्थों में नैतिक-अंकुश के कथन में निहित होता है, अर्थात् उस कर्त्ता को, जो सामान्य सुख को साध्य बताता है, अपने वैयक्तिक-सुखों को प्राप्त करना चाहिए और दुःखों से बचना चाहिए।

यद्यपि प्रेरकों के अपने इस विश्लेषण में एक दूसरे नैतिक-अंकुश पर विशेष बल देता है, जिसे बेंथम ने छोड़ दिया था। वह नैतिक अंकुश है- अपने साथियों के साथ एकता की भावना। यह एकता की भावना एक समुचित ढंग से विकसित नैतिक-प्रकृति के व्यक्ति के लिए एक प्राकृतिक-मांग उपस्थित करती है। वह मांग यह है कि उसका लक्ष्य उन दूसरे लोगों की भावनाओं के साथ संगतिपूर्ण होना चाहिए। मिल कहता है कि यह भावना बहुत से व्यक्तियों में उनकी स्वार्थपरक भावना की अपेक्षा बहुत ही कम बलशाली होती है, अथवा अक्सर इसका पूरी तरह अभाव होता है, किंतु यह भावंना जिन लोगों के मन में स्वतः ही उपस्थित होती है, उनके लिए यह एक ऐसे गुण के रूप में होती है कि जिसके बिना होना उनके लिए अच्छा नहीं है और यह धारणा भी अधिकतम सुख की नैतिकता का चरम अंकुश है। जिन व्यक्तियों में यह भावना है, वे यह मानते हैं कि उनके लिए इसका नहीं होना अच्छा नहीं है। यह मानने से मिल का प्रस्तुत तात्पर्य यह नहीं है कि इस सम्बंध में वह आश्वस्त है कि वे व्यक्ति सामान्य सुख में जितनी अभिवृद्धि करेंगे, उसी अनुपात में अपने व्यक्तिगत सुख को उपलब्ध करेंगे। इसके विपरीत, वह यह कहता है कि वर्त्तमान विश्व-व्यवस्था की अपूर्णता की अवस्था में एक व्यक्ति अक्सर दूसरे लोगों को सुख की प्राप्ति हो, इसके लिए अपने स्वयं के सुखों के पूर्ण त्याग के द्वारा ही ऐसा कर सकता है और करता है, लेकिन वह यह सोचता है कि बिना सुख की भावना के कार्य करने की चेतन योग्यता प्राप्तव्य सुखों को उपलब्ध करने का अच्छा अवसर प्रदान करती है, यह योग्यता व्यक्ति को जीवन के संयोगों से ऊपर उठाती है और उसे अपनी बुराइयों की चिंता की अधिकता से मुक्त करती है।

एपीक्यूरिनवाद व्यक्ति के सुख की परिभाषा प्रस्तुत करता है और स्टोइकवादी मनःस्थिति उस शुभ को प्राप्त करने का सबसे अच्छा अवसर प्रदान करती है। स्टोइक और एपीक्यूरियन-धारणाओं का यह विचित्र सम्मिश्रण मिल की उस स्थिति के साथ जोड़ा जा सकता है, जिसे वह बेंथम के विरोध में स्वीकार करता है। बेंथम के विरोध में मिल सुखों के मात्रात्मक-अंतर की अवहेलना करते हुए मात्रात्मक-अंतर से भिन्न गुणात्मक-अंतर स्वीकार करता है। सुख में गुणात्मक अंतर की यह स्वीकृति सुख को कर्त्तव्य की कसौटी मानने हेतु सहज बुद्धि से समन्वय करने की दृष्टि से कुछ प्रभावकारी है, किंतु यह लाभ संगति का बलिदान करके प्राप्त किया गया है। चूंकि यह देख पाना कठिन है कि जब एक व्यक्ति सुख के दो विकल्पों में से गुणात्मक दृष्टि से उच्च होने के

कारण कम सुखद विकल्प को चुनता है, तो उसने किस अर्थ में वरण के अधिकतम प्रमापक को चुना है, लेकिन गुण के इस बाह्य-तत्त्व के प्रवेश के बाद भी मिल का उपयोगितावाद कोई एक ऐसा समुचित प्रमाण प्रस्तुत कर पाता है कि सभी प्रकार के स्वभाव और प्रकृति के मनुष्य इस जीवन में वैयक्तिक-सुख के अच्छे अवसरों पर भी सदैव सामान्य-सुख के उद्देश्य से निर्धारित होंगे, यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः, उसने ऐसे प्रमाण को प्रस्तुत करने का कोई प्रयास किया है, यह कहना कठिन है।

अंत में, जब सामान्यतया यह माना जा सकता है कि समुचित नैतिक-अंकुशों की मांग ही ऐसा तथ्य है, जिसे बेंथम और मिल के उपयोगितावाद असंगत कहकर युक्तियुक्त रूप से अस्वीकार नहीं कर सकते, तथापि यह एक ऐसी मांग है कि जिसे विशुद्ध रूप से अपने आनुभविक-आधारों का परित्याग किए बिना पूरी तरह से उपलब्ध नहीं किया जा सकता। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि ऐसे दूसरे मार्ग भी हैं, जिनमें उपयोगितावादी नैतिक-दर्शन का प्रयोग उसके साथ जुड़े हुए नैतिक-अंकुश सदैव ही समुचित हैं, इस बात पर विचार किए बिना भी किया जा सकता है। (1) इसे उन लोगों के लिए एक व्यावहारिक-मार्गदर्शक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जो सामान्य सुख को अपना परम लक्ष्य स्वीकार करते हैं, चाहे वे इसे धार्मिक-आधार पर स्वीकार करते हों अथवा अपने मन पर छाई हुई निष्पक्ष सहानुभूति के आधार पर स्वीकार करते हों, अथवा यह मानते हों कि उनकी अंतरआत्मा उपयोगितावाद के सिद्धांतों के साथ संगतिपूर्ण रूप से काम करती है, अथवा अन्य किन्हीं दूसरे कारणों से, अथवा इन धारणाओं के किसी सम्मिश्रित आधार पर ऐसा मानते हों। (2) इसे एक ऐसे नियम के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है, जो निरपेक्ष रूप से पालनीय नहीं है, किंतु जिस सीमा तक वैयक्तिक और सामान्य-हित (सामाजिक-हित) सम्पत्ति हो, वहां तक पालनीय है। (3) और पुनः, इसे एक ऐसे प्रमापक के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसके द्वारा व्यक्ति दूसरे लोगों के आचरणों की प्रशंसा अथवा निंदा करने के लिए बौद्धिक-रूप से समर्थ हो सके, चाहे वे स्वयं को सदैव ही इसके अनुसार आचरण करने के लिए योग्य नहीं मानते हों। हम नैतिकता को एक ऐसे पूरक विधान के रूप में भी स्वीकार कर सकते हैं, जो सम्यक् प्रकार से जाग्रत जनता के द्वारा लोकहित के आधार पर निर्मित जनमत से समर्थित होगा।

इस अंतिम दृष्टि-बिंदु से एक नया प्रश्न इस सम्बंध में खड़ा होता है कि

वैयक्तिक-सुख का सामान्य सुख (सामाजिक सुख) से क्या सम्बंध है, इसे उन सब बातों से, जिन पर हम विचार कर रहे हैं, सावधानीपूर्वक अलग कर लेना चाहिए। यह मान लेने पर कि सामान्य सुख की अभिवृद्धि नैतिकता का परम साध्य है, नीतिवेत्ताओं और नैतिक-शिक्षकों को कहां तक व्यक्ति के कार्यों में परोपकार को एक प्रमुख चेतन प्रेरक-तत्त्व बनाने में प्रयास करना चाहिए? कहां तक उसमें इन सामाजिक-आवेगों का विकास करना चाहिए, जिनका सीधा सम्बंध साधारणतया स्वार्थवादी कहे जाने वाले आवेगों का विनाश कर दूसरों के सुखों की अभिवृद्धि करने से है। स्वार्थवादी-आवेगों से हमारा तात्पर्य उन आवेगों से हैं, जिनका उद्देश्य दूसरों के सुखों से मिलने वाले वैयक्तिक-संतोष से भिन्न प्रकार का संतोष है। इस प्रश्न पर बेंथम का दृष्टिकोण विशेष रूप से इस कथन में अभिव्यक्त होता है कि भोजन के लिए अन्य कुछ नहीं केवल आत्म-विश्वास ही कार्य करेगा। यद्यपि एक इच्छा के लिए परोपकार एक बहुत ही मूल्यवान् विषय है। यद्यपि वास्तव में उससे असहमत होते हुए भी कोम्ते के प्रभाव के कारण मिल की शिक्षा व्यावहारिक-स्वार्थ और परार्थ के बीच संतुलन को भिन्न रूप से और अधिक अच्छे ढंग से बनाती है । एक ओर मिल[56] यह मानता है कि निष्काम लोक-सेवा की भावना सभी उपयोगी सामाजिक-कार्यों के करने में एक प्रमुख प्रेरक होना चाहिए और अपने स्वास्थ्य आदि का ध्यान भी विवेक के आधार पर नहीं, किंतु केवल इसलिए रखना चाहिए कि यदि हम अपना स्वास्थ्य खो देंगे, तो हम अपने साथियों की सेवा करने में असमर्थ हो जाएंगे। दूसरी ओर, वह यह मानता है कि मोनो में जीवन इतना उच्च नहीं हो पाता है कि वह इन सभी से इंकार करने में समर्थ हो सके, जो व्यक्तियों को (तथाकथित) स्वार्थी-प्रवृत्तियों से सम्बंधित करता है और यह कि नैतिक प्रशंसा से भिन्न नैतिक-निंदा को दूसरों को नुकसान पहुंचाने वाले या दूसरे लोगों के स्वयं के सुख के प्रयत्नों में बाधा डालने वाले या कर्त्ता के द्वारा व्यक्त या अव्यक्त रूप से की गई प्रतिज्ञाओं को तोड़ने वाले कार्यों तक सीमित रखना चाहिए। इसके साथ ही, वह अव्यक्त प्रतिज्ञा के प्रत्यय को इतना व्यापक बना देता है कि उसमें उन सभी शुभ कार्यों और निष्काम सेवाओं को समाहित किया जा सकता है, जो कि मानव-जाति के नैतिक-विकास के लिए प्रचलित रही हैं। इस प्रकार, वह अव्यक्त प्रतिज्ञा के व्यापक प्रत्यय के एक ऐसे प्रमापक को स्थापित करता है, जो कि एक विकासशील समाज में सतत रूप से अधिक यथार्थता के साथ विकसित होता रहेगा। इस सिद्धांत से यह निष्कर्ष निकलता है कि न्यायसंगत आलोचना

की सीमा यह है कि उसे निंदित व्यक्ति के सुख की अभिवृद्धि के लिए प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए। मिल के दृष्टिकोण में जनमत का नैतिक-बल एक प्रकार का सामाजिक-हस्तक्षेप है। समाज के द्वारा केवल अपने संरक्षण के लिए ही इसका उपयोग करना उचित कहा जा सकता है। मिल मानता है कि किसी व्यक्ति के द्वारा अपने प्रति की गई गलती उन लोगों को भी बहुत अधिक प्रभावित कर सकती है, जो सहानुभूति या हितों की दृष्टि से उससे सम्बंधित हैं और कुछ अंश में सम्पूर्ण समाज को भी, किंतु मिल यह मानता है कि यह ऐसी असुविधा है, जिसे मानवीय-स्वतंत्रता के बड़े शुभ के लिए समाज उस सीमा तक सहन कर सकता है, जहां तक वह या तो व्यक्ति या जनता के लिए निश्चित रूप से हानिकर नहीं हो या हानिकर होने की सम्भावना निश्चित ही नहीं हो। उदाहरणार्थ - हम सामान्यतया एक साधारण नागरिक की आलोचना केवल उसके मद्यपान करने के लिए नहीं करते हैं, किंतु यदि उसकी यह नशाखोरी या मद्यपान उसे अपने कर्ज का भुगतान करने में या अपने परिवार का पालन-पोषण करने में अयोग्य बनाती है, तो वह निश्चित ही निंदा का पात्र है और इसी प्रकार एक पुलिस का सिपाही, यदि वह अपने कर्त्तव्य के समय मद्यपान करता है, तो निंदा के योग्य है।

साहचर्यवाद

यद्यपि मिल यह मानता है कि नैतिक स्थायी-भावों का नियमन सजगतापूर्वक और स्वैच्छिक रूप में अभी बताए गए अनुसार होना चाहिए, ताकि उनका क्रियान्वयन यथासम्भव सामान्य सुख के लिए सहायक हो सके। वह नैतिक-स्थायी भाव का सहानुभूति या बौद्धिक-परोपकार के साथ तादात्म्य नहीं करता है। इसके विपरीत, वह यह मानता है कि मन जब तक सद्‌गुण को स्वतः ही वांछित वस्तु के रूप में बिना उसकी उपयोगिता के चेतन संदर्भ के स्वीकार नहीं करता है, तब तक वह उपयोगिता सुसंगति की अवस्था में नहीं है। मिल मानता है कि सद्‌गुण के प्रति ऐसा प्रेम एक अर्थ में स्वाभाविक होगा, यद्यपि वह मानव-स्वभाव का चरम और अव्याख्येय तत्त्व नहीं होगा। वह इसकी व्याख्या प्रत्ययों और भावनाओं के साहचर्य के नियम के द्वारा करता है। जैसा कि हमने पूर्व में देखा था, सर्वप्रथम हार्टले ने मानसिक प्रपंच के मनो-भौतिक सिद्धांत के लिए इसका व्यापक रूप से प्रयोग किया था[57]। मिल के दृष्टिकोण के अनुसार, यह नियम दो रूपों में कार्य करता है, जिन्हें अलग-अलग करना आवश्यक है। प्रथम तो, मौलिक रूप से सद्‌गुण का मूल्यांकन नैतिकता से रहित सुखों के सहायक

तथ्यों के रूप में, दुःखों से रक्षा करने वाले तथ्यों के रूप में किया जाता है। ऐसा सद्गुण का सुखों के प्रत्यक्ष स्रोत से साहचर्य और सद्गुण-सम्बंधी नियमों के उल्लंघन का पश्चाताप के दुःख से साहचर्य होने के कारण होता है, इसलिए सद्गुण नैतिक-दृष्टि से विकसित चेतना के लिए स्वतः अपने लिए ही इच्छा का विषय होता है। जहां तक सद्गुणात्मक कार्यों के क्रियान्वयन का सम्बंध है, वे किसी व्यक्ति के अपने स्वयं के अधिकतम सुख को प्राप्त करने का एक विशेष प्रकार हैं, किंतु मिल मानता है कि सद्गुणात्मक-आचरण की यह अर्जित प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो सकती है कि उसके संकल्प करने की आदत सदैव बनी रहे। यह आदत उस अवस्था तक बनी रह सकती है, जब तक वह पुरस्कार, जिसे सद्गुणी व्यक्ति अपनी कल्याणकारी चेतना के द्वारा प्राप्त करता है, कम से कम उसने जो दुःख उठाए हैं, या जिन इच्छाओं का त्याग किया है, उसके बराबर कुछ भी हो। इस प्रकार, जब एक शूरवीर या आत्मबलिदानी व्यक्ति दूसरों के सुख की अभिवृद्धि करने के लिए अपने स्वयं के सुख के पूर्ण त्याग का स्वैच्छिक रूप से संकल्प करता है, तो वह सिवाय इसके कि यह भविष्य में इसके त्याग के सही अनुपात में सुखद होगा और किसी चीज की इच्छा नहीं करता है, किंतु अपनी इसी आदत के द्वारा वह उसका भी संकल्प कर सकता है, जो कुल मिलाकर दुःखद हो। यह ऐसा उसी नियम के आधार पर करता है, जिसके अनुसार एक कंजूस व्यक्ति पहले सुख के लिए धन प्राप्त करता है, किंतु बाद में धन के लिए ही सुख का त्याग कर देता है। वे नैतिक स्थायीभाव जो कि अंत में इस शक्ति को प्राप्त करते हैं, मिल और हार्टले के दृष्टिकोण में अनेकों जटिल तथ्यों से निर्मित होते हैं। वे इतने मिश्रित होते हैं कि अनेक स्थितियों में उनके परिणामस्वरूप होने वाली भावना अपने घटकों के योग से बिलकुल भिन्न होती है। साधारण व्यक्तियों में उनकी उत्पत्ति निश्चित ही आंशिक-रूप से कृत्रिम होती है। आंशिक-रूप से वे जैसा कि बेन ने कहा है, विशेषज्ञों या शासन के अधीन अंतर्विवेक के शिक्षण के कारण होता है, जिसे कि भ्रांत होने की सम्भावना बनी रहती है। इसके द्वारा उत्पन्न होने वाले नैतिक-आवेग कभी-कभी बहुत ही भद्दे और शरारतपूर्ण होते हैं। यद्यपि कृत्रिम रूप से उत्पन्न होने वाले स्थायीभाव बौद्धिक-संस्कृति के समान विश्लेषण (अलगाव) की विनाशकारी शक्ति को भी उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं, लेकिन जहां तक नैतिक स्थायीभाव उपयोगितावादी-नियमों के साथ संगति रखते हैं, वहां तक वे मानव-जाति की सामाजिक-भावना के जिन प्राकृतिक-स्रोतों से आंशिक-रूप से उत्पन्न होते हैं, उनके

स्थायी प्रभाव के द्वारा इस विनाशक-विश्लेषण के विरुद्ध अपने अस्तित्व को बनाए रखते हैं। मानव-जाति की ये सामाजिक-भावनाएं निम्न दो बातों से मिलकर बनी हैं - (1) दूसरों के सुख-दुःखों के साथ सहानुभूति तथा (2) पारस्परिक-सहयोग की आवश्यकता और हितों की पारस्परिक-समाविष्टता की चेतना के कारण दूसरों के कल्याण की चिंता करने की आदत। हमारे न्याय और अन्याय के प्रत्ययों से सम्बंधित विशिष्ट स्थायीभाव की एडम-स्मिथ के पश्चात् व्याख्या करते हुए मिल कहता है कि वे मूलतः बौद्धिक-स्वहित और व्यापक सहानुभूति के द्वारा निर्मित एक नैतिक रोष ही हैं। अन्याय से हम क्या समझते हैं, यही कि वह एक अधिन्यासी व्यक्ति का किया गया ऐसा नुकसान है, जो किसी नियम को तोड़कर किया गया है और जिसके तोड़ने वाले को हम सजा देते हैं। वह सजा, जिस व्यक्ति को नुकसान पहुंचाया गया है, उसके और सम्पूर्ण समाज के हित के लिए, जिसमें हम भी सम्मिलित हैं, दी जाती हैं। नैतिक-स्थायीभावों की उत्पत्ति के सम्बंध में साहचर्यवादी-मनोविज्ञान के जीवित प्रतिनिधि बने और इसी सम्प्रदाय के अन्य लेखकों का दृष्टिकोण मोटे रूप से मिल के समान है। नैतिक-स्थायीभाव के पूर्व तथ्यों के संयोजन के सम्बंध में भिन्न-भिन्न लेखकों के द्वारा अलग-अलग धारणाएं प्रस्तुत की गई हैं। विशेष रूप से, श्री बेन विशुद्ध निष्काम सहानुभूति की क्रिया पर अधिक बल देते हैं[58], लेकिन वे संयोजन की प्रक्रिया के प्रस्तुतिकरण में सामान्यतया इस बात से सहमत हैं कि वह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो एक सामान्य व्यक्ति के नैतिक-प्रयत्नों को आखिरकार उस समाज के सामान्य हितों से संगतिपूर्ण बनाते हैं, जिसका कि वह सदस्य है, ताकि सामान्य व्यक्ति की चेतना उपयोगितावादी-सिद्धांतों के आधार पर यद्यपि आचरण की निर्भ्रांत मार्गदर्शक तो नहीं, किंतु उसमें उपयोगी मानी जा सकती है और विशेष रूप से वहां, जहां उपयोगितावादी-गणना कठिन और अनिश्चित हो[59]।

प्रचलित नैतिक विरोध

विकासवाद एवं साहचर्यवाद

अंतरात्मा की इस साहचर्यवादी-व्याख्या की सामान्य प्रामाणिकता यद्यपि अभी भी एक विवादास्पद विषय है। सहज ज्ञानवादी-लेखकों के द्वारा निरंतर इसका विरोध किया जाता रहा है। (हार्टले के विपरीत) वे सामान्यतया यह मानते हैं कि बहुत ही आदिम-भावनाओं से नैतिक-स्थायीभावों का यह विकास प्रथम की प्रामाणिकता का निर्धारक तत्त्व होगा। नैतिक-स्थायीभावों की इस उत्पत्ति के सम्बंध

में उनका मुख्य तर्क उस प्रारम्भिक-अवस्था पर आधारित है, जिसमें ये स्थायीभाव बच्चों के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। वे इस बात पर बल देते हैं कि यह तर्क इन स्थायीभावों से सम्बंधित परिणामों को उत्पन्न करने हेतु साहचर्य के लिए मुश्किल से ही समय प्रदान कर पाता है। इस तर्क का उत्तर वर्त्तमान युग में वंशानुक्रम के दैहिक सिद्धांत को मन पर लागू करके दिया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार, माता-पिताओं के मस्तिष्क या मन में विचारों के साहचर्य या अन्य प्रकार से उत्पन्न परिवर्तन उनकी संतानों में संकलित होने की प्रवृत्ति रखते हैं, ताकि नैतिक-इंद्रिय या अन्य किसी शक्ति या वर्त्तमान मनुष्य की अतिसंवेदनशीलता के विकास की उत्पत्ति की कल्पित पद्धति के परिवर्तन के बिना परिकाल्पनिक-रूप में मानव जाति को प्राक्-ऐतिहासिक जीवन तक ले जाया जा सके। वर्त्तमान में वंशानुक्रम-सम्बंधी यह दृष्टिकोण हार्बिन के प्राकृतिक-वरण के सिद्धांत से सामान्यतया सम्बंधित माना जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार, जीवित प्राणियों की विभिन्न जातियां अपनी प्रजनन की एक श्रृंखला में जिन परिस्थितियों में जीवन जीती हैं, उनके अनुसार क्रमशः ऐसे अंगों, शक्तियों एवं आदतों से सम्पन्न हो जाती हैं, जो कि उनके अस्तित्व को बनाए रख सकती हैं। इस सिद्धांत ने नैतिक-स्थायीभावों के इतिहास में एक नया प्राणिक तथ्य प्रस्तुत किया। यद्यपि यह तथ्य किसी भी रूप में प्राथमिक (आदिम) भावनाओं के सम्मिश्रण के द्वारा नैतिक-स्थायीभावों के निर्माण के प्राचीन मनोवैज्ञानिक-सिद्धांत से असंगत तो नहीं है, फिर भी इसे मानव-जीवन का संरक्षण करने वाले स्थायीभावों के अस्तित्व के समर्थन के द्वारा एवं जीवन-रक्षण के विरोधी स्थायीभावों को बाधित करके साहचर्य के नियमों के प्रभावों का नियामक एवं परिष्कारक माना जाना चाहिए।

विकासवादी-नीतिशास्त्र

नैतिक-विकास-सम्बंधी यह दृष्टिकोण डार्विन के सिद्धांत के व्यापक समर्थन के कारण वर्त्तमान में अधिक प्रचलित है, साथ ही, इस सिद्धांत ने नैतिक-चिंतन को भी अधिक मौलिक रूप से प्रभावित किया है। इससे न केवल नैतिक-स्थायीभावों के विकास की साहचर्यवादी-व्याख्या का परिष्कार किया है, अपितु इसने कार्यों की शुभ और अशुभ-प्रवृत्तियों के निर्धारण की बेंथम की प्रणाली और कसौटी को भी निम्न आधारों पर अलग रख दिया है-

(1) प्रथमतया, इसने दुःख पर सुख की अधिकता के लिए मानव-समाज या मानव-जाति के संरक्षण के अधिक वस्तुनिष्ठ जैविक-प्रत्यय को प्रस्तुत किया है, अथवा

इससे भी अधिक सामान्य रूप से जीवन की मात्रा को कार्यों और चरित्रों का मूल्यांकन करने वाला प्रेरक-साध्य माना है। दूसरे, इसने आनुभविक-उपयोगितावादी तर्क के स्थान पर नैतिक-नियमों को जैविक एवं सामाजिक-नियमों के द्वारा निगमित करने का प्रयास किया है, वह दूसरी प्रक्रिया कभी-कभी नैतिकता को वैज्ञानिक आधार पर स्थापित करने का प्रयास कहलाती है। इस निगमन की प्रक्रिया में जो साध्य नैतिक-नियमों के लिए वैज्ञानिक-कसौटी प्रस्तुत करता है, उस साध्य को विकासवादी-सम्प्रदाय के विभिन्न विचारकों ने अलग-अलग रूप से परिभाषित किया है। इस वस्तुनिष्ठ साध्य का सुख से क्या सम्बंध है, इस सम्बंध में उनमें अधिक मौलिक मतभेद हैं। कुछ विकासवादी-लेखकों ने जीवन के संरक्षण या विस्तार के वास्तविक परमसाध्य माना है और सुख या आनंद को मात्र उसका एक सहयोगी तत्त्व माना है, किंतु इसे वैज्ञानिक-रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया है, यद्यपि हर्बर्ट स्पेंसर ने, जो कि विकासवादी-नीतिशास्त्र के एक प्रभावशाली विचारक हैं, इस दृष्टिकोण का विरोध किया है। वस्तुतः, उनका कथन है कि सार्वभौम-आचरण का सर्वेक्षण अर्थात् सभी प्रकार के जीवित प्राणियों के कार्य हमें यह बताते हैं कि जीवन की मात्रा को चौड़ाई[60] के साथ-साथ लम्बाई में भी मापना चाहिए। उसे एक ऐसे साध्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए कि जिससे जीवन का विकास होता जाए, वे कार्य उससे अधिकाधिक समायोजित होने की प्रवृत्ति रखने लगे हैं, किंतु वह यह मानता है कि जीवन के संरक्षण के लिए प्रवृत्त होने वाला आचरण ही केवल शुभ है और सामान्यतया ऐसा माना जाता है, इस आधार पर जीवन की सहवर्त्तिता सुखद-अनुभूतियों की अधिकता से है। वह स्पष्ट रूप से यह नहीं कहता है कि सदैव ही जीवन की सहवर्त्तिता सुख के साथ-साथ होती है, तथापि वह यह मानता हुआ प्रतीत होता है कि नैतिक-उद्देश्यों के लिए जीवन की अधिकतम मात्रा की उपलब्धि के सहायक कार्य और सुखद-अनुभूतियों की अधिकतम मात्रा की उपलब्धि के सहायक कार्य सहगामी माने जा सकते हैं। इस सहगामिता (समकालीनता) को स्वीकार करने की उसकी तत्परता का कारण यह है कि वह नैतिक दर्शन को प्राथमिक रूप से एक यथार्थ मानव-प्राणी के आचरण से सम्बंधित नहीं मानता है। उसके अनुसार, नैतिक-दर्शन का प्राथमिक-कार्य एक आदर्श समाज में सामान्य आचरण का निर्माण करना है। वह समाज इतना आदर्श होगा कि उसमें सामान्य आचरण तब कहीं दुःखरहित सुख को उत्पन्न करेगा। स्पेंसर के दृष्टिकोण के अनुसार, वही आचरण निरपेक्ष रूप से उचित कहा जा सकता

है, जिसके परिणाम दुःख से अमिश्रित (रहित) हों। ऐसा आचरण, जिसके परिणाम सुयश हों अथवा दुःख के सहचारी हों, आंशिक-रूप से अनुचित ही होगा और नीति-विज्ञान प्रथमतया निरपेक्ष रूप से उचित का बोध कराने वाले सत्यों की एक पद्धति है और इसलिए यह स्पष्ट है कि ऐसे सत्य प्रत्यक्ष रूप से वास्तविक आदमी के कार्यों से सम्बंधित नहीं हैं। एक निरपेक्ष नीतिशास्त्र कार्यों और उनके परिणामों के बीच अनिवार्य सम्बंधों की स्वीकृति से सम्बंधित है और उसमें निश्चित सिद्धांतों के द्वारा यह निगमन किया जाता है कि एक आदर्श समाज में कौन-सा आचरण हितकारी और कौन-सा आचरण अहितकारी होगा। जब इस निष्कर्ष का क्रियान्वयन किया जावेगा, तो यह एक निम्न स्तर से सम्बंधित होगा, जिसे स्पेंसर सापेक्ष-नैतिकता कहते हैं और इस प्रकार, निरपेक्ष और सापेक्ष-नैतिकता को अलग करते हैं। सापेक्ष-नैतिकता साधारणतया अनुभवात्मक पद्धति से यह निर्णय करती है कि निरपेक्ष नैतिकता के नियम उस देश और काल में मानव प्राणियों पर कहां तक लागू किए जा सकते हैं।

मुझे यह जानकारी नहीं है कि विकासवादी-दृष्टिकोण के आधार पर नीतिशास्त्र के किसी अन्य लेखक ने स्पेन्सर के सापेक्ष और निरपेक्ष-नैतिकता के सम्बंधों के सिद्धांत को स्वीकार किया हो, किंतु दूसरे अन्य विकासवादी-लेखक भी हैं, जिनमें प्रतिनिधि के रूप में लेस्लीस्टीफन[61] को लिया जा सकता है। वे जहां बौद्धिक आचरण के परमसाध्य के रूप में सुख को स्वीकार करते हैं, वहीं वे इस साध्य के लिए कार्यों की प्रेरणा को अनुभवात्मक-रूप में स्वीकार करने की बेंथम की पद्धति को अस्वीकार भी करते हैं। वे यह जानते हैं कि नैतिकता की एक अधिक वैज्ञानिक कसौटी समाजरूपी शरीर की कुशलता हेतु सहायक कार्यों की खोज के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। कुशलता से तात्पर्य स्वयं अपने (समाज के) संरक्षण से है। इसकी प्राचीन उपयोगितावादी-दृष्टिकोण से तुलना करते समय यह बात महत्त्वपूर्ण होगी कि विरोध को अतिरंजित रूप से प्रकट नहीं किया जाए। सम्भवतया, किसी भी सम्प्रदाय का कोई भी ऐसा नीतिवेत्ता नहीं होगा, जो समाज के संरक्षण के नियमों और आदतों के मौलिक महत्त्व से इंकार करे। निश्चित ही कोई भी उपयोगितावादी निराशावादी नहीं है, अतः शायद ही कोई उपयोगितावादी ऐसा होगा, जो इस परिणाम की उपलब्धि को नैतिकता के एक अपरिहार्य कार्य के रूप में स्वीकार नहीं करेगा। अपने उपयोगितावादी-दृष्टिकोण के आधार पर वह यह मानेगा कि नैतिक विकास के प्रथम स्तरों पर, जबकि जीवित रहना ही मानव-जाति के लिए सबसे कठिन था, तब यही

नैतिकता का मुख्य कार्य हो सकता था, इसलिए विचार का प्रथम प्रश्न यही है कि क्या हम संरक्षण को एकमात्र साध्य के रूप में स्वीकार करें और सुरक्षित अस्तित्व को अधिक वांछनीय बनाने के स्थान पर क्या केवल मानव-जाति के सामान्य अस्तित्व की सुरक्षा से ही संतुष्ट हो जावें, अथवा संक्षेप में कल्याण के प्रत्यय को भविष्य में अस्तित्व को बनाए रखने की धारणा में ही सीमित कर दे। समाज सभी शरीर के संरक्षण में सहायक होने को ही एक ऐसी कसौटी मान ले, जो नैतिकता के वैज्ञानिक पुनर्निर्माण पर पूरी तरह से लागू होती हो।[62]

आशावाद और निराशावाद

यह कहना सरल नहीं है कि जीवन और सुख में मानने वाला यह दृष्टिकोण, जो कि स्पेन्सर और स्टीफन के नैतिक-दर्शन का आवश्यक अंग है, किस सीमा तक कम या अधिक रूप में आज्ञावादी है। इसे इन अध्येताओं के द्वारा स्वीकार किया गया, जिन्होंने अपने-आप को जीवन विज्ञान और समाज-विज्ञान की खोजों में लगाया था और जिनकी संख्या में अभिवृद्धि होती रही। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रचलित दृष्टिकोण सामान्यतया जीवन को कुल मिलाकर दुःखों पर सुखों के आधिक्य का सहचारी मानता है, यद्यपि इस मान्यता की सत्यता समय-समय पर विचारपूर्ण तर्कों के प्रस्तुतिकरण से विवादास्पद बनी रही है। अंशतः तो यह विवादास्पद एवं अपने निराशावादी दर्शन के कारण थी, जिसका कि संक्षिप्त विवरण बाद में दिया गया है। जिन विषयों पर निराशावादी-दार्शनिक अधिक बल देते हैं, वे निम्न हैं- (1) इच्छा की अवस्था की दुःखदता और असंतुष्ट आकांक्षाएं, जो कि अब भी जीवन-प्रक्रिया का एक व्यापक और अपरिहार्य अंग हैं, (2) सुख की तुलना में दुःख की बहुत ही अधिक तीव्रता, विशेष रूप से शारीरिक-दुःख की और वह भी मनुष्यों के सम्बंध में, (3) वर्त्तमान के दुःखों और पीड़ाओं से थोड़े बहुत बचाव के लिए भी अधिकांश लोगों का कष्टकर श्रम करने हेतु विवश होना। इन बातों पर और कुछ दूसरे आधारों पर निकाले गए इस परम्परागत निकर्ष का इंग्लैण्ड से अभाव ही है कि कुल मिलाकर मानव-जीवन सुखद होने की अपेक्षा दुःखद ही अधिक है। यह एक व्यापक विचार है कि सभ्य समाजों में भी जनता के द्वारा उपलब्ध सुखों का औसत दुःख की अपेक्षा बहुत ही कम है, साथ ही यह कि लोकहित का वर्त्तमान उद्देश्य मानव-जीवन में मात्रात्मक-वृद्धि की अपेक्षा गुणात्मक-विकास ही होना चाहिए।

अनुभवातीतवाद

अनुभववादी-उपयोगितावादियों तथा विकासवादी-सुखवादियों या शुद्ध और सरल विकासवादियों के बीच के जिन विरोधों का हमने अभी संकेत किया है, वे विरोध अधिकांश रूप में इस सामान्य सहमति के आधार पर हैं कि मानव-जीवन मूलतः समग्र प्राणीय-जीवन का ही एक अंग है और मानव-जीवन के किसी तथ्य की अच्छाई या बुराई का मूल्यांकन, किसी सीमा तक इस समग्र प्राणीय-जीवन पर लागू होने वाले सिद्धांतों के आधार पर ही होना चाहिए, यद्यपि इसका स्पष्ट खण्डन वर्त्तमान में अधिक प्रचलित एक विचारधारा के द्वारा हुआ है, जो यह मानती है कि एक बुद्धिमान् प्राणी के रूप में मनुष्य का शुभ मूलतः उसकी आत्मचेतना पर निर्भर है। यही आत्मचेतना मानव-जीवन को पशुओं के मात्र संवेदनशील जीवन से अलग करती है। जिन जर्मन-स्रोतों से यह दृष्टिकोण मुख्यतया विकसित हुआ है, उनका विवेचन अगले अध्याय में संक्षेप में किया जाएगा। इंग्लैण्ड में इस सिद्धांत का प्रतिपादन ग्रीन के ग्रंथ में अधिक विस्तार और महत्त्वपूर्ण व्याख्याओं के साथ पाया जाता है।

टी. एच. ग्रीन (1836-1842)

ग्रीन के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति का शुभ या साध्य अपनी सत्ता की शक्तियों का साक्षात्कार करना है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक आत्मचेतन प्राणियों के समूह के रूप में एक के रूप में अपनी सत्ता रखता है, उसमें एक ईश्वरीय-मनस या एक परम-चेतना, जो कि विश्व के अस्तित्व में निहित है, आंशिक-रूप में अपने-आप को अभिव्यक्त करती है। ऐसी प्रत्येक आत्मा या व्यक्ति संघटक-बुद्धि के रूप में आत्मचेतन होकर अनिवार्य रूप से अपने आप को एक ऐसी वस्तु के रूप में जानता है, जो प्राकृतिक-विश्व से अलग है और जिसका निर्माण उसकी संघटक-बुद्धि ने किया है, यद्यपि एक दृष्टि से उसका अस्तित्व इस प्रकृति का एक अंग है, किंतु वह केवल प्राकृतिक नहीं है। तदनुसार, उसके उद्देश्य और क्रियाकलाप प्राकृतिक-नियमों के आधार पर विवेचना के योग्य नहीं हैं। वह स्वयं प्रकृति से भिन्न है, इसलिए उसका सच्चा आत्मसंतोष या शुभ न तो उन आवश्यकताओं की पूर्त्ति में पाया जा सकता, जो कि उसके प्राणीय-शरीर के कारण है और न उन सुखों की कल्पनीय श्रृंखला में है, जो कि उपभोग के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। वस्तुतः, उसका सच्चा शुभ अवश्य ही शाश्वत होना चाहिए, जैसा कि उसका वह रूप है, जिसे वह संतुष्ट करता है। निश्चित ही ऐसे शुभ को आत्मचेतन प्राणियों के सामाजिक-जीवन में उपलब्ध किया जाना

चाहिए। इसका एक पूर्ण एवं निश्चित विवरण अभी तक नहीं दिया जा सका है, क्योंकि हम केवल उन शक्तियों को छोड़कर, जिन्हें प्राप्त कर लिया जाता है, मनुष्य की शक्तियां क्या-क्या हैं, यह नहीं जान सकते। अभी तक प्राप्त वे शक्तियां भी केवल आंशिक ही हैं, लेकिन उनका आंशिक-निर्धारण नैतिकता के प्रचलित नियमों में पाया जा सकता है। यद्यपि प्रचलित नैतिक-नियमों को निरपेक्ष रूप से और निर्विरोध रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, तथापि वे संघर्षशील आवेगों के विरुद्ध अप्रतिबंधित रूप से बंधनकारक हैं, सिवाय आचरण में अच्छाई के लिए की गई उस इच्छा के, जो कि नैतिक-वातावरण से उत्पन्न होती है। एक शुभ संकल्प ही निरपेक्ष शुभ है। जब हम अपने आप से पूछते हैं कि ये मूलभत आकार कौन-सै हैं, जिनमें सच्चे शुभ के लिए संकल्प (जो कि शुभ होने का संकल्प है) को प्रकट होना चाहिए, तो हमारा उत्तर भी सद्‌गुणों के ग्रीक-वर्गीकरण की दिशा का ही अनुसरण करेगा। यद्यपि हमारे दृष्टिकोण को सद्‌गुणों की वर्त्तमान धारणाओं तक ही सीमित नहीं होना चाहिए, इसे सद्‌गुणों के वर्गीकरण में कला एवं विज्ञान को तथा इसके साथ-ही-साथ विशेष रूप से नैतिक-सद्‌गुणों को भी समाहित करना चाहिए। शुभ संकल्प मानव समाज के हित में सत्य को जानने का, सुंदर को निर्मित करने का, दुःखों एवं भयों को सहन करने का तथा सुख के आकर्षणों का प्रतिरोध करने का संकल्प है। अंत में, हमें यह बताया गया है कि सच्चे शुभ का प्रत्यय स्वयं के शुभ में और दूसरों के शुभ में कोई अंतर स्वीकार नहीं करता है। उसे उन विषयों की उपलब्धि से नहीं प्राप्त किया जाता है, जिनके लिए समाज में प्रतिस्पर्धा होती है, यद्यपि सच्चे शुभ का वैज्ञानिक और कलात्मक-क्षमताओं की उपलब्धि में किस प्रकार वस्तुतः अंतर्भाव होता है, इसे स्पष्ट रूप से विवेचित नहीं किया गया है।

स्वतंत्र-संकल्प

हाव्स से लेकर वर्त्तमान समय तक के इंग्लिश-नीतिवेत्ताओं के विचारों के विकास का जो विवरण हमने इस अध्याय में प्रस्तुत किया है, उसमें संकल्प की स्वतंत्रता के प्रश्न पर विभिन्न नीतिवेत्ताओं के दृष्टिकोण के विवेचन को छोड़ दिया था। इसे छोड़ने का कारण यह था कि उनमें से अनेक लेखकों ने या तो इस कठिन और उलझनपूर्ण प्रश्न का विवेचन ही नहीं किया था, या इनके नैतिक-महत्त्व को बहुत ही नगण्य करके इसकी चर्चा की थी। यह विवेचन का दूसरा रूप मेरे दृष्टिकोण के साथ संगति रखता है। उन पाठकों को, जिन्हें

किसी दूसरे दृष्टिकोण को अपनाने के लिए तैयार किया जा सकता है, इस तुलनात्मक-उदासीनता का स्पष्ट कारण देने के लिए यह आवश्यक है कि उन तीन विभिन्न अर्थों को, जिनमें स्वतंत्रता को संकल्प या मनुष्य की अंतरात्मा के साथ जोड़ा जाता है, अलग-अलग कर लिया जावे, उदाहरणार्थ (1) पहले अर्थ में स्वतंत्रता किसी प्रेरणा के बिना या संघर्षशील प्रेरकों के परिणामी-बल के विरुद्ध कार्य के विभिन्न विकल्पों के बीच चयन करने की सामान्य शक्ति है, (2) दूसरे अर्थ में, जब क्षुधाएं बुद्धि के साथ विरोध में हों, तब बुद्धि और उन क्षुधाओं (या दूसरे अबौद्धिक-आवेगों) की प्रेरकों के बीच चयन करने की शक्ति है और (3) तीसरे अर्थ में, वह कितने ही प्रबल एवं संघर्षशील आवेगों के होते हुए भी विवेकपूर्वक कार्य करने का गुण है। इसे मध्ययुगीन धर्मशास्त्रियों ने कहा है। यह स्पष्ट है कि इस तीसरे अर्थ में स्वतंत्रता पहले और दूसरे अर्थों की स्वतंत्रता से एक बिलकुल भिन्न तथ्य है और वस्तुतः यही एक ऐसी आदर्श अवस्था है, जिसकी किसी भी नैतिक व्यक्ति को उस गुण की अपेक्षा अभिलाषा करना चाहिए, जिसका धारक मानवीय संकल्प कहा जाता है। पुनः, स्वतंत्रता का प्रथम अर्थ दूसरे अर्थ से भिन्न है, इसमें प्रथम अर्थ स्वतंत्रता की स्वीकृति का कोई नैतिक-महत्त्व प्रतीत नहीं होता है, सिवाय इसके कि यह मानवीय-आचरण के सम्बंध में हमारे सभी अनुमानों की सामान्य अनिश्चितता को सूचित करती है। अपने दूसरे अर्थ में भी मानवीय-संकल्प की स्वतंत्रता को उत्तमता या औचित्य का परीक्षण करने वाला तथ्य मुश्किल से ही कहा जा सकता है, यद्यपि कर्त्तव्य की स्पष्ट धारणाएं भी अक्सर निरर्थक होंगी, यदि उन कर्त्तव्यों के करने हेतु व्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए मनुष्यों में पर्याप्त आत्म-संयम नहीं हो। जब हम यह प्रश्न पूछते हैं कि गलती करने के लिए क्या व्यक्ति को सजा देना उचित है? तब यह जानना महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है कि क्या व्यक्ति (जो कुछ उसने किया है) उससे भिन्न कुछ कर सकता था, लेकिन प्रतिफलात्मक न्याय के सम्बंध में संकल्प की स्वतंत्रता को वस्तुतः जो महत्त्व दिया जाता है, वह सही अर्थ में नैतिक होने की अपेक्षा धार्मिक अधिक है, कम-से-कम इस युग की हमारी विवेचना के अधिकांश भाग में। हम, 17 वीं शताब्दी के प्रोटेस्टेण्ट धर्मज्ञों की चर्चाओं में इस प्रश्न को जो महत्त्व दिया गया था, उसका विरोध नहीं करते हैं, फिर भी हाब्स से लेकर ह्यूम तक इंग्लिश-नीतिवेत्ताओं ने सामान्य रूप में कर्त्तव्य के साथ अथवा विशेष रूप में न्याय के साथ संकल्प की स्वतंत्रता के सम्बंध पर बल दिया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता है। हाब्स की मान्यता यह है कि स्वेच्छा केवल प्रतियोगी

इच्छाओं का अदल बदल है तथा ऐच्छिक-कार्य अंतिम क्षुधा का तात्कालिक-अनुसरण है और अधिक निश्चित लाक के निर्धारणवाद की मान्यता यह है कि संकल्प वर्त्तमान के सबसे बड़े तनाव से चालित होता है, किंतु दोनों ही विचारकों में से कोई भी मानवीय-उत्तरदायित्व में आस्था रखते हुए किसी समन्वय की अपेक्षा करता हुआ नहीं दिखाई देता है। क्लार्क के उस दर्शन में भी, जिसमें अनिर्धारणवाद निस्संदेह एक मुख्य प्रत्यय है, संकल्प-स्वातंत्र्य का महत्त्व नैतिक-दृष्टि की अपेक्षा तात्त्विक-दृष्टि से ही है। क्लार्क का दृष्टिकोण यह है कि भौतिक-विश्व की इस रचना में आभासी ऐच्छिक-विशेषता की वास्तविक व्याख्या रचनात्मक-स्वतंत्र संकल्प (सृष्टा के संकल्प) के संदर्भ में ही की जा सकती है। शेफ्ट्सबरी और सामान्यतया सभी स्थायीभाववादी-नीतिवेत्ताओं की नैतिक-विवेचना में तो यह प्रश्न स्वाभाविक-रूप से ही दृष्टि से ओझल हो जाता है।

सजग विचारक बटलर इसकी कठिनाइयों को यथासम्भव व्यावहारिक-दर्शन के द्वारा दूर करने की कोशिश करता है, यद्यपि दार्शनिक-विवेचन की उस समग्र पद्धति के प्रति रीड के द्वारा प्रवर्त्तित महत्त्वपूर्ण विरोध के कारण इस प्रश्न की दिशा कुछ भिन्न हो जाती है, जो कि हमें अंत में ह्यूम तक ले जाती है।

संकल्प की स्वतंत्रता पर रीड के विचार

केवल सहज-ज्ञानवादी धारणाओं में संकल्प की स्वतंत्रता का प्रत्यय एक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखता है, अपितु स्काटिश-सम्प्रदाय की दृष्टि में भी यह दर्शन का कार्य था कि वह संकल्प की स्वतंत्रता की विवेचना करे और उसका बचाव करे। इस सम्प्रदाय के द्वारा सामान्यतया यह माना गया है कि यह नैतिक-विवेचना का एक पूर्णतया आवश्यक विषय है और अच्छे और बुरे के पुरस्कार या दंड के निर्णय से अपरिहार्य रूप से जुड़ा हुआ है। ये निर्णय नैतिक-चेतना का एक आवश्यक अंग माने गए हैं। वस्तुतः, रीड दो मुख्य तर्कों के आधार पर संकल्प की स्वतंत्रता को सिद्ध करता है। 1. क्रियाशील शक्ति की सामान्य चेतना और 2. उत्तरदायित्व की सामान्य चेतना। रीड प्रथम तर्क यह देता है कि हममें प्रारम्भ से ही यह एक सामान्य और अनिवार्य धारणा है कि हम कार्य करने में स्वतंत्र हैं, अतः इसे हमारी रचना का ही एक परिणाम होना चाहिए और इसे अविश्वसनीय मानना हमारे रचयिता का ही निरादर होगा और यही अविश्वसनीयता सामान्य संदेहवाद का आधार प्रस्तुत करती है, किंतु इस तर्क का बल रीड की इस बात से कम हो जाता है कि असभ्य राष्ट्रों की यह

मान्यता स्वाभाविक है कि सूर्य, चंद्र, समुद्र और हवाएं सक्रिय शक्तियां हैं, जबकि दर्शन का विकास उन्हें जड़ और निष्क्रिय बनाता है, लेकिन रीड का दृष्टिकोण यह है कि सक्रियता के सामान्य विचार का कहीं-न-कहीं सम्यक् उपयोग होना चाहिए, जबकि चिंतन हमें यह बताता है कि यह सक्रियता का प्रत्यय केवल मानवीय-संकल्प की स्वतंत्रता में ही सम्यक् रूप से प्रयुक्त हो सकता है। एक ऐसा तथाकथित कर्त्ता, जिसके कार्य अपने कारणों के अनिवार्य परिणाम हैं और जो संकल्पकर्त्ता से भिन्न है, वस्तुतः कर्त्ता ही नहीं है। वह कहता है कि कर्म प्रबल प्रेरक से निर्धारित होते हैं, यह कथन किसी भी प्रमाणीकरण के योग्य नहीं है। यह तो जिसे सिद्ध करना है, उसे ही प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करना होगा। यदि हम प्रेरक के बल को उस परिणाम केवल के द्वारा मापे, जिसकी वह वस्तुतः इच्छा करता है, तो निस्संदेह यह सिद्ध करना सरल होगा कि प्रबल प्रेरक सदैव ही सफल होगा, लेकिन उस अवस्था में हमने विवाद के मूल बिंदु को ही पहले से ही स्वीकार कर लिया है। यदि दूसरी ओर, हम कर्त्ता की चेतना को ही हमारी कसौटी माने और प्रेरक के बल को उस प्रेरक के प्रतिरोध में होने वाली कठिनाई के द्वारा मापे, तब यह मानना पड़ेगा कि कार्यों के आवेगों का कभी-कभी सफलतापूर्वक निरोध होता है, किंतु तब भी कर्त्ता को उन आवेगों के विरोध की अपेक्षा उनके प्रति समर्पित होते जाना सरल लगता है। वस्तुतः, नैतिक-दृष्टि से प्रेरकों की महत्त्वपूर्ण प्रतियोगिता तब होती है, जबकि एक पाशविक (वासनात्मक)-दृष्टि से प्रबलतम प्रतीत होने वाला प्रेरक एक दिशा की ओर धकेलता है और एक बौद्धिक-दृष्टि से प्रबलतम प्रेरक दूसरी दिशा की ओर धकेलता है, अर्थात् जब हम यह मानते हों कि हमारी क्षुधाओं या वासनाओं का विरोध हमारे हित में है या हमारा कर्त्तव्य है और उनके प्रति समर्पित होने की अपेक्षा उनका प्रतिरोध करने के लिए अधिक प्रयत्न अपेक्षित है, ऐसे संघर्ष में आत्मा के विरुद्ध वासनाएं कभी-कभी सफल हो जाती है, किंतु वे सदैव ही सफल नहीं होती हैं। नैतिक-स्वतंत्रता तब शक्ति की वह अनुमति है, जो हमें यह बताती है कि या तो हम हमारे अच्छाई-सम्बंधी निर्णय के अनुसार आचरण करें या हम प्रबलतम वासना के आदेश का पालन करें।

रीड के अनुसार, बौद्धिक और पाशविक-प्रेरकों के बीच एक ऐसा ही सम्बंध हमारे उत्तरदायित्व के सामान्य-प्रत्यय में और सामान्य नैतिक-निर्णय के लिए स्वीकृत उत्तरदायित्व की विभिन्न मात्राओं में निहित है। एक अप्रतिरोधी-प्रेरक (अर्थात् एक ऐसा प्रेरक, जिसका निग्रह सम्भव नहीं है) सामान्यतया निर्दोष माना जाता है। विवशता

के प्रति समर्पित होने के लिए या जिसे रोकना उसकी शक्ति में नहीं, उसके लिए कोई भी दोषी अथवा दण्डनीय नहीं माना जाता है। पुनः, सामान्यतया हम यह निर्णय लेते हैं कि उन बुरे कर्मों की आपराधिकता वास्तविक रूप से कम हो, जाती है जो कि भय-आवेग या तीव्र यातना (पीड़ा) की अवस्था में किए जाते हैं। भावनाओं का निरोध करने में मनुष्य की कार्य-शक्ति की सीमितता की इस स्वीकृति में, इन सीमाओं के अंतर्गत उसके स्वतंत्र रूप से कार्य करने की यथार्थता को भी गौण रूप में स्वीकार कर लिया गया है, क्योंकि यदि सभी कार्य समान रूप से अनिवार्य हैं, तो एक व्यक्ति, जो रिश्वत के लिए राष्ट्र के रहस्यों का उद्घाटन कर राष्ट्र के प्रति विश्वासघात करता है, वह भी एक अप्रतिरोधी प्रेरक से उतना ही बाध्य है, जितना कि वह व्यक्ति, जो यातनाओं के कारण विश्वासघात करता है। यदि सभी कार्य समान रूप से अनिवार्य हैं, तो फिर क्यों इन दोनों घटनाओं के हमारे निर्णयों में इतनी अधिक भिन्नता होती है?

मैं सोचता हूं कि सामान्यतया जिन आधारों की हमने अभी संक्षिप्त विवेचना की, उन्हीं आधारों पर रीड के समय से ही संकल्प की स्वतंत्रता को सहजज्ञानवादी नीति-वेत्ताओं के द्वारा सामान्य रूप से स्वीकृत किया जाता रहा है, किंतु कांट के अपरोक्ष प्रभाव के कारण या विलियम हेमिल्टन आदि दूसरे विचारकों के द्वारा संक्रमित उसके परोक्ष प्रभाव के कारण शक्ति की चेतना के उस तर्क का परित्याग कर दिया गया, जो कि वस्तुतः विरोधी अकल्पनीयताओं के विरोध या संघर्ष की ओर ले जाती हैं और उसके स्थान पर सारा बल कर्त्तव्य या पुरस्कार या दण्ड की चेतना के तर्क पर दिया गया।

निर्धारणवादी (नियतिवादी) नीतिशास्त्र

दूसरी ओर, उपयोगितावादी नीति-वेत्ता सामान्यतया निर्धारणवादी (नियतिवादी) रहे हैं। संकल्प की स्वतंत्रता का प्रत्यय भौतिक-विज्ञान के सभी अध्येताओं के द्वारा स्वीकृत कारण के प्रत्यय की सार्वभौमिकता से असंगत है। इस कठिनाई को वैज्ञानिक-प्रगति ने अपनी सतत रूप से बढ़ती हुई शक्ति के द्वारा उपस्थित किया है, किंतु इसके अतिरिक्त भी उपयोगितावादियों ने संकल्प की स्वतंत्रता के लिए सामान्यतया उत्तरदायित्व तथा पुरस्कार एवं दंड के आधार पर दिए गए तर्क को निरस्त करने का प्रयत्न किया है। यह कार्य उन्होंने इन प्रचलित पदों को एक नया अर्थ देकर किया है। उपयोगितावाद के समर्थक निर्धारणवादियों के अनुसार, जनसाधारण

के दण्ड-सम्बंधी निर्णय केवल सहानुभूति और प्रबुद्ध आत्म-प्रेम के द्वारा नीतिकृत स्वाभाविक रोष की अभिव्यक्ति हैं। ऐसा जिसके प्रति प्रकट किया जाता है और दण्ड जिसे दिया जाता है, यह उसकी एक ऐच्छिक-बुराई के प्रति सही और तार्किक-प्रतिक्रिया है। चाहे बुरे कर्म करने वाला व्यक्ति कुछ स्वतंत्र भी हो, यदि ऐसा माना जाता है, तो भी ये रोष और दण्ड भविष्य में उसे पुनः दुष्कर्म करने से रोकते हैं [63]।

निर्धारणवादी यह मानता है कि एक अर्थ में चाहिए में सकना (समर्थता) निहित है, किंतु केवल मनुष्य की सामर्थ्य में निहित कार्यों को नहीं करने पर व्यक्ति दण्ड के योग्य या नैतिक आलोचना के विषय माना जाता है, किंतु निर्धारणवादी की व्याख्या यह है कि 'सकना' और उसकी सामर्थ्य में केवल आवश्यक प्रेरणा के अतिरिक्त सभी दुरतिक्रम बाधाओं की अनुपस्थिति निहित है। निर्धारणवादी कहता है कि ऐसी स्थिति में यही न्यायसंगत है कि सदाचरण के हेतु प्रेरक के अभाव की पूर्त्ति करने के लिए दण्ड और नैतिक-असुखद की अभिव्यक्ति अपेक्षित है। यह मानने में भी निर्धारणवादी को कोई कठिनाई नहीं है कि यदि कोई कार्य अत्यधिक भय या प्रबलतम इच्छा के अधीन होकर किया जाता है, तो वह सामान्यतया कम निंदनीय होता है, क्योंकि बेंथम के अनुसार, ऐसे कार्यों में अभिव्यक्त अभिवृद्धि कम प्रबल प्रेरकों की अपेक्षा भविष्य के लिए कम हानिकर होती है। यद्यपि निर्धारणवादी (नियतिवादी) यह नहीं मानते हैं कि दण्डनीयता के वर्त्तमान निर्णय, जहां तक वे व्यवहार को प्रभावित करते हैं, वहां तक संकल्प की स्वतंत्रता के सिद्धांत के साथ संगति रखते हैं। वस्तुतः, इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि हम सामान्यतया ऐसी असावधानी के लिए भी दण्ड देने का समर्थन करते हैं, जिससे किसी की बहुत ही अधिक हानि होती है। इसके लिए उस प्रमाण की भी कोई अपेक्षा नहीं होती है कि यह कार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कर्त्तव्य के ऐच्छिक-असम्मान का परिणाम था। यही कारण है कि हम विद्रोही और षडयंत्रकारी को केवल इसलिए कम दण्डनीय नहीं मानते हैं कि वे निःस्वार्थ राष्ट्रीय-भावनाओं से युक्त हैं, यद्यपि हम निश्चय ही उनकी दुर्भावना रहितता पर विचार करते हैं।

अंग्रेजी-नीतिशास्त्र पर फ्रांसीसी-प्रभाव

यहां तक हमने इंग्लैण्ड के नैतिक-चिंतन का विवरण प्रस्तुत किया है। इसमें सम्बंधित विषयों पर समकालीन यूरोपीय चिंतन से उसके सम्बंधों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वस्तुतः, ऐसा करना हमारे लिए अधिक सुविधाप्रद था,

क्योंकि हाव्स से लगाकर अभी तक विवेचित लगभग सभी विचारकों के दर्शन मूलतः इंग्लैण्ड में ही उत्पन्न हुए थे और उन पर किसी विदेशी प्रभाव को देख पाना कठिन ही है। यद्यपि नीतिशास्त्र ही दर्शन की एक ऐसी शाखा है, जिसमें यह प्रभाव देखा जा सकता है। देकार्त के भौतिकशास्त्र और मनोविज्ञान का इंग्लैण्ड में बहुत अधिक अध्ययन किया गया और उसका तात्त्विक-दर्शन निश्चित ही लाक के दर्शन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण पूर्ववर्ती था, किंतु देकार्त के दर्शन में वास्तविक नीतिशास्त्र-सम्बंधी विवेचना मुश्किल से मिलती है। यद्यपि क्लार्क पहले स्पीनोबा के सिद्धांत से और बाद में व्यक्तिगत रूप से लाइब्नीज से प्रभावित रहा है, किंतु यह विरोधाभास तात्त्विक-क्षेत्र तक ही सीमित था। कैथोलिक-फ्रांस विभिन्न विषयों में अंग्रेजों के लिए एक शिक्षा-क्षेत्र था, किंतु नीतिशास्त्र में नहीं। बेन्सेनिस्टस और जेस्यूट्स के बीच का महत्त्वपूर्ण संघर्ष इंग्लैण्ड के लिए बहुत ही परोक्ष रुचि का विषय रहा था। 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक फ्रांस के विद्रोही-दर्शन का प्रभाव इंग्लिश-चैनल के इस पार नहीं आ पाया था और तब भी उसका प्रभाव नैतिक-विचारों के क्षेत्र में अधिक महत्त्वपूर्ण भी नहीं था। यह सत्य है कि रूसों ने सभ्यता की बलि देकर भी प्राकृतिक-जीवन के उन्नयन का साहस किया था तथा सुखद अज्ञान की प्रशंसा की थी, साथ ही, उसने निश्छल व्यवहार और असभ्य व्यक्ति के सरल सद्गुण को महत्त्वपूर्ण माना था। ये सब बातें आधुनिक समाज की अप्राकृतिक, अशक्त एवं भ्रष्ट रचना की विरोधी थी और फ्रांस के साथ-साथ इंग्लैण्ड पर भी इनका काफी प्रभाव था। उसने जनता की असंक्राम्य (अहरणीय) प्रभुसत्ता को ही किसी राजनीतिक-व्यवस्था का एक न्यायपूर्ण और संगतिपूर्ण रूप माना। उसकी इस अर्थपूर्ण उद्घोषणा से इंग्लैण्ड के सामाजिक संविदे के प्राचीन सिद्धांत को विद्रोहात्मक-दिशा में विकसित होने के लिए एक शक्तिपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ, फिर भी यह देखना रुचिकर है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के उन अंग्रेज-लेखकों ने, जिन्होंने, जो फ्रांस के राजनीतिक-चिंतन की गतिविधियों से बहुत ही अधिक प्रभावित थे, उन नैतिक-आधारों के लिए, जिस पर कि वे बौद्धिक और समान-स्वतंत्रता की नई सामाजिक-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे, अपने को प्राचीन इंग्लिश विचार-प्रणाली के निकटस्थ बनाए रखा, फिर चाहे वे प्राईस के समान सहजगान वादी सम्प्रदाय से सम्बंधित रहे हों, अथवा उन्होंने प्रीस्टले और गाडविन के समान सर्वाधिक सुख को नैतिकता के सर्वोच्च प्रमापक के रूप में स्वीकार किया हो। केवल बेंथमवाद की निरूक्ति में ही हमें हेल्वेटिअस नामक

फ्रेंच लेखक के ग्रंथों का वह महत्त्वपूर्ण प्रभाव देखने को मिलता है, जिसके सम्बंध में बेंथम स्वयं ही पूर्ण सजग था[65]।

हल्वेटिअस (1715 से 1771)

हेल्वेटिअस से ही बेंथम ने यह सीखा था कि साधारणतः मनुष्य पूरी तरह से आत्म-प्रेम से शासित है और तथाकथित नैतिक-निर्णय वस्तुतः किसी समाज के सामान्य हितों के सामान्य निर्णय हैं, इसलिए एक ओर यह निरर्थक है कि सामान्य सुख की अभिवृद्धि करने के अतिरिक्त सद्‌गुण के लिए कोई दूसरा प्रमापक प्रस्तुत किया जावे, दूसरी ओर, मनुष्य को कर्त्तव्य के लिए केवल उपदेश देना और दुराचार के लिए उसकी निंदा करना भी निरर्थक है। नीतिवेत्ता का वास्तविक कार्य सद्‌गुणों की व्यक्तिगत सुख से संवादिता बताना है। तदनुसार, यद्यपि प्रकृति ने मनुष्यों के हितों को अनेक रूपों में एक-दूसरे से बांध रखा है, फिर भी सहानुभूति के विकास तथा पारस्परिक-सहयोग की आदत के द्वारा शिक्षा इन सम्बंधों को अधिक व्यापक बना सकती है। वह विधि-निर्माता ही सर्वाधिक प्रभावशील नीतिशास्त्री है, जो कि कानून के अंकुशों के द्वारा स्वहित के लिए कार्य करते हुए मानवीय आचरण को जैसा चाहता है, वैसा बदल सकता है। ये कुछ सरल सिद्धांत ही बेंथम के अथक और आजीवन किए गए प्रयासों की सामान्य आधार-भूमि प्रस्तुत करते हैं।

कोम्त (1798-1857)

पुनश्च, जे.एस. मिल के परिष्कृत बेंथमवाद में फ्रेंच-विचारक अगस्त कोम्त का प्रभाव एक मुख्य परिष्कारक तत्त्व के रूप में प्रतीत होता है। मुख्य रूप से यह प्रभाव कोम्त के निम्न दो महत्वपूर्ण फ्रेंच ग्रंथों का है- (1) फिलासफी पासेटिव (1829-1842) और नं. (2) सिस्टेमे पोलिटिक्यू पासेटिव (1851-54)। जहां तक उसके द्वारा राजनीतिक-चिंतन से भिन्न नैतिक-चिंतन के प्रभावित होने का प्रश्न है, उसने प्रारम्भिक रूप में मानव-प्रवृत्ति के सामान्य प्रत्यय के द्वारा इसे प्रभावित किया है। कोम्ते के अनुसार, मानवी-प्रगति विशुद्ध रूप से पाशविक-लक्षणों से ऊपर उठकर मानवीय-गुणों की सतत विकासशील प्रबलता में निहित है। मानवीय-गुणों में सामाजिकता सर्वोच्च गुण है और यही सामाजिकता मानवीय-भावनाओं की व्यापक अवस्था का सर्वोच्च स्वरूप तथा सम्पूर्ण मानवता के प्रति श्रद्धा है। तदनुसार, यह मानव में परोपकारिता और दूसरों के लिए जीने की आदत का विकास है। कोम्ते केवल सुखों की अभिवृद्धि की अपेक्षा इसे मानव व्यवहार का परम आदर्श और

प्रमापक स्वीकार करता है। वस्तुतः, वह यह मानता है कि परोपकार और सुख अवियोज्य है और यह कि किसी व्यक्ति की भावनाओं को और कार्यों की आदतों को जितना अधिक परोपकारी बनाया जा सकेगा, उतना ही अधिक सुख का लाभ उसे स्वयं को और दूसरे व्यक्तियों को होगा, किंतु वह स्वार्थवाद के सम्बंध में अपने-आप को तार्किक-गहराई में नहीं उतारता है और न यथार्थ रूप से नियंत्रित स्वहितवादी संतुष्टि की क्षमता के द्वारा सामान्यतया उपलब्ध होने वाली सुख की मात्रा का सावधानीपूर्वक मूल्यांकन करता है। एक सर्वोच्च निर्विवाद आत्मसमर्पण ही उसके नैतिक-आदर्श का मुख्य लक्ष्य है, जिसमें कि सभी वैयक्तिक-गणनाएं दब जाती हैं। यह दृष्टिकोण सामान्य मानवीय-अस्तित्व की बेंथम की धारणा का ठीक विरोधी है। मिल का नया उपयोगितावाद इन दोनों अतियों के बीच एक सम्यक् मध्यम मार्ग को खोज लेने का साहस करता है।

हमें यह देख लेना होगा कि कोम्ते के दृष्टिकोण में मानवता के प्रति समर्पण न केवल एक नैतिक-सिद्धांत है, अपितु एक धार्मिक-सिद्धांत भी है, अर्थात् इसे न केवल व्यावहारिक-रूप में नियामक होना चाहिए, अपितु वैयक्तिक और सार्वजनिक जीवन में नियमित रूप से और आंशिक-रूप से प्रतीकात्मक-अभिव्यक्ति के द्वारा पोषित और प्रकट होना चाहिए। कोम्त के दर्शन का इस पहलू में और सामाजिक-पुनर्निमाण के उसके आदर्श के विवरण में यह धर्म एक महत्त्वपूर्ण भाग अदा करता है। इन दोनों का इंग्लैण्ड में और अन्य देशों में प्रभाव तो रहा है, किंतु बहुत ही कम है। दूसरी ओर, वैज्ञानिक-पद्धति के सम्बंध में उसकी शिक्षाओं का, विशेष रूप से समाजशास्त्र या सामाजिक-विज्ञान की पद्धति के सम्बंध में उसकी शिक्षाओं का, इंग्लैण्ड के नैतिक-चिंतन पर अधिक एवं स्थायी प्रभाव रहा है। वह इन शिक्षाओं को स्वयं के द्वारा रचित मानता था और जिनका निर्माता होने का वैधानिक-दावा प्रस्तुत करता था और पेले और बेंथम के उपयोगितावाद में नैतिक और वैधानिक-आचरण के सही नियमों का निर्धारण ऐसे पुरुष और स्त्रियों पर उनके होने वाले विभिन्न काल्पनिक-प्रभावों की तुलना के द्वारा होता था, जो कि वस्तुतः समान और अपरिवर्तनशील प्रकार के प्रतिनिधि माने जाते थे।

यह सत्य है कि बेंथम जलवायु, जाति, धर्म एवं राज्य के उन परिवर्तनशील प्रभावों को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है, जो कि एक विधि-निर्माता के विचार के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, किंतु सामाजिक-संरचना-सम्बंधी उसके ग्रंथ ऐसे विचारों से पूरी

तरह स्वतंत्र हैं। बेंथम का सम्प्रदाय सामान्यतया ऐतिहासिक-विभिन्नताओं को दृष्टिगत रखे बिना ही सभी कालों और सभी देशों के व्यक्तियों के हेतु महत्त्वपूर्ण नैतिक और राजनीतिक-समाधान प्रस्तुत करने में अपने को सक्षम मानता हुआ प्रतीत होता है, किंतु कोम्त के सामाजिक-विज्ञान की धारणा में समाज के विकास के नियमों का ज्ञान आधारभूत और सहज रूप से व्यक्तिगत महत्त्व का है। कोम्त के अनुसार, राजनीति और नीतिशास्त्र- दोनों ही सामाजिक-विज्ञान के व्यावहारिक-उपयोग हैं। उसकी दृष्टि में मानवता विभिन्न स्तरों से गुजरी है और प्रत्येक स्तर पर विभिन्न प्रकार के नियमों एवं संस्थाओं तथा आदतों एवं रीतिरिवाजों का एक भिन्न प्रारूप सामान्यतया उचित होता है। इस प्रकार, वर्त्तमान मनुष्य एक ऐसा मनुष्य है, जिसे विगत इतिहास के ज्ञान के द्वारा ही समझा जा सकता है। कोम्त की दृष्टि में विशुद्ध रूप से अमूर्त्त और अनैतिहासिक-पद्धति के द्वारा नैतिक और राजनीतिक-आदर्शों के निर्माण का कोई भी प्रयास अनिवार्यता और आवश्यक रूप से व्यर्थ होगा।

विनायक-नियमों और नैतिकता में किस समय कौनसे सुधार अपेक्षित होंगे, इसका निश्चय केवल सामाजिक-गत्यात्मकता की सहायता से ही किया जा सकता है। यह दृष्टिकोण कोम्त के इस विशिष्ट सम्प्रदाय की सीमाओं को बहुत ही व्यापक बना देता है और वस्तुतः वर्त्तमान युग के शिक्षित व्यक्तियों के द्वारा सर्वाधिक मान्य प्रतीत होता है।

इंग्लिश-नीतिशास्त्र पर जर्मन-प्रभाव

फ्रांसीसी-दर्शन के समान ही जर्मन के दर्शन का प्रमाण भी वर्त्तमान युग के पहले तक अपेक्षाकृत रूप में कम महत्त्वपूर्ण ही रहा है। वस्तुतः, 17वीं शताब्दी में मुफेनडार्फ के ग्रंथ 'प्रकृति के नियम' ला आफ नेचर में ग्रोटिअस के सामान्य दृष्टिकोण को कुछ परिष्कार के साथ पुनर्स्थापित किया गया था। यह ग्रंथ हाव्स के नए सिद्धांत के साथ समन्वय करने की दृष्टि से लिखा गया था और इसका आक्सफोर्ड में और अन्यत्र काफी अध्ययन किया गया। लाक इस ग्रंथ को एक संस्कारवान् व्यक्ति की पूर्ण शिक्षा के लिए एक आवश्यक ग्रंथ मानता है, किंतु आचरण के सिद्धांतों का जर्मनी में होने वाला परवर्ती विकास अंग्रेजों की जन-चेतना से पूर्णतया अलग हो गया। यहां तक कि जर्मनी में विस्तृत एवं पूर्ण रूप में बहुत अधिक समय तक प्रभावशाली बने रहने वाले कांट (मृत्यु 1754) के दर्शन का ज्ञान बहुत ही अधिक अध्ययनशील अंग्रेज लेखकों को भी मुश्किल से ही था। कांट की प्रभावशाली प्रज्ञा

और व्यापक प्रतिष्ठा भी अंग्रेज नीतिवेत्ताओं को उसके नैतिक दर्शन के गम्भीर अध्ययन के लिए 50 वर्षों तक आकर्षित नहीं कर पाई[65], जबकि उसका दर्शन इन 50 वर्षों तक विश्व के सम्मुख प्रतिष्ठित बना रहा, यद्यपि कांट के मूलभूत नैतिक-सिद्धांत को एक शताब्दी (19 वीं शताब्दी) के प्रथम भाग में कोलेटिप नामक कवि एवं दार्शनिक ने उत्साहपूर्वक सबसे पहले ग्रहण किया। कोलटिप आंग्ल-चिंतन के प्रभावशाली लोगों में बहुत ही अधिक प्रभावशाली एवं लोकप्रिय था। बाद में कांट के प्रभाव के विभिन्न संकेत विवेक और सहजज्ञानवादी-सम्प्रदाय के दूसरे लेखकों में पाए जाते हैं। जर्मन-चिंतन की उपलब्धियों के प्रति पिछले 40 सालों में अंग्रेजों की जो व्यक्तिगत अभिरुचि रही है, उसके कारण कांट के ग्रंथों को इतने व्यापक रूप से जाना जाने लगा है कि उसके नैतिक-सिद्धांत के विवेचन के बिना ग्रंथ अपूर्ण ही रह जाएगा।

कांट (1724-1808)

अंग्रेज-नीतिवेत्ताओं में प्राईस से कांट की बहुत अधिक निकटता है। वस्तुतः, आधुनिक यूरोप के नैतिक विचारों में कांट के सिद्धांत का वही महत्त्वं है, जो कि इंग्लैण्ड में प्राईस और रीड के सिद्धांतों का है। इन विचारकों के समान ही कांट यह मानता है कि बुद्धिमान् प्राणी के रूप में मनुष्य बुद्धि के निरपेक्ष आदेशों या औचित्य के किन्हीं नियमों को मानने के लिए निरपेक्ष रूप से बंधा हुआ है। प्राईस के समान वह यह भी मानता है कि कोई भी कार्य जब तक शुभ नहीं होता, तब तक कि वह शुभ प्रेरणा से नहीं किया जाता है और इस प्रेरणा को किसी भी प्रकार के प्राकृतिक-झुकाव से मूलतः भिन्न होना चाहिए। कर्त्तव्य वस्तुतः कर्त्तव्य बन सके, इसलिए कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिए ही किया जाना चाहिए। कांट प्राईस और रीड की अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्मता से यह तर्क देता है कि यद्यपि सद्गुणी कर्त्ता के लिए सद्गुणात्मक-कार्य निस्संदेह सुखद होगा और किसी भी कर्त्तव्य का उल्लंघन दुःखद होगा, यह नैतिक सुख या दुःख यथार्थतया किसी भी कार्य का प्रेरक नहीं हो सकता, क्योंकि यह कर्त्तव्य को करने के लिए हमारे आबंध की स्वीकृति का पूर्ववर्ती होने की अपेक्षा उसका अनुवर्ती है। पुनः, प्राईस के साथ वह यह मानता है कि अभिप्राय और प्रेरक की उचितता न केवल कार्य की उचितता की एक अपरिहार्य शर्त है, अपितु वास्तव में उसके नैतिक-मूल्य का पूरी तरह निर्धारण भी करती है, किंतु अधिक दार्शनिक-सूक्ष्मता के साथ कांट ने जो निष्कर्ष प्राप्त किया है, उसकी कल्पना अंग्रेज-नीतिवेत्ताओं ने स्वप्न में भी नहीं की थी। वह निष्कर्ष यह है कि आचरण की भौतिक-उचितता के

निर्धारण के लिए आचरण की आकारिक-उचितता के निर्धारण के सिवाय कोई दूसरा बौद्धिक-सिद्धांत नहीं हो सकता और इसलिए कर्त्तव्य के वे सभी नियम, जो कि सार्वभौमिक रूप से बंधनकारक हैं, इसी एक सामान्य सिद्धांत के उपयोग के रूप में स्वीकार किए जाने चाहिए कि कर्त्तव्य का पालन कर्त्तव्य के लिए हो। इसका अपेक्षतया प्रामाणीकरण निम्न रूप में प्राप्त किया जा सकता है। कांट बताता है कि बुद्धि के आदेश सभी बौद्धिक-प्राणियों पर अनिवार्य रूप से लागू होना चाहिए। मेरा अभिप्राय तब तक उचित नहीं हो सकता, जब तक कि मैं इस सिद्धांत को, जिसके अनुसार कार्य करता हूं, सार्वभौमिक-नियम के रूप में संकल्पित करने के लिए तैयार होता। इस प्रकार, हम एक आधारभूत आदेश या नियम पाते हैं[66]। वह यह कि उस सिद्धांत के अनुसार काम करो, जिसका शुभ सार्वभौम नियम के रूप में संकल्प कर सकते हो, साथ ही, कांट यह भी मानता है कि यही नियम सभी विशेष कर्त्तव्यों का निर्धारण करने के लिए अपेक्षित कसौटी को प्रस्तुत करेगा, क्योंकि यदि हम किसी भी कर्त्तव्य के उल्लंघन के समय अपनी मानसिक-अवस्था को देखें, तो यह पाएंगे कि हम वस्तुतः अपने उस सिद्धांत को एक सार्वभौमिक-नियम बनाना नहीं चाहते हैं। हमारी अभिलाषा यह होती है कि हम जो करना चाहते हैं उसका विरोधी सिद्धांत सार्वभौम नियम रहे, केवल हम उसमें अपने लिए एक अपवाद रखना चाहते हैं, अथवा उस प्रासंगिक-सुझाव को केवल एक समय के लिए वैध मान लेते हैं। यह नियम अपनी दोहरी तर्क-संगति से आचरण का निरसन देता है। अनैतिकता के कुछ प्रकारों को हम सार्वभौम-नियम के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते हैं, जैसे- प्रतिज्ञा को तोड़ने के अभिप्राय से प्रतिज्ञा करना। जब तक प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को प्रतिज्ञा तोड़ने के लिए स्वतंत्र मानेगा, तो फिर कोई भी व्यक्ति दूसरों से की गई प्रतिज्ञा को निभाने की चिंता नहीं करेगा (इस प्रकार प्रतिज्ञा करने का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा)। दूसरे कुछ ऐसे नियम हैं, जिन्हें हम सरलता से सार्वभौम-नियम मान लेते हैं, जैसे- लोगों को अपने दुःखों को भोगने के लिए असहाय छोड़ देना, लेकिन हम बिना किसी आत्म (असंगति) के ऐसा संकल्प नहीं कर सकेंगे, क्योंकि जब हम स्वयं दुःख में होंगे, तो यह सोचेंगे कि यद्यपि हम दूसरों की मदद नहीं कर सकते हैं, किंतु दूसरों को हमें मदद करना चाहिए। कांट के सिद्धांत की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता उसके कर्त्तव्य (दायित्व) और संकल्प की स्वतंत्रता के बीच के सम्बंध के विकास में है। वह मानता है कि नैतिक-चेतना के द्वारा ही हम अपनी स्वतंत्रता की बौद्धिक-

धारणा को प्राप्त करते हैं। मुझे जो उचित है, उसे इसलिए करना चाहिए कि वह उचित है, न कि इसलिए कि मैं उसे पसंद करता हूं। इस ज्ञान में यह निहित है कि ऐसा विशुद्ध रूप से बौद्धिक-संकल्प सम्भव है। मेरा कार्य सुखात्मक और दुःखात्मक-अनुभूतियों के प्राकृतिक-उद्दीपकों की अनिवार्य प्रक्रिया के द्वारा यांत्रिक-रूप से निर्धारित नहीं हो सकता, अपितु उसका निर्धारण मेरी सच्ची बौद्धिक-आत्मा के नियमों के साथ संगति रखने से होगा। बुद्धि की सिद्धि या बौद्धिक-रूप से मानवीय-संकल्प की सिद्धि इस प्रकार अपने-आप को कर्त्तव्य के एक निरपेक्ष साध्य के रूप में प्रस्तुत करती है और इस प्रकार, मूलभूत व्यावहारिक-नियम का एक नया रूप प्राप्त करते हैं, जिसके अनुसार मानवता, चाहे वह तुम्हारे अंदर हो या दूसरों के, उसे सदैव साध्य मानों और कभी भी साधन मत बनाओ। जहां हम यह भी देखते हैं कि स्वतंत्रता का प्रत्यय नीतिशास्त्र को न्यायशास्त्र के साथ एक सरल और आकर्षक ढंग से जोड़ देता है, यहां एक और न्यायशास्त्र का मुख्य उद्देश्य दूसरे व्यक्तियों के संकल्पों के हस्तक्षेप के कारण किसी व्यक्ति के स्वतंत्र कार्य में उत्पन्न की गई बाधाओं को दूर करके बाह्य-स्वतंत्रता को प्राप्त कराना है, वहीं दूसरी ओर, नीतिशास्त्र व्यक्ति की स्वाभाविक-अभिरुचियों के विरोध में बौद्धिक-साध्य की उपलब्धि के प्रयासों के द्वारा आंतरिक-स्वतंत्रता[1] की प्राप्ति से सम्बंधित है। यदि हम यह पूछें कि संक्षेप में बौद्धिक-साध्य क्या है और साध्य से हमारा अर्थ एक ऐसे परिणाम से हो, जिसे कार्य के द्वारा प्राप्त करना चाहते है।

इस दूसरे प्रकार की स्वतंत्रता को ही स्वतंत्रता के अर्थ में ग्रहण किया है, न कि पहले प्रकार की स्वतंत्रता को किया जाता है, तो इसके उत्तर में कांट का कथन यह होगा कि अपने जैसे सभी बौद्धिक-प्राणी प्रत्येक बौद्धिक-प्राणी के लिए अपने-आप में साध्य हैं। कांट का यह कथन मुश्किल से ही एक स्पष्ट उत्तर कहा जा सकता है, इसका अर्थ यह किया जा सकता है कि व्यावहारिक-रूप से प्राप्त यह परिणाम उन सभी बौद्धिक-मानवों की बौद्धिकता का विकास करता है, जिनकी बौद्धिकता अभी भी अपूर्ण रूप में है, किंतु कांट का दृष्टिकोण ऐसा नहीं है। वस्तुतः, वह यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी नैसर्गिक-शक्तियों और अपने नैतिक-स्वभाव के विकास के द्वारा अपने-आप को यथासंभव बुद्धि का सर्वाधिक पूर्ण माध्यम बनाने का प्रयास करना चाहिए, किंतु इसी तरह दूसरे व्यक्तियों की ऐसी पूर्णता को भी प्रत्येक व्यक्ति को साध्य निरूपित किया जा सकता है। इस बात से वह स्पष्टतया इंकार करता है, वह

कहता है कि दूसरे व्यक्तियों की बौद्धिक-पूर्णता के विकास को मेरे कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार करना एक विरोधाभास है। उसका यह कथन इसलिए सही है कि एक व्यक्ति के रूप में किसी मनुष्य की पूर्णता इस बात में निहित है कि वह अपनी कर्त्तव्य की धारणा के अनुसार अपने साध्य का निर्धारण करने में स्वयं सक्षम है और किसी कार्य को मेरे लिए एक कर्त्तव्य बनाना, जिसे दूसरा कोई नहीं, किंतु स्वयं नहीं कर सकता है, आत्मविरोधी होगा, तब किस व्यावहारिक-अर्थ में दूसरे बौद्धिक-प्राणियों को मेरा साध्य बना सकता हूं। कांट उसके उत्तर में यह कहता है कि दूसरों के सम्बंध में जो भी साध्य बनाया जा सकता है, वह पूर्णता नहीं, किंतु सुख है। हमें दूसरों के उन विशुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ साध्यों की उपलब्धि के लिए सहायता करना चाहिए, जो कि बुद्धि के द्वारा नहीं, अपितु प्राकृतिक-अभिरुचियों के द्वारा निर्धारित किए गए हैं, क्योंकि कांट का कथन है कि यदि दूसरे व्यक्तियों की स्वतः साध्य की धारणा मेरे पर अपना पूर्ण प्रभाव रखती है, तो प्रत्येक व्यक्ति के साध्यों को यथासम्भव मेरे भी साध्य होना चाहिए। अन्यत्र वह कहता है कि अपने स्वयं के सुख की उपलब्धि को एक कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह एक ऐसा साध्य है, जिसके प्रति प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक-अभिरुचियों के कारण अपरिहार्य रूप से प्रवृत्त है, लेकिन यह उचित है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्यतया अपने स्वयं के सुख की इच्छा करता है और इसलिए यह इच्छा भी करता है कि दूसरे व्यक्ति आवश्यकता के समय उसे सहयोग दें, इसलिए वह दूसरों के सुखों को अपना नैतिक-साध्य बनाने के लिए बाध्य है, क्योंकि इस आबंध को स्वीकार किए बिना कि समान परिस्थितियों में उसे भी दूसरों की सहायता करना है, वह नैतिक-रूप में दूसरों से सहायता की अपेक्षा नहीं कर सकता। वैयक्तिक-सुखों को उन साध्यों से अलग करने में, जिसके लिए प्रयत्न करना एक कर्त्तव्य है, कांट को बटलर और रीड के दृष्टिकोणों में एक विरोध दिखाई देता है, क्योंकि बटलर और रीड यह मानते हैं कि बौद्धिक-प्राणी के रूप में मनुष्य अपने हितों (सुखों) की प्राप्ति के लिए एक सुस्पष्ट आबंध के अधीन है। यद्यपि यह विरोध उतना अधिक नहीं है, जितना दिखाई देता है, क्योंकि कांट अपने सर्वोच्च शुभ के विवरण में अपने वैयक्तिक-सुख की चिंता की बौद्धिकता को निहितार्थ के रूप में स्वीकार कर लेता है। कांट की दृष्टि में केवल यह सुख वह नहीं है, जिसे एक सच्चा बौद्धिक-आत्म-प्रेम प्राप्त करना चाहता है, अपितु वह सुख है, जो कि नैतिक-दृष्टि से उसके योग्य होने की स्थिति पर निर्भर है। यद्यपि कांट के अनुसार,

कर्त्तव्य को कर्त्ता के एक सुख के साधन के रूप में नहीं, वरन् मात्र कर्त्तव्य के लिए करना चाहिए, तथापि वह यह मानता है कि हम इसे तब तक बौद्धिक-रूप से नहीं कर सकते, जब तक कि हमें यह आशा न हो कि इसके करने से हमें सुख मिलेगा, इसलिए मनुष्य के लिए सर्वोच्च शुभ[68] न तो सद्‌गुण है और न केवल सुख, अपितु एक ऐसा नैतिक-संसार है, जिसमें सत्कार्य समुचित अनुपात में सुख से युक्त है। कांट के अनुसार, हम बौद्धिक-रूप से यह मानने को बाध्य हैं कि हम अनिवार्यतया एक ऐसे संसार के निवासी हैं, जो एक बुद्धिमान् निर्माता और शासक के अधीन है, क्योंकि बिना ऐसे संसार को माने नैतिकता के उच्च आदर्श वस्तुतः प्रशंसा और अनुमोदन के विषय होंगे, न कि कार्यों एवं उद्देश्यों के प्रेरक। हमें जगत् की ऐसी व्यवस्था की अधिमान्यता को स्वीकार करना होगा, जिसमें सुख की मांग कर्त्तव्य के द्वारा अर्जित पुण्य के रूप में अपनी संतुष्टि प्राप्त करती है, जो कि परलोक एवं ईश्वर के प्रति आस्था में निहित है, किंतु उस आस्था की निश्चितता केवल नैतिक-आधार पर निर्भर है, क्योंकि कांट के तात्त्विक-सिद्धांतों के अनुसार, हमारे ज्ञान का यह प्राकृतिक-जगत् है, मानवीय-ग्राहक-चेतना पर होने वाले प्रतिबिम्ब या संस्कारों का प्रपंच मात्र है, जो कि इसकी ज्ञाता आत्मप्रज्ञा के द्वारा समावित-अनुभूतियों के विषयों से संसार के साथ मिश्रित है, इसलिए हम वस्तुओं के निज-स्वरूप का न तो अनुभव कर सकते हैं और न जान सकते हैं। (इस प्रकार, वस्तु-तत्त्व अपने-आप में क्या है, इसका हमें न तो कोई अनुभव हो सकता है और न ज्ञान ही) इस प्रकार, हम में से प्रत्येक व्यक्ति अपनी नैतिक-चेतना द्वारा अपने-आप को एक अतीन्द्रिय-जगत् के सदस्य के रूप में जानता है, यद्यपि वह उस जगत् के स्वरूप के सम्बंध में कुछ भी नहीं जानता है। वह यह जानता है कि वह केवल इस प्रपंच के अतिरिक्त भी कुछ है, किंतु वह क्या है, यह नहीं जानता है। तदनुसार, यद्यपि मुझे यह बौद्धिक-निश्चितता हो सकती है कि भावी-जगत् और ईश्वर है, लेकिन कांट के अनुसार, यह निश्चितता मुझे विमर्षात्मक-ज्ञान के लिए उपलब्ध नहीं है। सैद्धांतिक-रूप से मैं उन विश्वासों का सत्य नहीं जानता हूं, लेकिन व्यवहार के लिए मुझे उन्हें आधार-भूत मानना होगा, ताकि जिसे मैं व्यावहारिक बुद्धि के निरपेक्ष रूप से प्रदत्त आदेश के रूप में स्वीकार करता हूं, उसका बुद्धि-पूर्वक पालन कर सकूं।

कांट के बाद का नीतिशास्त्र

कांट की मृत्यु (1804) के पूर्व ही आंग्ल-विचारक कोलरिज के द्वारा कांट

के ग्रंथों का अध्ययन प्रारम्भ हो चुका था। कोलरिज इंग्लैण्ड में जर्मन-दार्शनिक-चिंतन की प्रवृत्तियों का एक पीढ़ी से अधिक समय तक प्रतिनिधि रहा है, लेकिन जब कोलरिज का कांटीय-दर्शन का अध्ययन प्रारंभ हुआ था, तभी तत्त्व मीमांसीय-पद्धति और दृष्टिकोण का महत्त्वपूर्ण एवं गतिशील विकास उस दूसरे स्तर पर पहुंच चुका था, जिसके तीन प्रमुख रूपों का प्रतिनिधित्व क्रमशः फिक्टे, शोलिन और हेगल करते हैं। पूर्व में कांट के द्वारा पूर्व में अस्वीकृत फिक्टे के आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद-ग्रंथों की एक सिरीज निकल चुकी थी और शेलिंग का दर्शन तत्त्व-शास्त्र के सभी जर्मन-अध्येताओं के आकर्षण का केंद्र होने का दावा कर रहा था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि कालरिज के द्वारा आंशिक-रूप से अपनाया गया कांट वस्तुतः ऐसा कांट था, जिसे शेलिंग के दर्शन के माध्यम से देखा गया था। वस्तुतः, कांट के परमार्थ या वस्तु-निजरूप को मात्र शाब्दिक-अभिव्यक्ति[69] से अधिक नहीं समझा गया था। हमें यह मान लेना होगा कि उसने अपनी कर्त्तव्य और स्वतंत्रता की व्यावहारिक-धारणाओं के द्वारा मानवीय-प्रकृति की मूलभूत आध्यात्मिकता का वह विर्मशात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जिसका उसकी भाषा खंडन करती हुई प्रतीत होती है। यद्यपि कोलरिज के द्वारा आंग्ल मनस पर जर्मनी के चिंतन का जो अस्पष्ट प्रभाव पड़ा था, वह तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से देखने पर कांटीया होने की अपेक्षा कांट के बाद का अधिक था, किंतु नीतिशास्त्र के क्षेत्र में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। कोलरिज के बिखरे हुए नैतिक-नियमों में जो जर्मन-प्रभाव दिखाई देता है, वह विशुद्ध रूप से कांटीय है[71]। इंग्लैण्ड के नैतिक-विचारकों में फिकटे, शेलिंग या अन्य किसी कांट के बाद के जर्मन-लेखक के विशिष्ट सिद्धांतों का कोई चिह्न माना जाता है, यह मेरी जानकारी में नहीं है, यद्यपि वर्त्तमान के तीसरे चरण में इंग्लैण्ड के नैतिक-विचारों पर हेगेल का स्पष्ट प्रभाव पड़ा था[72]।

हेगेल (1770-1831)

हेगेल के नैतिक-विचार मुख्य रूप से उसके ग्रंथ 1821 में पाए जाते हैं। जहां एक ओर कांट के नैतिक-विचारों से हेगेल के नैतिक-विचारों की निकटता है, वहीं दूसरी ओर, उनमें आश्चर्यजनक विरोध भी है। कांट के समान हेंगेल यह मानता है कि कर्त्तव्य या शुभाचरण उस स्वतंत्र बौद्धिक-संकल्प के चेतन-क्रियान्वयन में निहित है, जो कि सभी बौद्धिक-प्राणियों में मूलतया समान ही है, लेकिन कांट के दृष्टिकोण में इस संकल्प का सामान्य तत्त्व यह सामान्य शर्त है कि जिसको जिसे सभी

के द्वारा करने की इच्छा की जा सके, वही कर्म करो। इसे प्रत्येक बौद्धिक-कर्त्ता के अपने स्वयं पर अत्यधिक रूप से लागू किया जा सकता है, जबकि हेंगेल मानता है कि सामान्य संकल्प नियमों, संस्थाओं एवं उस पारस्परिक-समाज की नैतिकता, जिसका कि वह सदस्य है, के रूप में प्रत्येक व्यक्ति में वस्तुनिष्ठ रूप से उपस्थित है। इस प्रकार, हेंगेल के दृष्टिकोण में न केवल सुखों की ओर प्राकृतिक-अभिरुचि का या व्यक्तिगत-सुखों की इच्छा का नैतिक-प्रतिरोध आवश्यक है, अपितु व्यक्ति की अंतरात्मा अर्थात् जो उचित प्रतीत होता है। उसको करने की अंतःप्रेरणा को प्रोत्साहित करना भी आवश्यक है। वह समाज की सामान्य बुद्धि के विरोध में आती है। यह सत्य है कि हेंगेल की मान्यताएं हैं कि केवल सम्पत्ति-सम्बंधी न्याय के नियमों को मान्य करना, प्रतिज्ञाओं का पालन करना, अपराधों के लिए दंड देना आदि कार्य, जिनमें कि सामान्य संकल्प सबसे पहले होता है, की अपेक्षा शुभ की अपनी स्वयं की धारणा के क्रियान्वयन के चेतन प्रयास नैतिक-विकास की दृष्टि से एक उच्च अवस्था है, क्योंकि ऐसे बाह्य नियमों के पालन में इस सामान्य-संकल्प का वैयक्तिक-संकल्पों की बाह्य-सहमति के द्वारा केवल सांयोगिक-क्रियान्वयन हो पाता है और उस सामान्य-संकल्प की वस्तुतः उपलब्धि उनमें से किसी में भी नहीं हो पाती है। यद्यपि वह यह भी मानता है कि यह अंतरात्मा का प्रयास एक आत्मवंचना होगी, साथ ही, निरर्थक और नैतिक-बुराई का मूल भी होगा, यदि यह अपने सिद्धि या क्रियान्वयन में इन वस्तुनिष्ठ सामाजिक-सम्बंधों के साथ संगति नहीं रखेगा, जिनमें कि व्यक्ति अपने-आप को पाता है और जब तक कि व्यक्ति अपने स्वयं के सार के रूप में उस नैतिक-तत्त्व को स्वीकार नहीं कर लेता, जो कि परिवार, नागरिक, समाज और अंत में राज्य के रूप में उसे प्रदान किया गया है। वस्तुतः, यह राज्य का संगठन व्यवहार के क्षेत्र में सामान्य बुद्धि की उच्चतम अभिव्यक्ति है। यद्यपि हेंगेलवाद वर्त्तमान युग के इंग्लिश-नैतिक-विचारों में भिन्न रूप में प्रतीत होता है। हमने ग्रीन के जिस इंग्लिश-अनुभवातीतवाद का पूर्व में विवेचन किया है, उसे कांटीय-हेंगेलवाद कहा जा सकता है, लेकिन उस पर कांट के दर्शन का प्रत्यक्ष प्रभाव न होकर परोक्ष प्रभाव ही है। वह परोक्ष प्रभाव भी मानवीय चिंतन और मानव-समाज के ऐतिहासिक-अध्ययन की प्रबल प्रेरणा के कारण ही आया था। हेंगेल के अनुसार, विश्व का सारतत्त्व अमूर्त्त से मूर्त्त की ओर होने वाली विचार की प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया का सही ज्ञान हमें कालक्रम में यूरोपीय-दर्शन के विकास की व्याख्या की कुंजी दे देता है। पुनः,

हेंगेल की दृष्टि में मानव-जाति का इतिहास राजनीतिक-संगठनों के विभिन्न रूपों के द्वारा स्वतंत्र चेतना के अनिवार्य विकास का इतिहास है। उन राजनीतिक-संगठनों के विभिन्न रूपों में सर्वप्रथम प्राचीन राजतंत्र है, जिसमें स्वतंत्रता केवल राज्य की प्राप्त होती है। दूसरा रूप ग्रीक-रोमन-प्रजातंत्रों का है, जिसमें गुलामी की प्रथा को मान्य रखते हुए स्वतंत्र नागरिकों की एक चुनी हुई निकाय शासन करती थी, जबकि अंत में पतनशील रोमन-साम्राज्य पर ट्यूयोनिक (जर्मन) हमलों के कारण निर्मित समाज आते हैं, जिनमें स्वतंत्रता को समाज के सभी सदस्यों का नैसर्गिक-अधिकार माना जाता है। हेंगेल के इतिहास-दर्शन और दर्शन के इतिहास में विवेचित व्याख्यानों ने उसके इस विशिष्ट सम्प्रदाय की सीमाओं को काफी व्यापक बना दिया। व्यवहार के सिद्धांतों के सभी क्षेत्रों में ऐतिहासिक पद्धति का वर्त्तमान महत्त्व अपने प्रभाव की दृष्टि से कुछ कम नहीं है।

जर्मन-निराशावाद

हमने पहले[73] यह देखा था कि स्पेंसर जैसे लेखकों के विकासवादी-आज्ञावाद के विरोध-को सम्पूर्ण प्राणीय-जीवन और उस प्राणीय-जीवन की उच्चतम विकसित अवस्था मानव-जीवन के संबंध में एक निराशावादी-दृष्टिकोण आधुनिक इंग्लिश-विचारों में अस्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ था। एक दूसरे प्रकार के विकासवादी-आशावाद का ऐसा ही विरोध शापनहावर के निराशावाद के रूप में प्रकट हुआ था, जो कि साधारणतया कांट के परवर्ती प्रत्ययवाद से और विशेष रूप से हेंगेल के दर्शन से सम्बंधित है।

शापनहावर (1788-1860)

शापनहावर कांट का यह सिद्धांत स्वीकार करता है कि हमारी अनुभूति का यह वस्तुनिष्ठ जगत् पूर्णरूपेण मानवीय-संवेदनशीलता के प्रदत्तों एवं अनुभवकर्त्ता मनस के नियमों से निर्मित है, फिर भी शापन हावर हमारी संवेदनशीलता को प्रभावित करने वाले वस्तु-निजरूप की कांट की धारणा को एक भिन्न दिशा में ले जाता है। उसके दृष्टिकोण में यह वह संकल्प है, जो कि प्रत्येक वस्तु का और सभी वस्तुओं का आंतरिक-सारतत्त्व है। यह संकल्प अपने स्वभाव के द्वारा यांत्रिक रूप अपनी अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करता है और अपने-आप को विषयनिष्ठ के रूप में प्रस्तुत करता है। जड़-जगत् की यांत्रिक और रासायनिक-शक्तियां, निम्नतम से लेकर उच्चतम-श्रेणी तक के जीवित-प्राणियों के कार्यकलाप इसी विषयनिष्ठता के

विभिन्न स्तरों की अभिव्यक्ति हैं। मस्तिष्क से युक्त शरीर-रचना इसका उच्चतम स्तर है और इसलिए चेतना से युक्त होता है जीवित प्राणियों में अभिव्यक्त यह संकल्प, जो 'संकल्प' के रूप में या जीवन के प्रयास के रूप में अधिक विशिष्टता के साथ जाना जा सकता है। जीवन के प्रति यह मूल-प्रवृत्यात्मक आवेग सभी प्राणीय-प्रकृति का गहनतम सारतत्त्व है, लेकिन इसका संघर्षरत होना अनिवार्यतया वर्त्तमान अवस्था की अपूर्णता और उसके प्रति असंतोष को सूचित करता है। वह जीवन, जिसे यह संकल्प निर्मित करता है और बनाए रखता है, मूलतया एक दुःखद जीवन है। ये क्षणिक संतोष, जिनके द्वारा व्यक्ति आनंदित होता है, वस्तुतः विधायक शुभ नहीं हैं, अपितु दुःखों से (एक अस्थाई) छुटकारा मात्र हैं । इस जीवन के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ा यह दुःख मनुष्य में अपनी अधिकतम सीमा पर पहुंच जाता है, क्योंकि मनुष्य इस संकल्प की उच्चतम अभिव्यक्ति है, साथ ही, यह दुःख बौद्धिक-प्रगति के द्वारा अनिवार्यतया बढ़ता जाता है, यहां तक कि जिसे शापन हावर शुद्धतम मानवीय-संतोष अर्थात् शांत सौंदर्यानुभूति कहता है, उसमें बढ़ता है। संसार की इस दुःखद-अवस्था में मनुष्य का दर्शन के द्वारा निर्देशित कर्त्तव्य स्पष्टतया इस संकल्प (तृष्णा) का उच्छेद ही है और इसी में सम्पूर्ण सच्ची नैतिकता निहित है। इस संकल्प (तृष्णा) के उच्छेद के दो स्तर हैं। एक, निम्नतम साधारण सद्गुण उपलब्धि से पाया जाता है। यह सद्गुण मूलतया किसी आत्मा (अहं) के दूसरी आत्मा के साथ यथार्थ तादात्म्य की स्वीकृति पर निर्भर प्रेम और सहानुभूति के रूप में होता है। सद्गुणी आदमी इस स्वार्थ का निषेध और दमन करता है, जो कि सभी अन्यायों का मूल है, जो असमानात्मक रूप से दूसरे व्यक्ति में निहित उसी संकल्प को अभिव्यक्ति पर अतिक्रमण करने की स्वीकृति का संकल्प है, किंतु साधारण सद्गुण या सहानुभूत्यात्मक-कार्य जीवित रहने की इच्छा की मूलभूत भ्रांति से युक्त नहीं है। इस इच्छा (तृष्णा) का पूर्ण निषेध तो उस वैराग्ययुक्त आत्म-दमन के द्वारा ही किया जा सकता है, जो कि जीवन के मिथ्या सुखों से पूर्णतया दूर ले जाता है[74] और उस वासना (तृष्णा) का भी दमन करता है, जो जाति के अस्तित्व को बनाए रखने की प्रेरणा देती है ।

हार्टमेन

निराशावाद के लिए शापनहावर का प्राथमिक तर्क संकल्प के मूल स्वरूप-सम्बंधी विचार पर आधारित है और मानवीय-अनुभूतियों के सजग और निष्पक्ष निरीक्षण के द्वारा स्वीकृत है, किंतु जीवन की दुःखदायिता का एक अनुभव-सापेक्ष

तर्क अधिक पूर्ण रूप से ई-वन-हार्टमेन नामक एक आधुनिक लेखक के द्वारा विकसित हुआ है। हार्टमेन अपनी बहुत कुछ मौलिकता के होते हुए भी मोटे तौर से शापन हावर के शिष्य माने जा सकते हैं। हार्टमेन शापन हावर के साथ यह मानते हैं कि इस यथार्थ दुनिया का अस्तित्व अचेतन संकल्प (इच्छा) के अबौद्धिक-कार्य का परिणाम है, लेकिन हार्टमेन शापन हावर के इस सिद्धांत को अस्वीकार करता है कि सभी सुख केवल दुःख से मुक्ति हैं, लेकिन वह यह मानता है कि दुःखों की समाप्ति से होने वाला सुख उन सुखों की अपेक्षा, जो कि इस प्रकार दुःखों से प्रतिबंधित नहीं हैं, अधिक प्रबल होता है, यद्यपि उन दुःखों की अपेक्षा, जो कि इस दुःख की समाप्ति से होने वाले सुख को प्रतिबंधित होता है, बहुत ही कम तीव्र होता है, जैसे कि किसी प्रकार की भावना के दीर्घकाल तक बने रहने के कारण उत्पन्न स्नायविक-थकान दुःख की दुःखतता को बढ़ाती है और सुख की सुखदता को कम करती है। संतोष सदैव ही क्षणिक् होता है, जबकि असंतोष तब तक बना रहता है, जब तक कि इच्छा बनी रहती है। मानवीय-प्रयासों की मुख्य दिशाओं का सर्वेक्षण करते हुए हार्टमेन कहता है कि अनेक संवेग, जैसे ईर्ष्या, कुढ़न, पश्चाताप और घृणा लगभग पूर्णतया दुःखद है। स्वास्थ्य, यौवन, स्वतंत्रता आदि जीवन की अनेक स्थितियों का मूल्यांकन केवल किन्हीं दुःखों की अनुपस्थिति के आधार पर ही होता है, जबकि प्रजनन एवं विवाह ऐसी बुराईयां है, जो कि किन्हीं बड़ी बुराइयों से बचने के लिए स्वीकार की जाती है और यह कि समृद्धि, शक्ति और सम्मान के सामान्य प्रयास तब तक भ्रांत है, जब तक कि उनके विषयों को परम साध्य मान लिया जाता है, साथ ही सुख, संतान, प्रेम, महत्त्वाकांक्षा, सहानुभूति आदि की ओर प्रवृत्त करने वाले अनेक आवेग अपने कर्त्ता को दुःख की अपेक्षा अधिक दुःख की ओर ही ले जाते हैं, जबकि विचार करने पर हम देखते हैं कि दूसरे अनेक आवेग कर्त्ता के समान ही कर्म, कर्त्ता को आखिरकार एक स्पष्ट प्रबल दुःख ही प्रदान करते हैं। अंत में, कला और विज्ञान की सर्जना के कार्य, जो अधिक सुख देते हैं, किंतु केवल थोड़े-से लोग ही उनमें वस्तुतः रस लेने की योग्यता रखते हैं, इन थोड़े-से लोगों की यह उच्च प्रज्ञा भी इन्हें दूसरे स्रोतों के द्वारा दुःख ही प्रदान करती है।

ये सब विचार हार्टमेन को इस असंदिग्ध निष्कर्ष की ओर ले जाते हैं कि न केवल सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि से सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है, अपितु जिनकी परिस्थितियां बहुत ही अनुकूल हैं, ऐसे व्यक्तियों के लिए भी दुःख की मात्रा सुख की

अपेक्षा बहुत ही अधिक है। इससे आगे वह यह भी मान लेता है कि भविष्य में भी दुःख की अभिवृद्धि के अतिरिक्त भौतिक-सुधार की कोई सम्भावना नहीं है। विज्ञान की प्रगति भी विधायक-सुख नहीं दे पाती है या बहुत ही कम दे पाती है, साथ ही, यह गति दुःखों से सुरक्षा पाने में आंशिक-अभिवृद्धि पाती है। विज्ञान की गति से मानव-जाति जो कुछ प्राप्त कर सकेगी, वह भी मानवीय-प्रज्ञा और सहानुभूति के विकास के कारण दुःखों के बाहुल्य की व्यापक चेतना की तुलना में बहुत ही कम होगा। हार्टमेन का व्यावहारिक-निष्कर्ष यह है कि हमें विश्व-प्रक्रिया के साध्य, जो तथाकथित अस्तित्व के निषेध की दिशा में कार्यरत होकर व्यक्तिगत रूप से ही नहीं, जैसा कि शापन हावर मानता है, सामूहिक-रूप से जीने की इच्छा के निषेध को लक्ष्य बनाना चाहिए।

संदर्भ -

1. देखिए - बेकन नैतिक ज्ञान के अपने मुख्य एवं प्रारम्भिक वर्गीकरण में उसे दो भागों में बांटता है - (1) आदर्श या अनुकरणीय शुभ, (2) मन की संस्कृति या मन का अनुशासन। वह बताता है कि इस दूसरी शाखा के सम्बंध में प्राचीन नीतिवेत्ता अधिक नहीं जानते थे। इन प्राचीन नीतिवेत्ताओं ने मानव प्रकृति के विभिन्न लक्षणों एवं स्वभावों, उनके विभिन्न अनुरागों तथा उनको प्रभावित करने वाली अवस्थाओं एवं अवसरों का पूर्णतया एवं व्यवस्थित रूप से विवेचन नहीं किया है। जहां तक अनुकरणीय या आदर्श शुभ का सम्बंध है, यदि हम इस पृथ्वी पर परम शांति की सम्भावित प्राप्ति के लिए धर्म विरोधी असंयम का परित्याग कर दे। बेकन प्राचीन नीतिवेत्ताओं की रचनाओं को अधिक संतोषजनक मानता है। उन्होंने सद्‌गुण और कर्त्तव्य के सामान्य रूपों का तथा उनके विशेष भेदों का सम्यक् प्रकार से विवेचन किया है और उनकी पुष्टि की है अर्थात् उनका बचाव किया है, साथ ही शुभ के अंश तथा शुभ के तुलनात्मक स्वरूप का भलीभांति वर्णन भी किया है, यद्यपि बेकन यह सोचता है कि प्राचीन नीतिवेत्ताओं में शुभ या अशुभ के मूल कारणों की खोज सम्बंधी गवेषणा का दोहरा स्वरूप रहा हुआ है। प्रथम तो प्रत्येक वस्तु अपने आप में ही सम्पूर्ण है या स्वयं में ही सत्तावान् है, दूसरे, प्रत्येक वस्तु किसी एक समूह (निकाय) की सदस्य है या उसका

अंग है और यह निकाय (समूह) ही अंग की अपेक्षा अधिक महान् और मूल्यवान् है। हमें ऐसे उदाहरण भौतिक जगत् में भी मिलते हैं। किंतु यदि मनुष्य इसे भ्रष्ट नहीं करे तो उसमें शुभ का यह द्वेघ (दोहरा) स्वरूप अधिक विशिष्टता से उत्कीर्ण है। जब इसे पूरी तरह से निश्चित एवं स्थापित कर दिया जाता है, तो यह बहुत से उन विरोधों का निर्धारण करता है, जिनके सम्बंध में नैतिक दर्शन अधिक निपुण है। यहां कम्बरलैण्ड और शेफ्टस्बरी के परवर्ती विचारों का किसी सीमा तक पूर्वानुमान उपस्थित है, किंतु बेकन धर्म प्रस्तुतिकरण से स्वतंत्र पूर्ण नैतिक दर्शन के निर्माण के दावे को अस्वीकार करता है। बह कहता है कि हमें यह मानना होगा कि नैतिक विधान के बहुत बड़े भाग में वह पूर्णता उपस्थित है, जहां प्रकृति का प्रकाश नहीं पहुंच सकता है। यद्यपि प्रकृति का यह प्रकाश अंतरात्मा के नियमों के अनुसार आंतरिक मूल प्रवृत्ति के द्वारा मानवीय आत्मा में आलोकित होता है, किंतु यह केवल दुर्गुणों पर नियंत्रण करने के लिए है, न कि कर्त्तव्य की सूचना देने के लिए।

2. मैं यह नहीं कहता हूं कि जिन विचारकों के सिद्धांत यहां संकलित किए गए हैं, वे सभी (ईश्वर द्वारा) प्रकाशित धर्मशास्त्र से पूर्ण स्वतंत्र हैं। वरन् क्लार्क के सम्बंध में तो इसके विपरीत स्थिति है (देखिए पृ. 179), किंतु क्लार्क के सिद्धांत का वह भाग, जिसका विवेचन मैंने किया है, लेखक का अपना दृष्टिकोण है, जो कि पूर्णतः बौद्धिक आधार पर खड़ा है और ईश्वरीय आदेश पर आधारित नहीं है।

3. यह ध्यान देने योग्य है, ग्रोटीअस की रचनाओं में पुस्तक 1 अध्याय 1 भाग 10 में दी गई परिभाषाओं के मूल पाठ में उसके अपने शब्द नहीं हैं। वे उसके सम्पादक वारबेरेक के द्वारा जोड़े गए हैं, जो यह मानता है कि ये विचार उसी अध्याय के 12 वें भाग से तुलना करने पर लागू होते हैं।

4. इस प्रकार के जिस बहुत ही सुनिश्चित कथन को मैं जानता हूं, वह निम्न है- मूल कथन अन्य भाषा में होने से यहां उसका अनुवाद नहीं हो पा रहा है।

5. यह प्रकट रूप में आंगिक गति को स्वीकार करता है। जिसे वह क्षुधा कहता है और जो कि उन जैविक क्रियाओं का विकसित रूप है जो हमें प्रसन्नता प्रदान करती है या सुखद लगती है। किंतु यहां एक विचित्र अस्पष्टता परिलक्षित होती है। यद्यपि आभासी रूप से यह माना जा सकता है कि अभिलाषा सुख का अविभाज्य अंग है, तथापि इस बात के भी प्रमाण है कि अक्सर अभिलाषा (इच्छा) की अनुभूति सुख के

बिना ही होती है। स्वयं हाव्स भी यह मानता है कि उपलब्धि सुख के बिना ही होती है। स्वयं हाव्स का भी कथन है कि उपलब्धि के विचार के अभाव में क्षुधा निराशा ही है, सुख नहीं। इसलिए मैंने इस ग्रंथ में इच्छा और सुख के तादात्म्य को छोड़ देने की एक सुस्पष्ट भूल की है, लेकिन हाव्स का बल इस बात पर है कि 'सुख में इच्छा निहित है' यह हमें ध्यान में रखना चाहिए, जैसा कि उसके आनंद या सुख के विवेचन में प्रतीत होता है। वह बताता है कि सुख मन की संतुष्ट अवस्था में निहित है, जिसे हम परोपकार भी कहते हैं। जब हम मनुष्य की गौरवपूर्ण सामाजिक अभिरुचियों पर संकुचित रूप से विचार करते हैं, तो उनका दूसरे लोगों से व्यक्तिगत लाभ उठाने की इच्छा में या प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा में समावेश हो जाता है।

6. यहां हाव्स के उन साध्यों के सिद्धांतों में, जिन्हें मनुष्य प्राप्त करता है और उनके प्राकृतिक अधिकारों का निर्धारण करने के उसके प्रमाणक में एक असंगति दिखाई देती है, यद्यपि सम्भवतः यह अचेतन ही हो। यह प्रमाणक कभी भी केवल सुख नहीं है, अपितु सदैव ही सुरक्षा की भावना है, तथापि वह एक स्थान पर बचाव (सुरक्षा) के इस प्रत्यय को जीवन की सुरक्षा के रूप में विकसित करता है, ताकि कोई भी इस सम्बंध में निरुत्साहित नहीं हो। यहां उसका दृष्टिकोण यह प्रतीत होता है कि प्राकृतिक अवस्था में अधिकांश मनुष्यों को मात्र सुख या प्रतिष्ठा के लिए लड़ना, लूटना आदि करना पड़ता था और इसलिए सभी मनुष्यों को सुरक्षा (बचाव) के लिए लड़ने, लूटने आदि का असीम अधिकार दिया जाना चाहिए।

7. यह स्पष्ट है कि हाव्स इस सिद्धांत को गास्पे के सुप्रसिद्ध स्वर्णिम नियम से भिन्न नहीं बताता है, तुलना कीजिए - लेव्हीथान, अध्याय 15, पृष्ठ 79 तथा अध्याय 17, पृष्ठ 85, तथापि उपरोक्त सिद्धांत विधायक सेवा के स्थान पर संयम या त्याग का विधान कर स्वर्णिम नियम का निषेधात्मक रूप में उपयोग करता है। सम्भवतः यह अधिक ध्यान देने योग्य है पफफेन्ड्रोफ ने हाव्स को उद्धृत करते समय इन दो सिद्धांतों के बीच के अंतर को देखने का प्रयास नहीं किया है।

8. हाव्स 'प्राकृतिक नियम' के पद को व्यापक नैतिक अर्थ में ग्रहण करता है। वह स्पष्ट रूप से यह मानता है कि जो वस्तुएं किसी विशेष व्यक्ति को विनाश की दिशा में ले जाती हैं, जैसे मद्यपान या असंयम के विभिन्न प्रकार, वे उन वस्तुओं में हैं, जिनका प्रकृति के नियम ने निषेध किया है, किंतु उसका सम्बंध केवल उन नियमों की व्याख्या से है, जो सामाजिक आचरण का नियमन करते हैं और भीड़ में मनुष्य की

सुरक्षा का प्रयत्न करते हैं।

9. हाव्स इन दोनों कथनों के बीच कोई आकारिक विरोध नहीं मानता है, क्योंकि वह अधिकार को इस प्रकार परिभाषित करता है - (मूलभूत) अधिकार - स्वतंत्रता - किन्ही बाह्य बाधाओं का अभाव, किंतु व्यावहारिक रूप में उसका भी 'अधिकार' से वही तात्पर्य है, जो कि जन-साधारण का है, अर्थात् वैध स्वतंत्रता (न्यायपूर्ण स्वतंत्रता) एक ऐसी स्वतंत्रता, जिसका अनुमोदन एवं दावा व्यक्ति का विवेक करता है। किसी भी स्थिति में यह कथन कि प्राकृतिक अवस्था में उचित और अनुचित की धारणाओं का कोई स्थान नहीं है, अपने वास्तविक अर्थ की अपेक्षा बहुत ही अधिक व्यापक है, क्योंकि हाव्स भी यह मानता है कि प्राकृतिक जीवन की अवस्था में भी प्रकृति के नियम के द्वारा भी असंयम का निषेध (नियमन) किया जाता है। (देखिए इसके पूर्व की टिप्पणी।)

10. कडवर्थ यह सिद्ध करने का व्यर्थ श्रम करता है कि अणुवाद और सापेक्षवाद का प्रतिपादक हेमाक्रिटस नहीं वरन् प्रोटागोरस था।

11. वह बताता है, कि प्रभावशील परोपकार से उसका तात्पर्य उस सिद्धांत से है जो कि ऐसा निर्जीव या निस्तेज नहीं है कि जिसका बाह्य कर्मों पर असर ही नहीं होता है।

12. सम्भवतः, निजी सम्पत्ति की परिभाषा के संदर्भ में यह लाक का बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तन है, जबकि ग्रोटीअस के विचारों में निजी सम्पत्ति का अधिकार व्यक्त या अव्यक्त समझौते (संविदा) पर निर्भर माना गया था।

13. मैं सोचता हूं कि उपयोगितावाद के लाक के कथन को पुफेन्डोर्फ की उन उक्तियों के द्वारा ठीक तरह से बताया जा सकता है, जिनमें उसने अपनी स्वयं की पद्धति को बताया है। वह कहता है कि एक प्राकृतिक नियम के लिए कारण बताने या तर्क देने में हम उनसे मिलने वाले लाभों का नहीं, अपितु उस सामान्य स्वरूप का, जिसमें वे पाए जाते हैं, सहारा लेने के आदी हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमें इस बात का कारण देना हो कि मनुष्य को दूसरे की हिंसा नहीं करना चाहिए, तो हम यह नहीं कहेंगे कि पारस्परिक हिंसा से बचने के लिए यह लाभदायक है (यद्यपि अधिकांश रूप में वस्तुतः यह ऐसा ही है), अपितु यह कहेंगे कि दूसरे व्यक्ति की वह आत्मा स्वरूपतः हमसे सम्बंधित है, जिसकी हम हिंसा करना चाहते हैं। जिस ढंग से लाक ने अपने शिक्षा सम्बंधी निबंध में पुफेन्डोर्फ को

उद्धृत किया है, उससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि प्राकृतिक नियमों के संदर्भ में वह उसके दृष्टिकोण से मूलतः सहमत है।

14. यह ध्यान में रखना होगा कि क्लार्क की आलोचना वस्तुतः केवल हाब्स के विरुद्ध थी। जहां तक मैं जानता हूं, उसने कभी भी लाक से अपना सम्बंध स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया।

15. जिस समुचितता या संगति को वह यहां स्पष्ट करने का प्रयास करता है, वह संगति (अ) प्रशंसा (Congruvity), भय आशा और दूसरी मानवीय भावनाओं तथा (ब) शाश्वतता, अनंतता, सर्वज्ञता, शक्ति, न्यायशीलता और दयालुता आदि के ईश्वरीय गुणों के बीच है, किंतु मानवीय संवेगों और ईश्वरीय गुणों के बीच यह अनिश्चित गुणात्मक अनुरूपता उस मात्रात्मक संबंध के समान नहीं हो सकती, जिसे हम गणितीय समानता के पदों के बीच पाते हैं।

16. जैसा कि मैने अन्यत्र बताया है कि क्लार्क के द्वारा प्रस्तुत यह सिद्धांत पुनरोक्ति दोष से मुक्त नहीं है (देखिए-मेथड्स आफ इथिक्स, खण्ड 3, अध्याय 13, अनुभाग 4), किंतु मैं मानता हूं कि यह आक्षेप उसके तर्कवाक्य के स्वरूप के सम्बंध में है, विषयवस्तु के सम्बंध में नहीं। मैं सोचता हूं कि क्लार्क के उन सिद्धांतों की पूर्णता के प्रति अधिक तीव्र आक्षेप यह है कि समानता और परोपकार के वे नियम, जिन्हें वह प्रस्तुत करता है, उसके स्वतःप्रमाण्य नैतिक सत्य के सामान्य स्वरूप को मुश्किल से ही बता पाते है, क्योंकि इन नियमों के द्वारा सोचे गए सम्बंध समानता के सम्बंध हैं, जबकि नैतिक सत्य के सामान्य स्वरूप के प्रस्तुतिकरण के पश्चात् हम उससे जो अपेक्षा करते हैं और व्यावहारिक उपयोगों के लिए जिसे बताने की आवश्यकता है, वह यह कि व्यक्तियों की परिस्थिति और उनके सम्बंधों के अनुरूप उनके व्यवहार में कैसी भिन्नता होती है।

17. यह ग्रंथ सर्वप्रथम 1699 ई. में मुद्रित हुआ था, किंतु केरेक्टरस्टिक्स के दूसरे खंड के रूप में सन् 1711 ई. में इसके पुनः प्रकाशन के पश्चात् ही इसके प्रभाव को माना जा सकता है।

18. अपने अधिकांश तर्कों में शेफ्ट्सबरी व्यक्ति के शुभ की सुखवादी व्याख्या का समानार्थी मानता है। किंतु यह ध्यान में रखना होगा कि शुभ सम्बंधी उसकी धारणा सुखवादी नहीं है। प्रथमतया हित या शुभ का अर्थ एक मनुष्य की सम्यक् (उचित) अवस्था है, जो कि उसे स्वभावतः प्राप्त है या जिसे उसके द्वारा आंतरिक

रूप से प्राप्त किया गया है। एक स्थान पर वह ऐसी विश्व व्यवस्था को मानता है, जिसका एक लक्ष्य शुभ है, किंतु जब वह इस शुभ शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में मनुष्यों के लिए करता है, तो वह अचेतन रूप से उसकी एक विशुद्ध सुखवादी व्याख्या की ओर चला जाता है, वस्तुतः, वह स्वयं दर्शन को आनंद के अध्ययन के रूप में परिभाषित करता है। मारलिस्टस भाग 3, अनुभाग 3 में यह कह सकता हूं कि वह जहां तक मैं जानता हूं मानव जाति के शुभ या आनंद और विश्व व्यवस्था के शुभ के बीच किसी संघर्ष की सम्भावना को स्वीकार नहीं करता है।

19. स्वयं शेफट्सबरी के दृष्टिकोण के अनुसार भी यह वर्गीकरण की यह पद्धति पूरी तरह से समीचीन नहीं है। आत्मानुराग भी उतने ही स्वभाविक हैं, जितने कि सामाजिक अनुराग, यद्यपि सामाजिक अनुराग एक विशेष अर्थ में ही स्वाभाविक हैं, वे तब स्वाभाविक है, जबकि वे बृहद साध्य अर्थात् मानव जाति के शुभ के लिए अभिमुख हैं।

20. शेफ्ट्सबरी नैतिक पसंदगी और नापसंदगी के समुचित विषय के रूप में कभी अनुरागों और क्रियाओं की बात कहता है, तो कभी केवल अनुरागों की। मेरी धारणा है कि उसका दृष्टिकोण यह है कि वह विषय बाह्य कर्म नहीं है, जो कि नैतिक संवेदना को जाग्रत करता है, अपितु वह कर्म है, जो उसकी भावना की प्रस्तुति है।

21. जैसा कि हम देखेंगे, ह्यूम साधारण मानवीय संवेग के रूप में लोक-कल्याण के अस्तित्व से स्पष्टतया इंकार करता है।

22. सरमन 9 वां (साथ ही सरमन 12 वें की टिप्पणी भी देखिए)

23. तीसरे सरमन के अंत में।

24. सरमन 11 वां

25. दूसरी ओर बटलर नैतिकता के विषय को 'कर्म' के रूप में परिभाषित करता है। वह कर्म, जिसमें केवल निष्क्रिय अनुभूतियों में, जहां तक कि वे हमारी शक्ति से परे हैं और उनमें भिन्न कर्म के प्रयोजन और कर्म की प्रवृत्तियां भी निहित हैं।

26. यह ध्यान देने योग्य है कि हचीसन आत्मप्रेम के लक्ष्य की सुस्पष्ट परिभाषा में पूर्णता और आनंद को भी समाहित करता है, किंतु अपने नैतिक दर्शन की स्थापना में वह वैयक्तिक शुभ को आनंद या सुख से भिन्न मानता है।

27. ह्यूम का नैतिक दृष्टिकोण सबसे पहले उसके ग्रंथ ट्रेस्टीज ऑफ ह्यूमन नेचर

में अभिव्यक्त हुआ है (1739 ई.), किंतु उसका अंतिम स्वरूप हमें इन्वयावरी इन्टू दी प्रन्सीपल्स् आफ मारलस् (1751 ई.) में मिलता है। क्योंकि प्रथम ग्रंथ की धारणाओं का स्वयं लेखक के द्वारा स्पष्ट खण्डन कर दिया गया था, इसलिए मैंने अपना ध्यान उसके परवर्ती ग्रंथ पर ही केंद्रित रखा है, जिसमें कि ह्यूम के विचार उसके दूसरे सभी लेखनों की अपेक्षा अतुलनीय रूप से उत्तम हैं। यद्यपि प्रजा के शासन के प्रति कर्तव्यों के संदर्भ में इसे सन् 1752 में प्रकाशित ग्रंथ 'ऐसे आन ओरीजनल कान्ट्रेक्ट' के साथ देखना उचित होगा। मैं यह भी सोचता हूं कि न्याय की उत्पत्ति के सम्बंध में ह्यूम के विचारों को अकेले उस परवर्ती ग्रंथ के माध्यम से सरलतापूर्वक नहीं समझा जा सकता है। अपने ग्रंथ 'ट्रेस्टीज आन ह्यूमन नेचर' में वह न्याय एवं स्वहित के मूलभूत सम्बंध के बारे में मोटे तौर पर हाब्स के साथ सहमत है और हाब्स के समान ही यह मानता है कि न्याय के आबंध स्थापित उस सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व पर आधारित हैं, जिसे व्यक्ति के हितों की रक्षा करनी है। प्रथम प्रश्न इस स्थापित सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति से सम्बंधित है। उसके अनुसार हाब्स की प्राकृतिक अवस्था केवल एक दार्शनिक कल्पना है। वह मानता है कि न्याय का पालन किसी स्पष्ट समझौते का परिणाम नहीं है, लेकिन यह उसी प्रकार परम्पराओं से क्रमशः विकसित हुआ है, जिस प्रकार भाषा और मुद्रा अस्तित्व में आई है। दूसरा प्रश्न मूलतः न्याय के नियमों के पालन की अभिमुख आत्महित के प्रेरक के द्वारा न्याय के नैतिक आबंध या उचित और अनुचित की भावना का न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण कर्मों में विभाजित करने से सम्बंधित है, को प्रथम स्थान देकर इसे एकमात्र सद्गुण मानने के विरोधाभास से बच गया है और सत्यनिष्ठा, विनयशीलता, सक्रियता, अध्यवसायिता एवं दूरदर्शिता आदि गुणों को बहुत कुछ अपरिभाषित एवं अविवेचित गुणों की श्रृंखला खड़ी की है। जिसे नैतिक इंद्रिय या गौरव बोध की भावना के द्वारा अपरोक्षतया सद्गुणों के विभिन्न अंशों के रूप में अनुमोदित किया गया है। इसने स्वाभाविक रूप से ह्यूम जैसे व्यक्ति को, जो कि मनोविज्ञान में प्रायोगिक विधि को लागू करने को उत्सुक था, यह सुझाव दिया कि वैयक्तिक सद्गुणों के इन विभिन्न घटकों के अनुमोदन की समस्या को किसी सामान्य सिद्धांत के आधार पर सुलझाया जाए। कडवर्थ, क्लार्क आदि विचारकों ने यह माना था कि केवल बुद्धि ही ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत कर सकती है, किंतु ह्यूम ने इस बात से स्पष्टतया इंकार कर दिया, निःसंदेह एक पूर्णतया अभ्रांत बुद्धि या निर्णायक शक्ति है। वह न्याय के नैतिक आबंध

को सहानुभूति बताता है, जो कि अन्याय को नापसंद करती है, फिर चाहे वह अन्याय हमारे हितों का साधन ही हो, वह यह भी मानता है कि यह सहानुभूति वृहद् समाज में आत्महित की आवश्यक पूरक है। 'इन्ववायरी इन्टू दी प्रंसीपल्स आफ मारल्स' नामक ग्रंथ में न्याय की मूलभूत उत्पत्ति आत्महित से हुई है, इसे अवश्य ही पार्श्वभूमि में रखा गया है, यद्यपि कोई भी सजग पाठक यह देखेगा कि ह्यूम ने इसका निषेध नहीं किया है। निस्संदेह उसने सहानुभूति के कार्यों को अधिक महत्व दिया है, फिर भी वह यह मानता है कि न्याय का क्षेत्र सहानुभूति के आत्महित से परोक्ष सम्बंध से सीमित होता है, उदाहरणार्थ वह स्पष्ट रूप से यह कहता है कि वस्तुतः हम बौद्धिक प्राणी होने के नाते न्याय की बाध्यता में नहीं हो सकते, हममें वह बौद्धिक प्राणी हमारी अपेक्षा इतना अधिक निर्बल है कि हमें उसकी नाराजगी से डरने का कोई कारण नहीं है।

28. यद्यपि यह ध्यान देने योग्य है, अपने प्रारम्भिक ग्रंथ की अपेक्षा अपने परवर्ती ग्रंथ में विचारों के साहचर्य के द्वारा ह्यूम इस व्याख्या को बहुत ही कम स्थान देता है।

29. जो लेखक यह बताते हैं कि ह्यूम उपयोगिता को उचित और अनुचित का मानदण्ड मानता है, उन्होंने इस बात पर कभी ध्यान नहीं दिया कि ह्यूम उपयोगिता के पद पर प्रयोग कभी भी सुख का सहायक होने के उसका व्यापक अर्थ में नहीं करता है, जो अर्थ बेंथम और पेले की नैतिक विवेचनाओं में सामान्यतया उस शब्द को प्रदान किया था। वह उसे सदैव ही बाह्य शुभ की प्रवृत्ति के संकुचित अर्थ में ही प्रयुक्त करता है। वह उपयोगी को तात्कालिक पसंदगी से भिन्न मानता है, जैसा कि साधारण बातचीत में उन्हें अलग-अलग माना जाता है।

30. यह ध्यान देने योग्य है कि इस सदय निंदा में जो सहानुभूति अभिव्यक्त होती है, उसे ह्यूम परोपकार के विषय को दिए गए तात्कालिक सुख के प्रति सहानुभूति की अपेक्षा कर्त्ता के परोपकारी भाव के प्रति सहानुभूति मानता है। इस तथ्य का एक अधिक गहन विश्लेषण उसे उस दृष्टिकोण की ओर ले गया, जिसे बाद में एडम स्मिथ ने ग्रहण किया। वह दृष्टिकोण यह है कि ऐसे प्रसंगों में दृष्टा की सहानुभूति परोपकारी कर्त्ता के क्रियाशील आवेगों के प्रति सहानुभूति होती है।

31. ट्रीटाइस आन ह्यूमन नेचर, पार्ट सेकंड पृ.31

32. पृष्ठ 210 पर उद्धृत धारक के लिए उपयोगी गुणों की सूची देखिएं इन्ववायरी के पहले संस्करण में ह्यूम स्पष्ट रूप से सब अनुमोदित गुणों को सद्गुण के

सामान्य विचार के अंतर्गत लेता है, किंतु बाद के संस्करणों के अनेक अनुच्छेदों में वह सद्‌गुण के स्थान पर योग्यता शब्द के प्रयोग के द्वारा इस शब्द को दिए गए बल को समाप्त कर देता है अथवा उनके स्थान पर वह कुछ अप्रशंसनीय गुणों को, जिन्हें साधारणतया प्रवीणता कहा जाता है, स्वीकार कर लेता है, किंतु फिर भी वह यह मानता है कि हमारे सद्‌गुण और प्रवीणता के आंतरिक मूल्यांकन में कुछ अंतर रहता है।

33. एडमस्मिथ इस सहानुभूति को कल्पना के स्वतः प्रेरित खेल के कारण मानव प्रकृति का मौलिक तत्त्व मानता है। वस्तुतः, वह बताता है कि इस प्रकार कभी हम दूसरे के लिए ऐसे संवेग का अनुभव करते हैं, जो कि भावनाओं में होता ही नहीं है। उदाहरणार्थ–पागलों के प्रति हमारे मन में करुणा पैदा होती है, जबकि वे प्रसन्न एवं मस्त रहते हैं अथवा मृतक को ठंडी कब्र में लिटाने के लिए संवेदना प्रकट करते हैं।

34. इसकी एडम स्मिथ के कथनों से संगति बैठा पाना विशेष रूप से कठिन है। वह अन्यत्र कहता है कि देश देश में और युग-युग में नैतिक स्थाई भाव बदलते हैं।

35. किंग्स के राज के नियम के अनुवाद में पूर्व में जोड़े गए एक अध्याय से (1731)

36. यह शब्द एकवचन है तथा अनुपयुक्त है, क्योंकि इसकी रचना दया, सामाजिकता तथा विद्वान् एवं गुणीजनों के प्रति आदर जैसी भावनाओं को समाहित करने हेतु की गई है, दूसरे, पशुओं में इन गुणों को स्वीकार करने का कोई आधार नहीं है।

37. हमें यह देखना होगा कि बटलर के पश्चात् जहां प्राइस और स्टेवार्ट आत्म-प्रेम के विषय का सुख या आनंद से तादात्म्य करते हैं, वहां रीड अस्पष्ट रूप से इस शुभ में पूर्णता और आनंद को अंतर्निहित मानता है, यद्यपि वह कभी-कभी आनंद और शुभ का पर्यायवाची पदों के रूप में उपयोग करता है और जिसे वह आत्म-प्रेम कहता है।

38.

39. यद्यपि वह स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि किसी व्यक्ति की अंतरात्मा गलती कर सकती है, साथ ही, वह यह भी मानता है कि उस अंतरात्मा की गलती की अवस्था में यदि वह उस भ्रांत निर्णय के अनुसार आचरण करता है, तो वह नैतिक-दृष्टि से उचित है।

40. निबंध, सक्रिय शक्तियां, खण्ड 4, अध्याय 1

41. उदाहरणार्थ- रीड इस सिद्धांत का उपयोग स्त्रियों एवं पुरुषों की जन्म संख्या के अनुपात के आधार पर एक-पत्नी-प्रथा या एक-पति-प्रथा के पक्ष में करना चाहता है। यद्यपि वह इसकी कोई व्याख्या नहीं करता है कि यदि प्रकृति का प्रयोजन विरल-बहुत-विवाह का निषेधक है, तो फिर वह विरल-ब्रह्मचर्य का निषेधक क्यों नहीं होगा।

42. एल.सी., चेप्टर 5 वां

43. स्टेवार्ट कर्त्तव्यों को तीन वर्गों में विभाजित करता है - (1) दैवीय कर्त्तव्य, (2) सामाजिक-कर्त्तव्य, (3) वैयक्तिक-कर्त्तव्य। तीसरे वर्ग के अंतर्गत वह मुख्यतः आनंद के आंतरिक स्रोतों और अवस्थाओं तथा विशेष रूप से स्वभाव, दृष्टिकोण, कल्पना और आदतों के आनंद पर पड़ने वाले प्रभाव पर विचार करता है।

44. इन सुधारों में यह देखा जा सकता है कि स्टेवार्ट, श्रेष्ठता की अभिलाषा या श्रेष्ठता की प्रतिस्पर्धा का एक ओर अधिकार-लिप्सा है और दूसरी ओर ईर्ष्या की दुर्भावना, जिसमें यह कभी-कभी संयुक्त रहती है, से अंतर करता है, जबकि रीड इस श्रेष्ठता की अभिलाषा को इन दो अलग-अलग आवेगों में से किसी एक के साथ मिश्रित करता रहा है। इस प्रकार, यहां स्टेवार्ट रीड के दृष्टिकोण को ठीक करता है। इसके साथ ही आनंद को व्यक्ति के अंतिम शुभ के रूप में स्वीकार करने के सम्बंध में भी रीड की अपेक्षा स्टेवार्ट का दृष्टिकोण अधिक निश्चित एवं संगतिपूर्ण है। स्टेवार्ट आनंद को बौद्धिक एवं कर्मों के नियामक-सिद्धांत का विषय मानता है, जिसे वह बटलर के पश्चात् आत्मप्रेम के रूप में स्वीकार करता है। यद्यपि उसने इस आत्म-प्रेम की कुछ यथोचित आलोचना भी की है। नैतिक-शक्ति के सम्बंध में भी उसकी पद्धति एवं विवेचना निश्चित ही रीड की अपेक्षा उत्तम है। वस्तुतः, यह विवेचन गहन या गम्भीर तो नहीं है, फिर भी रोकट्सबरी, एडमस्मिथ आदि सभी अपने पूर्ववर्ती विचारकों के दृष्टिकोणों में निहित सत्य को नैतिक चेतना पर निष्पक्ष चिंतन के द्वारा समन्वित एवं संगतिपूर्ण रूप में प्रस्तुतिकरण का एक सुबोध, व्यापक एवं विवेकयुक्त प्रयास है।

45. स्टेवार्ट आंशिक रूप से व्यावहारिक-नीतिशास्त्र के अतिसामान्य विषयों को छोड़ देने की इच्छा रखता है, किंतु यह कर पाना कठिन है। रीड और स्टेवार्ट के द्वारा प्रतिपादित सहज-बुद्धि पर आधारित कोई नीति-विज्ञान किस प्रकार विशेषों की इतनी

बड़ी अवहेलना कर सकता है।

46. हम यह देख सकते हैं कि कुछ आधुनिक विचारक, जिन्हें सामान्यतया इस सम्प्रदाय के अंतर्गत माना जा सकता है, बाह्य-आचरण के नियमों के निर्धारण करने की कठिनाई से बचने का विभिन्न रूपों में प्रयास करते हैं। उदाहरणार्थ- मार्टिन्यू यह मानता है कि नैतिक सहज बुद्धि प्रथमतया बाह्य क्रियाओं से सम्बंधित नहीं है, बल्कि उसका सम्बंध संघर्षशील प्रेरणाओं की तुलनात्मक उच्छमता से है। दूसरे कुछ यह मानते हैं कि सहजबुद्धि के द्वारा जो कुछ जाना जाता है, वह व्यक्ति के कार्यों की उचितता और अनुचितता है। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है, जो नैतिक-तर्क को व्यावहारिक-दृष्टि से स्पष्टतया अनावश्यक मानता है।

47. यह मानना होगा कि पेले का इस तर्क यह उपयोग अधिक युक्तियुक्त नहीं हैं। यह हितकर नर-हत्या के किसी कार्य के परिणामों और ऐसे कार्य करने की सामान्य अनुमति के परिणामों में समुचित प्रकार से अंतर नहीं कर पाया है।

48. इस सूची में बेंथम के द्वारा प्रस्तुत कर्म-प्रेरकों के चौदह प्रकारों में से बारह प्रकार दिए गए हैं। इसमें धार्मिक अंकुश (जिसे बाद में जोड़ा गया है) और आत्महित से सम्बंधित सुख-दुःखों को छोड़ दिया गया है। यद्यपि आत्महित से सम्बंधित सुख दुःखों में सहानुभूति और बैर-भाव को छोड़कर सभी दूसरे प्रकार समा जाते हैं।

49. बेंथम उसमें निकटता और दूरी को भी जोड़ देता है, किंतु इससे उसका तात्पर्य यह हो कि किसी सुख की तिथि उसके तर्क-निष्पन्न मूल्य को प्रभावित करती है, सिवाय इसके कि समय की दूरी के बढ़ जाने पर उसकी अनिश्चितता में भी आवश्यक रूप से वृद्धि हो जाती है, यह समझ पाना कठिन है।

50. बेंथम सुख-दुःख दोनों को समाहित करने के लिए अंकुश शब्द का प्रयोग करता है, किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि उसका अनुसरण करने वाले आस्टिन और (मेरी दृष्टि से) विधिवेत्ताओं के पूरे सम्प्रदाय ने ही इस शब्द को दुःखों तक सीमित किया है। अंकुश प्रेरकों का ही एक प्रकार है और इसलिए विधि-निर्माता और न्यायाधीश उनसे मुख्यतः बाह्य रूप से ही सम्बंधित होते हैं।

51. विधि एवं नैतिकता के सिद्धांत नामक ग्रंथ में प्रस्तुत बेंथम के अंकुशों के प्रारम्भिक वर्गीकरण में वह स्पष्ट रूप से नैतिक-भावनाओं के सुख-दुःखों को स्वीकार नहीं करता है। उसकी परिभाषा के अनुसार, उन्हें भौतिक-अंकुशों में समाहित किया जा सकता है, किंतु सम्भवतया हम यह मान सकते हैं कि वह इन अनुभूतियों को

साधारण प्रेरकों की तुलना में अधिक महत्त्व नहीं दे पाता है, विशेष रूप से जबकि हम इन्हें एक ओर प्रतिष्ठा और उसके परिणामों के प्रति आदरभाव से तथा दूसरी ओर भावी-जीवन में पुरस्कार की प्रत्याशा और दण्ड के भय से अलग करें। यद्यपि ड्यूमोन्ट को सन् 1921 में लिखे गए परवर्ती पत्र में वह अलग से सहानुभूत्यात्मक-प्रेरक (अंकुश) और विद्वेषात्मक प्रेरक (अंकुश) को स्वीकार करता प्रतीत होता है, जिन्हें सामान्यतया नैतिक स्थाईभाव कहा जाता है। (तुलनीय-विधि और नैतिकता के सिद्धांत, वाल्यूम 1 पृ. 14 का टिप्पण)

52. ये डिआन्टोलाजी नामक ग्रंथ के प्रमुख विषय हैं।

53. देखिए बेंथम की रचनाएं, खण्ड 10, (जीवन) पृष्ठ 560, 561 एवं 79

54. यह बात ध्यान में रखना होगा कि बेंथम के बाद आस्टिन नैतिक शब्द का प्रयोग 'विधायक-नैतिकता' के अर्थ में करता है। विधायक-नैतिकता का तात्पर्य नियमों की उस संहिता से है, जो कि किसी भी समाज में सामान्यतया स्वीकृत होती है।

55. संक्षिप्तता की दृष्टि से यह अक्सर सुविधाप्रद होगा कि उपयोगितावाद की चर्चा स्पष्ट रूप से केवल सुख को सूचित करती है। दुःख सुख के निषेधात्मक गुण के रूप में उसमें समाहित ही माना जाना चाहिए।

56. उपरोक्त कण्डिका (परेग्राफ) में वर्णित विचार आंशिक रूप से मिल के आगस्ट कोम्से और भाववाद नामक निबंध (भाग 2) में अंशतः उसके स्वतंत्रता नामक निबंध में पाए जाते हैं।

57. इस सिद्धांत के महत्व को जे.एस. मिल ने अपने पिता जेम्स मिल से जाना। जेम्स मिल ने इस सिद्धांत को अपने ग्रंथ मानव मन का विश्लेषण में अधिक स्पष्टता और दृढ़ता से प्रस्तुत किया था और जो कि मूलतः हार्टले के समान ही था, किंतु फिर भी हार्टले के शरीर-क्रिया-विज्ञान की अस्पष्टता (अपरिपक्वता) से मुक्त था।

58. बेन सहानुभूति की इस क्रिया को उस स्थिति का एक विशेष प्रसंग मानता है, जिसके अनुसार प्रत्येक कर्म करने का विचार स्वयं को क्रियान्वित होने या वस्तुतः घटित होने की प्रवृत्ति रखता है। उस कर्म करने के विचार की ऐसी प्रवृत्ति इस आधार पर नहीं है कि इससे सुख मिलेगा या दुःख दूर होगा, अपितु उसकी ऐसी प्रवृत्ति मनस की एक स्वतंत्र प्रेरणा के रूप में है।

59. नैतिक-स्थायीभाव की उत्पत्ति के साहचर्यवादी सिद्धांत का एक रुचिकर

स्वरूप हमें श्री हर्बर्ट स्पेन्सर के ग्रंथ 'नीतिशास्त्र की विषयवस्तु' में देखने को मिलता है (देखिए पृ.44 से 47)। स्पेन्सर के अनुसार, नैतिक-चेतना का मुख्य लक्षण सहज एवं निम्न कोटि की भावनाओं का जटिल एवं उच्चकोटि की भावनाओं के द्वारा नियमन करना है, किंतु यह मुख्य लक्षण उन दूसरे अनुशासनों का भी है, जिन्हें सही अर्थों में नैतिक नहीं कहा जा सकता है। जंगली मनुष्यों के आवेगों का सर्वप्रथम नियंत्रण दूसरे जीवित या मृत मनुष्यों की नाराजगी के अस्पष्ट भय से होता है। मृतकों के भय का यह विचार प्रेतात्माओं में विश्वास के कारण होता है। फिर, इनसे क्रमशः न्यायिक-दण्ड का भय, ईश्वरीय-दण्ड का भय तथा सामाजिक-निंदा का भय का विकास होता है। इन्हीं भय-जनित नियंत्रणों (अंकुशों) के द्वारा नैतिक-आबंध के प्रत्यय का उद्‌भव हुआ है। उपरोक्त प्रसंगों में ये भयजनक परिणाम सांयोगिक हैं, अनिवार्य नहीं हैं, तथापि बुरे कार्यों के द्वारा उत्पन्न उन अनिवार्य स्वाभाविक अनिष्टों की अपेक्षा इन भयजनक परिणामों को स्पष्टतया स्वीकार कर लेना आसान है, जिनका प्रस्तुतिकरण सही नैतिक-भावनाओं और नैतिक-नियंत्रणों (अंकुशों) का उचित स्रोत है। तदनुसार नैतिक-भावनाओं या नैतिक-नियंत्रण का विकास राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक-प्राधिकारों से उत्पन्न नियंत्रणों (अंकुशों) की अपेक्षा तथा सामाजिक-संगठन की उन अवस्थाओं में, जिनका निर्माण ये दूसरे नियंत्रण (अंकुश) करते हैं, धीरे-धीरे होता है। यद्यपि नैतिक-भावना के इस प्रकार से एक बार विकसित हो जाने पर चेतन-अनुभूतियों में ये हमारे दूसरे अंकुशों से बिलकुल स्वतंत्र होंती है। स्पेन्सर का कहना है कि राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक-अनुशासनों (नियंत्रणों) के साहचर्य के कारण विशुद्ध नैतिक-अनुशासन (अंकुश) की यह निग्रह-शक्ति (नियामक-बल), जैसे ही नैतिक-प्रेरणा में स्पष्ट एवं प्रमुख होती है, नैतिक आबद्धता कम हो जाती है। इस प्रकार, जितनी तेजी से नैतिकता का विकास होता है, उतनी तेजी से नैतिक-आबंध या कर्त्तव्य-बोध का ह्रास होता जाता है और इस प्रकार, नैतिक-आबंध या कर्त्तव्य-बोध एक अस्थायी तत्त्व ही रह जाता है।

60. चौड़ाई-भिन्नता से स्पेन्सर का तात्पर्य परिवर्तन की मात्रा के उन अंतरों से है, जिनमें से एक ही समय में विभिन्न जीवित प्राणी गुजरते हैं।

61. देखें-नीतिविज्ञान नामक ग्रंथ (1882)

62. उस समाज विज्ञान को, जिसका कि निर्माण हो चुका है, कहां तक मान्य किया जाए, इस प्रश्न पर विकासवादी-विचारकों में पर्याप्त मतभेद होने की सम्भावना

हो सकती है। स्पेन्सर यह मानते हैं कि पूर्ण रूप से स्थापित हो जाने पर समाज-विज्ञान में सुदूर भविष्य के आदर्श समाज की निश्चित भविष्यवाणी करने में समर्थ होगा। दूसरी ओर, स्टीफन का कहना यह है कि वर्त्तमान में समाज-विज्ञान उन असत्यापित अनुमानों तथा अस्पष्ट सामान्यताओं की अर्द्ध वैज्ञानिक शब्दावलि के रूप है।

63. यद्यपि यह ध्यान रखना होगा कि कुछ निर्धारणवादियों (नियतिवादियों) ने इस तर्क को कुछ भिन्न अर्थ में लिया है, उनके अनुसार, निर्धारणतया या विवशता को बुरी इच्छाओं के सम्बंध में भी मानना होगा। उनके अनुसार दण्ड तभी उचित माना जा सकता है, जबकि वह, जिसे दण्ड दिया जा रहा है, उसके लिए हितकर हो, अथवा वे यह मानते हैं कि शक्ति का वैधानिक उपयोग अराजक बल के नियमन के लिए है।

64. यह ध्यान रखना होगा कि बेंथम का राजनीतिक सिद्धांत ड्यूमांट के फ्रांसीसी-भावानुवाद के द्वारा ही विख्यात हुआ और उसके नागरिक-कानून के सिद्धांत से सम्बंधित भाग अन्य किसी रूप में भी संसार के सम्मुख नहीं आया।

65. कांट के बहुत ही महत्त्वपूर्ण नैतिक ग्रंथ ग्रउण्ड सेगुंग अवर मेटाफिसिके उरसिटेन एण्ड दि क्रिटिक द डर प्रेक्टिसेकेन वर्णुनफे क्रमशः 1785 ई. एवं 1788 ई. में प्रकाशित हुए थे। सन् 1830 ई. में सर जेम्स मेकिन्टोस ने इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में नैतिक दर्शन के विकास पर अपने निबंध में (कांट के नैतिक-सिद्धांत को) प्रकाशित किया। इस निष्णात लेखक ने जिस भाषा में कांट के नैतिक सिद्धांत को प्रस्तुत किया वह यह बताता है कि वह अंग्रेजों की विकसित प्रज्ञा में भी अभी तक अपना मार्ग प्राप्त नहीं कर सकी। सन् 1836 में भी सेम्पल के कांट के प्रमुख नैतिक-रचनाओं के अंग्रेजी भाषांतर से कांट के विचारों को जानने में एक नए युग का सूत्रपात हुआ।

66. अंग्रेज लेखकों में इस प्रश्न पर उपयोगितावादी-विचारक गाडविन के अपने ग्रंथ 'राजनीतिक न्याय' में प्रस्तुत विचार कांट के सर्वाधिक निकट लगते हैं। गाडविन की दृष्टि में सामान्य सुख के प्रेरक कार्यों में बुद्धि ही एक सम्यक् प्रेरक है। बुद्धि ही मुझे यह बताती है कि दूसरे किन्हीं लोगों का सुख मेरे स्वयं के सुख से अधिक मूल्यवान् है और इस सत्य का दर्शन ही मुझे अपने सुख की अपेक्षा दूसरों के सुख के लिए प्रयास करने हेतु प्रेरित करता है। इसके विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि यह प्रेरक वस्तुतः स्वार्थपरक विकल्प में चुनाव से उत्पन्न पीड़ा है। गाडविन उत्तर देता है कि

संकल्प की प्रक्रिया में यह पीड़ा यद्यपि सतत रूप से होती है, लेकिन यह आकस्मिक है। मैं परोपकार के कार्य की अपेक्षा करने पर पीड़ा का अनुभव करता हूं, क्योंकि मैं परोपकार को एक आचरणीय-व्यवहार मानता हूँ।

68. उच्चतम निरपेक्ष शुभ पूर्णतया शुभ या बौद्धिक-संकल्प की ईश्वरीय पूर्ण कृपा से एकता है। वह कृपा, जिससे ईश्वरीय सत्ता युक्त मानी जाती है।

69. कोलरिज के इस दृष्टिकोण को जे.एस. मिल ने उस पर लिखे गए एक निबंध (सन् 1940) में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है। उस निबंध में कोलरिज और जर्मन तथा कोलरिजीय-जर्मनी-सिद्धांत का बार-बार व्यवहार हुआ है।

70. देखें कोलरिज- विबजोग्राफियां लिटरेचरिया वाल्यूम 1 पृष्ठ 145-146

71. इस प्रकार, फ्रेन्ड के प्रथम खण्ड के पृष्ठ 340 (सर्वप्रथम प्रकाशित 1809) में वह कांट के इस मौलिक-सिद्धांत के प्रति पूर्ण श्रद्धा प्रकट करता है कि तुम इस प्रकार कार्य करो कि बिना किसी विरोध के इस बात का संकल्प कर सको कि तुम्हारे आचरण का सिद्धांत सभी बौद्धिक-प्राणियों का नियम बन सके, वह एक सार्वभौमपूर्ण सिद्धांत तथा नैतिकता का मार्गदर्शक हो।

72. मैं मानता हूं कि हेगलीयन-प्रभाव की अभिव्यक्ति श्री जे.एच.स्टलिंग के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हेगेल के प्रकाशन से प्रारम्भ होती है।

73. देखें- पृष्ठ 258

74. यद्यपि शापन हावर से भिन्न हार्टमेन 'अचेतन' को मानता है। उसके अनुसार, अस्तित्व का अंतिम आधार न केवल अचेतन संकल्प ही है, अपितु अचेतन बुद्धि भी है।

अध्याय - 5

आधुनिक युग के नैतिक विचार
(मुख्यतया इंग्लैण्ड के नैतिक विचार)

19 वीं शताब्दी के अंत के 25 वर्ष और 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ के 25 वर्ष, इन पचास वर्षों में आदर्शवादी, प्रकृतिवादी (निसर्गवादी) और उपयोगितावादी नीतिशास्त्र के रूप में प्रचलित थे, लेकिन उसी समय इनके विरोध में एक निश्चित आंदोलन भी था। यह विरोध नीतिशास्त्र को पूर्व-मान्य तात्त्विक-सिद्धांतों पर या गलत रूप से प्रयुक्त विकास के सिद्धांतों पर या मिथ्या मनोवैज्ञानिक-धारणाओं पर आधारित करने के सम्बंध में था। समाजशास्त्रीय-सिद्धांतों के अंतर्गत नीतिशास्त्र की एक पूर्ण व्याख्या को खोजने के प्रयास भी किए जा रहे थे। इसी प्रकार, नीतिशास्त्र की रचनात्मक-प्रवृत्तियों के द्वारा नीति को मूल्यों की एक व्यापक पूर्णता के एक अंग के रूप में समझा जा रहा था, जिसका सामान्य अध्ययन इस युग की दार्शनिक-प्रवृत्तियों का एक विशिष्ट पहलू था।

निरपेक्ष-आदर्शवाद

इस युग के टी.एच. ग्रीन के आदर्शवादी-नीतिशास्त्र का व्यापक प्रभाव था, लेकिन अनेक क्षेत्रों में उसके विरोध में यह कहा जा रहा था कि ग्रीन के तत्त्वमीमांसात्मक तक नैतिक-उद्देश्यों के लिए अनुपयुक्त है। यह बात स्वयं सिजविक ने भी कही थी। अल्फर्ड एडवर्ड रेलर ने अपने ग्रंथ आचरण की समस्या में उसकी आलोचना का मुख्य विषय नैतिक-सिद्धांत को तत्त्वमीमांसात्मक पूर्व-धारणाओं पर आधारित करने की प्रवृत्ति था, जिसका सम्बंध ग्रीक से भी आता है। आदर्शवादी-नीतिशास्त्र का ही एक दूसरा रूप फ्रेंसिस हर्बट बेडले ने अपनी पुस्तक (1876) में प्रस्तुत किया है। ब्रेडले का सिद्धांत आत्म-साक्षात्कार की धारणा के रूप में विकसित हुआ, जो कि तात्त्विक-तात्पर्यों से भिन्न नैतिक निष्कर्षों में ग्रीन के दृष्टिकोण से बहुत ही निकट था।

ब्रेडले (1846-1924)

ब्रेडले लिखता है कि हम जिस आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयास करते हैं, वह हमारे लिए एक पूर्ण है। यह आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं का एक मात्र नहीं

है, यद्यपि पूर्ण आत्मा अपनी इन विभिन्न अवस्थाओं में उपस्थित रहता है और आत्म-साक्षात्कार केवल किसी अवस्था-विशेष या किन्हीं अवस्थाओं की अपने में अनुपस्थिति मात्र नहीं है, इसलिए आत्म-साक्षात्कार सम्बंध ही एक पूर्णता का साक्षात्कार है। नीतिशास्त्र का मूल प्रश्न उस सच्चे पूर्ण को जानता है, जिसकी सिद्धि (उपलब्धि) है, सच्ची आत्मा की उपलब्धि होगी। ज्ञान के स्वरूप पर विचार करते हुए ब्रेडले यह बताने का प्रयत्न करता है कि आत्मा केवल असीम (अपूर्ण) नहीं है। इस प्रकार, उसके लिए आत्म साक्षात्कार का अर्थ एक असीम पूर्ण होना है, मैं अपूर्ण हूं, साथ ही, मैं अपूर्ण और पूर्ण- दोनों भी हूं और इसलिए मेरा नैतिक जीवन एक सतत प्रगति है। मुझे प्रगति करना है, क्योंकि मैं जैसा मुझे होना है, वैसा नहीं हूं, यद्यपि जैसा मुझे होना है, वैसा मैं कभी भी नहीं हो सकता और इसलिए मैं एक आत्म-विरोध की स्थिति में हूं। वैयक्तिक सीमित आत्मा तब तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक कि वह पूर्ण का ही अंग नहीं हो जाता। उसे अपने-आप को एक पूर्ण के सदस्य के रूप में जानना चाहिए और संकल्प करना चाहिए। अंतिम साध्य, जिससे कि नैतिकता का तादात्म्य है या जिसमें नैतिकता निहित है, उसे आत्म-उपलब्धि के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यद्यपि आत्मोपलब्धि, उसका तात्पर्य अपने-आप को एक असीम पूर्ण के आत्म-चेतन असदस्य के रूप में साक्षात्कार करना है, अर्थात् उस पूर्ण का अपने आप में साक्षात्कार करना है।

लेकिन, चाहे ब्रेडले स्पष्ट रूप से इस तथ्य को जानता या न जानता हो, किंतु वह अनंत पूर्ण के प्रत्यय से नैतिकता के मूल तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सका है और जहां तक नीतिशास्त्र का प्रश्न है, उसकी इस प्रकार की तात्त्विक-व्याख्या ग्रीन की अपेक्षा अधिक सफल नहीं हो पाई है। उसे अधिक आनुभविक और अपरोक्ष तथ्यों की ओर मुड़ना पड़ा। इस प्रकार, वह अकस्मात् ही इस विचार पर आ गया कि वह पूर्ण, जिससे व्यक्ति को एक आत्मचेतन सदस्य के रूप में आत्मसाक्षात्कार करना होता है, एक सामाजिक समुदाय अर्थात् समाज ही है। समाज ही यथार्थ नैतिक-प्रत्यय है और मुझे समाज में अपने स्थान और उस स्थान के कर्त्तव्यों को जानकर उनका पालन करते हुए उनमें ही अपना आत्म-साक्षात्कार करना है। एक मनुष्य को क्या करना है? यह इस बात पर निर्भर है कि उसका प्रभाव में स्थान क्या है और उस स्थान के कार्य क्या हैं। यह उसके सभी कर्त्तव्य समाजरूपी शरीर में उसकी स्थिति पर आधारित हैं। मेरा स्थान और उसके कर्त्तव्यों से अधिक अच्छा, अधिक उच्च और

वस्तुतः अधिक सुंदर और कुछ भी नहीं है। क्या यह बात नैतिकता को समझने और उसका विवरण प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त है? किसी भी ऐसे समाज में, जिसमें कि वैयक्तिक आत्मा का अपना स्थान और उसके कर्त्तव्य हो सकते है, वह स्वयं ही नैतिक अनुमोदन और अनुमोदन का विषय हो सकता है। पुनः, क्या व्यक्ति की नैतिक प्रेरणा पूर्णतया समाज में उसके स्थान और उस स्थान के कर्त्तव्य की धारणा में निहित है? ब्रेडले इन कठिनाइयों को स्वीकार करता है, लेकिन इनके निहितार्थ को स्वीकार नहीं करता है। यद्यपि उसने यह स्वीकार किया है कि हम एक व्यक्ति को उसके स्थान और उस स्थान से बांध नहीं सकते हैं। पुनः, उसने यह भी अनुभव किया कि हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि वह उच्च पूर्ण (समाज), जिसमें व्यक्ति के कर्त्तव्य आते हैं और हम यह भी पूछ सकते हैं कि वह समाज क्या एक दृश्य समाज है या हो सकता है। आदेशात्मा का सारतत्त्व किसी समाज के सीमा में नहीं आता है। संक्षेप में, यह आदर्श केवल एक पूर्ण सामाजिक-व्यक्ति का आदर्श नहीं है, फिर भी मेरा स्थान और उसके कर्त्तव्य की धारणा के सम्बंध में अपने अतिउत्साह के कारण ब्रेडले को यह कहना पड़ा कि यह दृष्टिकोण हमें अति मानवीय नैतिकता के विचार से, आदर्श समाज से और सामान्यतया व्यावहारिक-आदर्शों से विमुख कर देता है।

ब्रेडले अपनी विवेचना में नैतिक शब्दावली में साधारणतया प्रचलित दो पदों आत्मलाभ और आत्मत्याग के द्वारा अभिव्यक्त आभासी-विरोध की चर्चा करने से बच नहीं सका। यह जन-साधारण के जीवन की एक सामान्य अवस्था है कि व्यक्ति को अनेक स्थितियों में निम्न तथ्यों के बीच चुनाव करना होता है, एक वह, जो कि अपना स्वयं का आत्मलाभ (स्वहित) प्रतीत होता है और दूसरा वह, जो स्वयं के आत्मत्याग के द्वारा दूसरों के शुभ (परार्थ) के रूप में प्रतीत होता है। ब्रेडले ने इस विरोध को केवल प्रतीती माना। आत्मत्याग स्वयं ही आत्मलाभ है। आत्मलाभ के प्रत्यय से एक अनंत पूर्ण की उपलब्धि के प्रत्यय की ओर बढ़ते हुए अंततोगत्वा ब्रेडले पूर्णता शब्द का उपयोग करता है। उसकी दृष्टि में पूर्णता अनंत पूर्ण के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ऐसा नहीं है, जो कि नैतिक-गुणों के रूप में सामान्यतया स्वीकृत चरित्र की उच्छमताओं के एक पूर्ण अंगी के विशिष्ट निहतार्थ को न्यायसंगत ठहरता हो। अनंत पूर्ण ही एक ऐसी पूर्णता है, किंतु जहां पूर्णता है, वहां नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता, क्योंकि नैतिकता अपूर्णता के विरुद्ध संघर्ष में निहित है, इसलिए ब्रेडले के अनुसार, नैतिकता का विचार केवल इतिहास की प्रक्रिया में ही निहित है

(अर्थात् देश-काल सापेक्ष है)। आत्मा के स्वरूप की चर्चा करते हुए ब्रेडले कहता है कि आत्मा केवल ससीम नहीं है, असीम (पूर्ण) भी है। इस पर से यह निष्कर्ष निकाल लेना संभव है कि सत् के रूप में आत्मा पूर्ण है और नैतिकता एक आभास (भ्रम) है।

टेलर (1896 से)

यद्यपि ए.ई. टेलर के परवर्ती विचार उसके ग्रंथ आचरण की समस्या में वर्णित विचारों से किसी अर्थ में मूलतया भिन्न हैं, फिर भी आचरण की समस्या नामक पुस्तक में उसने अपने शिक्षक ब्रेडले के कुछ विचारों की एक रोचक आलोचना प्रस्तुत की है। टेलर की आलोचना-पद्धति ब्रेडले के समान ही है। वह भी यह बताने का प्रयास करता है कि नैतिकता में एक विरोध निहित है और इस रूप में वह परम सत् का एक अंग (घटक) नहीं हो सकती है, लेकिन जहां ब्रेडले नैतिक-आचरण के लिए अपूर्णता की आवश्यकता पर बल देते हैं, वहां टेलर ने उस असंगति पर मुख्य रूप से बल दिया, जिसे देख पाने में ब्रेडले असफल रहा था। जहां ब्रेडले के लिए आत्मलाभ और आत्मसात् होना वैयक्तिक-सुख और सामाजिक-सुख आखिरकार एक ही हैं, वहां टेलर के लिए वे अंतिम रूप में परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। निःसंदेह, नैतिकता में दोनों का ही स्थान है और इस प्रकार नैतिकता आत्मविरोधी है। टेलर ने इस बात पर भी बल दिया है कि पसंदगी और नापसंदगी के प्राथमिक नैतिक-स्थायीभाव अपने सरलतम रूप में न तो स्वहित हैं और न लोकहित हैं। अनुमोदन का सम्पूर्ण क्षेत्र एक ओर व्यक्ति और उसकी संस्कृति के सम्बंधों से विकसित हुआ है तथा दूसरी ओर, व्यक्ति और समाज के कल्याण के पारस्परिक संबंधों से विकसित हुआ है। तथ्यों के बिना विकृत किए आत्महितवाद और लोकहितवाद में से किसी को भी नैतिकता का संपूर्ण आधार नहीं बनाया जा सकता है। इतना होते हुए भी यह कहना कि आत्महित और लोकहित सहगामी हैं, प्रमाणों की दृष्टि से विरोधी ही प्रतीत होता है। कुल मिलाकर, अपने खुद की भलाई करने में हमें अपनी शक्ति पर समाज के सुख के लिए योगदान करना चाहिए, लेकिन सहमति आखिरकार पूर्णता के विचार से दूर है और किसी भी समय किसी भी एक पक्ष की आदेश के पालन की असाधारण कठोर मांग के कारण समाप्त हो सकती है। मानव-जाति ने आचरण के इन दोनों ही आदर्शों को स्वीकार किया है, लेकिन उनमें कभी भी समन्वय नहीं किया गया है। मेरा स्थान और उसके कर्त्तव्य का सिद्धांत अंतिम रूप से संतोषजनक नहीं कहा जा

सकता है। वस्तुतः, ऐसा कोई भी आत्मसंगत उच्चतम वर्ग नहीं है, जिसके अधीन नैतिक-जीवन के विभिन्न तथ्यों को संतोषप्रद रूप से वर्गीकृत किया जा सके।

व्यक्तिगत-नैतिकता के केंद्रीय-प्रत्यय के रूप में

आत्म-साक्षात्कार और व्यक्तित्व की धारणाएं जिन दोषों से ग्रस्त है, उनकी परवाह न करते हुए व्यक्तित्व की धारणा नैतिकता का केंद्रीय-तत्त्व रही है और बहुत-से विचारकों की दृष्टि में आज भी है। उदाहरणार्थ, सीमन ल्योरी के ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय स्वतंत्रता के द्वारा बौद्धिक-आत्मा की आत्मोपलब्धि है। जेम्स सेंथ के ग्रंथ (1894) का मुख्य विषय स्वतंत्र रचनात्मक व्यक्तित्व की आत्मोपलब्धि है। थियोडोर लिप्स कांटीय-दृष्टिकोण से लिए गए अपने ग्रंथ (1899) में यह मानते हैं कि नैतिक-व्यक्तित्व ही परम शुभ और निरपेक्ष मूल्य है। यहां तक कि प्रत्येक सुख का मूल्य व्यक्तिगत सुख के मूल्य के द्वारा प्रतिबंधित है। आदर्शों के रूप नैतिक-मांग उस व्यक्तित्व की नैतिक-चेतना की अभिव्यक्तियां हैं और मनुष्य की सारभूत प्रकृति है। हरमन ने भी अपने ग्रंथ (1896) एवं (1900) में तथा दूसरे कुछ ग्रंथों में मानवीय-स्वतंत्रता के आधारों पर एक ऐसा ही दृष्टिकोण विकसित किया है। मेक्स वेन्टस्चर ने अपने ग्रंथ (1902-1905) में पूर्ण स्वतंत्रता के तात्त्विक-प्रत्यय के आधार पर बताने का प्रयास किया है कि व्यक्तित्व ही परम मूल्य है। ये लिखते हैं कि अपनी वास्तविक सत्ता की उच्चतम अभिव्यक्ति के लिए और अपनी पूर्ण स्वतंत्र इच्छा के निश्चित मौलिक नियमों के लिए प्रयत्न करो। अपनी स्वयं की सत्ता की इस स्वतंत्र क्रियाशीलता का सर्वाधिक सशक्त एवं व्यापक उपयोग करो। फ्रांस मूलर लेयर ने भी पूर्ण राज्य और पूर्ण व्यक्तित्व की धारणाओं के सहयोग से प्रत्यक्षवादी दर्शन को क्रियाशील नैतिक मोड़ दिया।

यद्यपि विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि व्यक्तित्व का प्रत्यय इतना जटिल और अनिश्चित है कि उसे इतनी सरलता के साथ प्रमुख नैतिक प्रत्यय के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यक्तित्व एक तात्त्विक परम साध्य है, इस सुझाव का विरोध किया जा चुका है और व्यक्तित्व की तात्त्विक-अवधारणा से नैतिक-प्रत्ययों के निगमन की संभावना से भी इंकार किया जा चुका है। सामान्यतया, नैतिक-निर्णयों में ऐसे कथन निहित हैं कि जिन्हें आकारिक-रूप में निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है, जैसे- यह व्यक्तित्व अच्छा है, वह व्यक्तित्व बुरा है आदि केवल तात्त्विक-व्यक्तित्व के स्वत्व को नैतिक मूल्यों के सार के रूप में मान्य नहीं

किया जा सकता है। वे व्यक्ति, जिनकी नैतिक-दृष्टि से प्रशंसा की जाती है और वे व्यक्ति, जिनकी नैतिक-दृष्टि से निंदा की जाती है, अपने निहितार्थ में तात्त्विक-व्यक्तित्व की दृष्टि से समान हैं। एक पूर्ण व्यक्तित्व पर दिए गए निर्णय उन विशेष निर्णयों से, जो कि व्यक्ति के कार्यों और स्वभावों पर दिए जाते हैं, भिन्न हैं और उनसे अधिक व्यापक हो सकते हैं, फिर भी सामान्यतया व्यक्तित्व पर दिए गए नैतिक-निर्णय बहुत कुछ रूप में ऐसे विशेष निर्णयों पर निर्भर होते हैं। एक व्यक्ति को तब भला व्यक्ति माना जाता है, जब कि उसके गुणों को शुभ और उसके कार्यों को उचित कहा जा सके या कम-से-कम उसमें बुरे गुण की अपेक्षा अच्छे गुण ज्यादा हों, या उसके कार्य अनुचित की अपेक्षा उचित अधिक हों। पुनश्च, व्यक्ति का अस्तित्व वैयक्तिक-अनुभूतियों की धारा के रूप में जीवन-प्रक्रिया है और मूल्यात्मक-निर्णय मुख्यतः उनसे या किन्हीं प्रसंगों से इनके विषय में दिए जाते है। अतः, यह कहा जा सकता है कि हमारा सम्बंध नैतिक-व्यक्तित्व के साथ इतना नहीं है, जितना कि नैतिक-जीवन और नैतिक-मूल्य के साथ है।

विकासवादी-नीतिशास्त्र

प्राकृतिक-विज्ञानों की द्रुत प्रगति के साथ-साथ तात्त्विक-आदर्शवाद के प्रति असंतोष भी बढ़ता गया। अपने-अपने क्षेत्रों में प्राप्त सफलताओं से प्रेरणा पाकर बहुत से विचारकों ने नैतिक-दर्शन की उस व्याख्या को जारी रखा, जिसे सिजविक ने विकासवादी-नीतिशास्त्र कहा है। आधुनिक सभी नीतिशास्त्र के लेखक नैतिकता और नैतिक-सिद्धांतों में विकास को स्वीकार करते हैं। आधुनिक युग के सभी नीतिशास्त्र किसी अर्थ में विकासवादी हैं, लेकिन जिसे विकास का नीतिशास्त्र या विकासवादी-नीतिशास्त्र कहा जा सकता है, उसे यह सिद्ध करना होता है कि जैविक-विकास की प्रक्रिया न केवल नैतिक-प्रगति का इतिहास है, अपितु अपने घटकों और प्रवृत्तियों के नैतिक-गुणों की कसौटी या प्रभावक भी है। यद्यपि डार्विनवाद के अनेक प्रारम्भिक व्याख्याताओं ने इसे स्वीकार किया है, लेकिन इसके कुछ महत्त्वपूर्ण अपवाद भी रहे हैं। थामस हेनरी हक्सले ने विकास और नीतिशास्त्र पर अपने रोमनेस-व्याख्यानों (1893) में प्रकृति की विधियों का विरोध किया है। मानवीय-नैतिकता के लक्ष्यों और विधियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि नैतिकता प्रकृति की विधियों के अनुसरण की अपेक्षा उनके विरोध में ही निहित है, यद्यपि इसमें उसने नैतिकता के प्रचलित दृष्टिकोणों की मौलिक-प्रवृत्ति को स्वीकार किया है।

नीत्शे (1844 से 1900)

एक दूसरा विकल्प इन दृष्टिकोणों को गलत मानकर इन्हें अस्वीकार करने के लिए बचा हुआ था। यह विकल्प नीत्शे ने ग्रहण किया। उसके अनुसार, नैतिकता के प्रचलित दृष्टिकोणों को निरस्त किया जाना चाहिए, क्योंकि उनके विरोध में बहुत कुछ था। विकास का सिद्धांत सभी मूल्यों के मूल्य के अतिक्रमण की आवश्यकता को प्रतिपादित करता है। नैतिक-साध्य को जिस रूप में हम जानते हैं, वह मानव की स्थिति से परे एवं अति मानवीय है और उसकी पद्धति निर्बल के विनाश के द्वारा सबल की उत्तरजीवितता अर्थात् संघर्ष की है, जबकि प्रचलित नैतिकता में प्रत्येक वस्तु सबल के स्थान पर निर्बल की उत्तरजीवितता को प्रोत्साहित करती है और वंशापकारक होने के कारण इसका परित्याग कर देना चाहिए। प्रचलित परम्परागत नैतिकता को नीत्शे ने ईसाई-नैतिकता के रूप में लिया है। यह नैतिकता निर्बल करने वाले सहानुभूति, विनम्रता, आत्मसमर्पण आदि गुणों पर आधारित और उन लोगों के लिए, जो कि उस बलिदान के योग्य भी नहीं है, सबल के बलिदान की समर्थक हैं। यह नैतिकता गुलामों की नैतिकता है और स्वामीत्व की उस नैतिकता की विरोधी है, जिसकी शिक्षा नीत्शे ने दी है। तार्किक-संकल्प सत्य का संकल्प है। यहां यह पूछना प्रासंगिक है कि किस साध्य अथवा किस प्रकार के मूल्य की उपलब्धि के लिए इस शक्ति का उपयोग किया जाए? नीत्शे के ग्रंथों में इन प्रश्नों के उत्तर बहुत ही अधिक अनिश्चित और अस्पष्ट हैं। यद्यपि उसकी सामान्य रुचि से असंगत होते हुए भी उसके ग्रंथों में कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनके अनुसार इस शक्ति का उपयोग सामाजिक-साध्यों के लिए किया जाए, लेकिन उसकी व्याख्या में मुख्य रूप से सुखवादी-लक्षण मिलते हैं। उसके अनुसार, शक्ति सबल व्यक्ति के सुखों की अभिवृद्धि के लिए है।

मनुष्य के नैतिक साध्य की इस धारणा के अतिरिक्त भी नीत्शे की अति मानव के विकास की धारणा भी शक्ति के संकल्प के समान ही मनुष्य के लिए शुभ के लक्षण की कोई सुस्पष्ट व्याख्या देने में असमर्थ है। उसका शक्ति का प्रत्यय मुख्यतया शारीरिक शक्ति का प्रत्यय है। यद्यपि इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि अक्सर विकास की प्रक्रिया बौद्धिक-श्रेष्ठता और सामाजिक-सहयोग के द्वारा शारीरिक-दृष्टि से सबल व्यक्ति पर निर्बल व्यक्ति की विषय पर आधारित है, तथापि नीत्शे ने विकास की प्रक्रिया में व्यक्तियों के सामाजिक सहकार और सामाजिक-समन्वय के उस महत्त्वपूर्ण

योगदान पर बहुत ही कम विचार किया है, जो कि सामाजिक नैतिकता की उस वैधता पर निर्भर है, जिसकी जड़ खोदने में उसका सिद्धांत सदैव ही लगा रहा है। इस सहयोग (संस्कार) के महत्त्व का और इसकी व्यापकता का पीटर ऐलेक्सीविच ने विस्तार से विवेचन किया है। प्रिंस कोप्टोकिन[1] ने अपने ग्रंथ पारस्परिक सहयोग : विकास का आधार (1902) में तथ्यों के सर्वेक्षण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि पारस्परिक-सहयोग के सिद्धांत का प्रमुख महत्त्व विशेष रूप से नीतिशास्त्र के क्षेत्र में ही पूरी तरह दिखाई देता है। यह बात कि पारस्परिक-सहयोग ही हमारी नैतिक-धारणाओं की वास्तविक आधार-भूमि है, बहुत ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होती है।

सार्ले (1855) एवं शर्मन (1854)

विकासवाद के नीतिशास्त्र की समीक्षा विलियस रिची सार्ले के ग्रंथ प्रकृतिवादी-नीतिशास्त्र (1855) और नीतिशास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियां (1904) में तथा जेकव गोल्ड शर्मन के ग्रंथ डार्विनवाद का नैतिक-अर्थ (1886) में की गई है। नैतिकता के क्षेत्र में विकासवाद के सिद्धांत का उपयोग उस साध्य के स्वरूप का प्रश्न उठाता है, जिसकी ओर विकास की यह प्रक्रिया बढ़ रही है। समस्या यह है कि विकास की प्रक्रिया, चाहे वह भूतकाल में हो अथवा चाहे वर्त्तमान काल में हो, क्या हमें साध्य के स्वरूप के बारे में स्वतः आश्वस्त कर सकती है? बहुत से विकासवादी नीतिशास्त्र के समर्थकों ने मानवीय-आचरण का साध्य सुख के रूप में स्वीकार किया है, किंतु क्या सुख के साध्य का यह दृष्टिकोण नैतिक-आचरण के आदर्श के रूप में मानवीय-नैतिक-चेतना और बुद्धि के समक्ष अपने-आप को न्यायसंगत ठहरा पाता है? क्या विकास की प्रक्रिया इस साध्य की ओर बढ़ रही है? क्या सुख के लक्ष्य से युक्त आचरण सदैव ही विकास में सहायक होता है। सार्ले तब ही कहता है कि प्राकृतिक-वरण का प्रभाव उन कार्यों में रोक नहीं पाया है, जो सुखद संवेदनाओं से युक्त होने के कारण जीवन के लिए हानिकारक हैं। जीवन के विकास का मुख्य अर्थ सदैव ही सुख की वृद्धि नहीं हो सकता है। जैसा कि शर्मन का कथन है कि डार्विन का जीव-विज्ञान यह बताने के लिए कोई तथ्य प्रस्तुत नहीं कर पाता है कि सुखद का तादात्म्य उससे है, जो कि उत्तरजीविता की शक्ति देता है, अथवा जो जीवन-संघर्ष में सहायक है। जीव-विज्ञान से सम्बंधित धारणा का एक रूप यह है कि सामाजिक-संतुलन[2] आचरण का साध्य है, अथवा उसे आचरण का साध्य होना चाहिए, किंतु यह धारणा भी हमें

नीतिशास्त्र की समस्या के समाधान की दिशा में आगे नहीं ले जाती है, क्योंकि हमें यह कहने के पूर्व कि आचरण की शुभता सामाजिक-व्यवस्था स्वीकार करने में या उसके साथ संतुलन बनाए रखने में निहित है, हमें उस व्यवस्था को शुभ मान ही लेना होगा, जो कि विकास की धारणा से जो अपेक्षा की जाती है, उतनी वह उसे पूरा न कर पाती है, या वह अपेक्षित व्याख्या नहीं कर पाती है। असहयोगी परिवृत्यों के निराकरण की प्रक्रिया के रूप में प्राकृतिक-वरण (चयन) बौद्धिक-वरण (चयन) नहीं है, लेकिन व्यक्ति चेतना रूप से कार्य करता है और इसलिए उसका चयन आंतरिक-प्रेरणाओं के कारण आत्मनिष्ठ होता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य के कार्य बहुत कुछ रूप से उद्देश्यात्मक हैं, उनका कोई लक्ष्य होता है। वे केवल आत्मरक्षण नहीं हैं, लेकिन उन्हें आत्मविकास कहा जा सकता है। जहां आत्मरक्षण में परिवेश (वातावरण) के साथ समायोजन निहित हो सकता है, वहां आत्मविकास परिवेश के ही समायोजन में निहित है, किंतु प्रश्न यह है कि हम किस प्रभावक के आधार पर इस विकास को पाएंगे?

स्पेन्सर (1820-1903)

हर्बट स्पेन्सर की मान्यता है कि जीवन की मात्रा अपनी लम्बाई और चौड़ाई के रूप में सार्वलौकिक-आचरण का परम लक्ष्य है। यद्यपि वह यह स्वीकार करता है कि इस प्रसंग में हमें जीवन के गुणों पर भी विचार करना चाहिए, फिर भी वह बिना किसी न्यायिक संगति के जीवन की मात्रा से सुख की मात्रा पर चला जाता है, जबकि अपने सिद्धांत के लिए उसे जीवन की मात्रा और सुख की मात्रा की सहगामिता को बताना चाहिए था।

जीव-विज्ञान के क्षेत्र में पहले अस्तित्त्व के लिए संघर्ष और प्राकृतिक वरण के प्रत्यय वैयक्तिक संघर्ष के संदर्भ में अधिक प्रचलित रहे, किंतु बाद में समूह की सुसम्बद्धता को अधिक महत्त्व दिया गया। समूह की एकता का तथ्य विकासवादी नीतिशास्त्र में बहुत ही महत्त्व रखता है। जैसा कि सार्ले का कथन है, यदि संघर्ष व्यक्तियों के बीच है, तो जो बचता है, वह अपने बने रहने के सुख का अनुभव करने वाला माना जा सकता है, लेकिन समूहों के बीच भी संघर्ष और अन्य बातों के समान रहने पर अधिक संगठित समूह के द्वारा कम संगठित समूह के ऊपर विजय प्राप्त करने की बहुत अधिक संभावना होती है, अतः समूह संगठित हो, इसलिए व्यक्ति को अपनी इच्छाओं एवं सुखों का अक्सर नियमन या नियंत्रण करना पड़ता है। इसलिए

इस बात का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि समूह की उत्तरजीवितता व्यक्तिगत सुख अथवा अधिकतम व्यक्तिगत सुख की सहगामी है। इस प्रकार विकासवादी नीतिशास्त्र को इस संपातिता के प्रश्न का अथवा दूसरे शब्दों में वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण के प्रश्न का सामना करना पड़ा और अधिक से अधिक ध्यान सामाजिक कल्याण की दिशा में दिया गया, साथ ही सद्गुण के औचित्य को सामाजिक उपयोगिता के रूप में बताया गया। शर्मन का कहना है कि विकासवादियों के अनुसार क्योंकि सद्गुण सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद है, इसलिए वह सामाजिक उपयोगिता से अधिक कुछ नहीं है। इस दृष्टिकोण के अनुसार नैतिक नियम उस सामाजिक समायोजन की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किए गए हैं, जो कि आखिरकार अथक खोज के पश्चात् अस्तित्व के संघर्ष में मानव के समुदायों की रक्षा में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। स्पेन्सर मानता है कि विकास के मार्ग में स्वार्थवाद और परार्थवाद के दावों के बीच तालमेल करना होगा। वह उनकी पूर्ण सहगामिता को स्वीकार करता है, यद्यपि उसने उनके बीच किस आधार पर तालमेल किया, इस सम्बंध में कोई भी सिद्धांत प्रस्तुत नहीं किए हैं। अपने प्रमुख समर्थकों के द्वारा प्रतिपादित यह विकासवादी नीतिशास्त्र उपयोगितावाद के किसी रूप के साथ उस विमर्शात्मक तत्त्वमीमांसा के मनमाने संयोग के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दे सका, जो कि भौतिक यांत्रिकता में अंतर आत्मा और मन के आधार की खोज करती है।

नैतिकता का फ्रांसीसी समाजशास्त्रीय सिद्धांत

स्वतंत्र विचारों के उदय के कारण फ्रांस में कैथोलिक चर्च का प्रभुतत्व समाप्त हो गया और राज्य की परम्परागत सत्ता कमजोर हो गई, इसके फ लस्वरूप नैतिकता के दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अंकुशों की फ्रांस के नीतिशास्त्र के लेखकों को नैतिक विवेचना का एक ऐसा ढंग और नैतिकता की रक्षा का एक ऐसा आधार खोजना पड़ा, जो धार्मिक और राजनीतिक सिद्धांतों पर निर्भर न हो। अपने प्रारम्भिक वर्षों में ल्युसिन लेवीकुल ने अपने 1884 में लिखित ग्रंथ में और फ्रेट्रिक रीड ने अपने 1891 में लिखित ग्रंथ पारम्परिक तात्त्विक बुद्धिपरतावाद में नैतिकता का आधार खोजने के प्रयास किए हैं, किंतु बाद में इन दोनों ने तात्त्विक-दृष्टिकोण का परित्याग कर दिया, फलस्वरूप इस सम्पूर्ण युग में सामान्यतया नैतिकता के लिए निर्विवाद तात्त्विक आधार की खोज की आशा फ्रांस में क्रमशः विलुप्त हो गई, जैसा कि अब माना जाता है। नीतिशास्त्र की समस्याएं बाद की पीढ़ियों के किए गए प्रयास

के द्वारा मनुष्य या प्रकृति के बारे में विज्ञान जो बताता है, उससे निष्कर्ष निकालकर चाहे एक वैज्ञानिक नीतिशास्त्र का निर्माण नहीं कर नैतिकता के एक विज्ञान का निर्माण करने हेतु एक ऐसा विशिष्ट अध्ययन अपेक्षित है, जो कि नैतिकता के तथ्यों को अपनी विषय-सामग्री के रूप में ग्रहण करता है। इस दिशा में सर्वाधिक व्यापक एवं कारगर प्रयास आगस्ट कोम्टे का था। अंत में जिस पद्धति का सहारा लिया गया, वह मुख्य रूप से समाजशास्त्रीय थी, जिसका प्रारम्भ कोम्टे ने किया था।

लेवीबुल

इस समाजशास्त्रीय-पद्धति का उपयोग करने वाला प्रमुख विचारक लेवीबुल था। वह अपने ग्रंथ (1903) में समाजशास्त्र के सामान्य दृष्टिकोण के आधार पर नैतिक-तथ्यों की खोज करता है और अपने निष्कर्षों को समाजशास्त्रीय-ढंग से प्रस्तुत करता है। नीति-विज्ञान को नैतिक आदर्शों के चिंतन से अलग नहीं किया जा सकता है, अपितु उसे ऐसे चिंतन का प्रारम्भिक-बिंदु तथा आधार होना चाहिए, फिर भी लेवीबुल न तो ऐसे किसी चिंतन की समुचित दिशा प्रस्तुत करता है और न उसकी आवश्यकता को प्रतिपादित करता है, इसीलिए वह नीतिशास्त्र की मौलिक समस्याएं वस्तुतः क्या हैं, इस पर विचार करने में असफल रहता है। वह पूछता है कि नीतिशास्त्र के विभिन्न सिद्धांतों के होते हुए भी स्वयं पर और दूसरे लोगों पर दिए गए नैतिक-निर्णयों के सम्बंध में विचारक सदैव ही सहमत क्यों हो जाते हैं? उसका उत्तर है कि प्रबल सामूहिक-विचार समाज के कार्य करने के ढंग पर प्रभाव डालते हैं और समाज के लोगों के निर्णयों को प्रभावित करते हैं। वह इस सम्बंध में इमिल दुर्खिय के इस दृष्टिकोण का अनुसरण करता है कि कर्त्तव्य की उस आदेशात्मकता की व्याख्या सामान्य रूप से समाज के स्वीकृत विचारों या मतों की शक्ति के द्वारा हो सकती है, जिस पर कांट ने बल दिया था। किसी युग का नीतिशास्त्र अन्य किसी बात से नहीं, अपितु उस युग के सामाजिक-संगठन के द्वारा विकसित नैतिक-प्रत्ययों और नियमों से प्रभावित होता है। ये नियम और प्रत्यय समाज-सापेक्ष होते हैं और उसी समाज के संदर्भ में अपनी प्रामाणिकता और मूल्य रखते हैं। हम एक कार्य का आबंध (दायित्व) के रूप में और दूसरे का अपराध के रूप में विचार अक्सर उन विश्वासों के आधार पर करते हैं, जिनकी स्मृति हमें नहीं रही है और जो कि एक आवश्यक परम्परा के रूप में और सबल सामूहिक स्थाईभावों के रूप में प्रचलित हैं। एक जीवित समाज समाज-

निरपेक्ष नीतिशास्त्र से समझौता नहीं करता है। कोई भी व्यक्ति उससे उसी नीति को मान्य करवा सकता है, जो कि उसमें प्रचलित हो, यदि कोई व्यक्ति उससे विरोधी नीति प्रस्तुत करने का साहस करेगा, तो वह उसे स्वीकार नहीं करेगा।

प्राचीन विचारकों की यह कल्पना गलत थी कि नीति का निर्माण होता है। उनका काम तो उस नीति के लिए एक आधार खोजना था, इसलिए समाजशास्त्रीय-दृष्टिकोण में नैतिक-नियमों को स्वनिर्मित तथ्य मानने के अतिरिक्त कोई प्रभावशाली सिद्धांत नहीं है, क्योंकि उनका विश्लेषण और उनकी व्याख्या उन ऐतिहासिक-परिस्थितियों और सामाजिक अवस्थाओं पर होगी, जिन्होंने इन्हें उत्पन्न किया है। उनसे कुछ भी निरपेक्ष या अनिवार्य नहीं है। वे तो बहुत ही अधिक परिवर्तनशील परिस्थितियों के उत्पन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न होते हैं, कभी-कभी एक दूसरे के विरोधी भी। (यही कारण है कि) सामाजिक-सिद्धांत नीतिशास्त्र की मूलभूत समस्या को सुलझाने में असफल हो जाते हैं। एक ओर यह कि हमारे नैतिक-निर्णयों और व्यावहारिक-नैतिक-नियमों के विशिष्ट रूप उस युग के मानव-समाज के स्वरूप पर और उन परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं, जिन्होंने उन्हें प्रामाणिक बनाया है, दूसरी ओर, यह भी इतना स्पष्ट है कि मानव-समाज की संरचना स्वयं भी नैतिक-प्रत्ययों से बहुत कुछ प्रभावित होती है और ये नैतिक-प्रत्यय अक्सर सामाजिक-रीतिरिवाजों के विरोध में उत्पन्न होते हैं और समाज के नव-निर्माण में निर्देशक होते हैं। सभी नैतिक-प्रत्ययों को वर्त्तमान समाज और उसकी उपज के रूप से पूरी तरह मान्य नहीं किया जा सकता। पुनः, सामान्यतया समाजशास्त्री नीतिशास्त्र को नियमों के एक प्रारम्भिक-विधान के रूप में मान्य करते हैं, किंतु नीतिशास्त्र न तो ऐसा माना गया था और न माना गया है, उसके लिए नियम गौण है। यह सत्य है कि गौण होने के कारण वे परिवर्तनशील हैं तथा देश और काल की भिन्नता के कारण कभी-कभी वे परस्पर व्याघातक भी प्रतीत होते हैं। यद्यपि इस तथ्य के आधार पर माना जा सकता है कि वे नैतिक-नियम जिन मौलिक-मूल्यों से सम्बंधित हैं, वे यह बताते हैं कि अच्छाइयों को प्राप्त किया जाना चाहिए और बुराइयों को समाप्त किया जाना चाहिए। एक ही समाज या परस्पर संगतिपूर्ण साध्यों की उपलब्धि के लिए नियमों का स्वरूप, जिस परिस्थिति में साध्य की सिद्धि हो सकती है, उसके अनुसार अवश्य ही बदलेगा। नीतिशास्त्र की केंद्रीय-समस्या यह खोज करना है कि मूलभूत नैतिक मूल्य क्या हैं? व्यक्ति और समाज के वे साध्य कौनसे हैं, जो उनके लिए अधिकतम लाभकारक और

अधिक बुद्धिसंगत हैं और जिनके लिए उन्हें प्रयास करना चाहिए। इस समस्या पर विचार कर पाने में असफल होने के कारण यह कहा जा सकता है कि फ्रांसीसी-समाजशास्त्री इस सम्बंध में कोई कारण नहीं बता पाए कि क्यों मनुष्यों को वैयक्तिक-रूप से या सामाजिक-रूप से कर्त्तव्य करना चाहिए। ये विचारक उन मूल्यों को महत्त्व नहीं दे पाते हैं, जो कि वैयक्तिक और सामाजिक-आचरण के लक्ष्य हैं और जिनकी उपलब्धि से ही नियमों की सार्थकता रही हुई है।

उपयोगितावाद

पूर्व अवधारित तत्त्वमीमांसा, विकास के जैविक-सिद्धांत और समाजशास्त्र आदि सभी धारणाएं नीतिशास्त्र की आधार-भूमि के लिए समुचित प्रत्ययों को देने में असफल रहे, इसलिए पुनः उन सिद्धांतों और पद्धतियों की ओर जाना आवश्यक हुआ, जिनके विचारकों ने अपने आप को नैतिक-समस्या के विधिवत अध्ययन से संलग्न कर रखा था।

सिजविक (1838-1900)

ब्रिटेन में ऐसे सभी विचारकों में अंग्रेज हेनरी सिजविक अपने युग का प्रतिनिधि था। बहुत कुछ रूप में उसके ग्रंथ संधिकालीन थे। जिन समस्याओं से उसने अपने को संलग्न कर रखा था और जिन पद्धतियों का उसने उपयोग किया था और जो निष्कर्ष उसने प्राप्त किए थे, उनके सम्बंध में वह भूतकाल के प्रबल प्रभावों से प्रभावित था। उसने स्वयं ने नीतिशास्त्र के विभिन्न युगों की प्रगति का ऐतिहासिक-विवरण प्रस्तुत किया है। इसी ऐतिहासिक-अध्ययन के आधार पर उसने अपने सिद्धांत की मुख्य विशेषताओं का निर्माण किया था, जिनकी विस्तृत व्याख्या उसने अपने ग्रंथ नीतिशास्त्र की पद्धति (1874) में की है। जिन नैतिक-नियमों का पालन करने की शिक्षा सिजविक द्वारा दी गई थी, वे नियम उसे अस्पष्ट और किस सीमा तक संदेहात्मक, रूढ़िग्रस्त, अतार्किक और असंगत प्रतीत हुए थे, इन नियमों के निरंकुश और बाह्य-आभासी दबाव का विरोधी और सहजज्ञानवादी-नीतिवेत्ताओं की निर्बलता के कारण उनसे विमुख होकर वह मिल के उपयोगितावाद की ओर आकृष्ट हुआ। पहले उसने कर्म के प्राकृतिक-साध्य एवं वैयक्तिक-सुख और कर्त्तव्य के साध्य एवं सामान्य सुख के बीच के मूलभूत गंभीर अंतर को देखे बिना ही मिल के मनोवैज्ञानिक और नैतिक-सुखवाद- दोनों को स्वीकार कर लिया और उनकी असंगतियों पर विचार नहीं किया, लेकिन बाद में उसने यह

मान लिया कि चाहे एक अदार्शनिक-व्यावहारिक-आदमी के हितों और कर्त्तव्यों की सम्पातीता-सम्बंधी संदेहों को परोपकारी-आवेगों और स्थायीभावों के संदर्भ में उदार विचारों के द्वारा संतुष्ट किया जा सकता है, तो भी नैतिक-दर्शन का कार्य यह है कि वह ऐसे कार्यों के लिए बौद्धिक-आधार की खोज करे और उस आधार को स्पष्ट करे। मेरें वास्तविक हित क्या हैं और कहां तक उसमें हित के साधक कार्यों को जाना जा सकता है? कहां तक उन कार्यों के परिणाम कर्त्तव्यों (मानव-जाति के कल्याण) के समरूप होंगे? इस खोज के परिणामस्वरूप उसने इस विरोध को विरोध करने की अपेक्षा अधिक स्पष्टता के साथ अनुभव किया। ऐसा ही विरोध मिल और उसके पहले वाले उपयोगितावादियों ने सुखवाद एवं तथाकथित सहजज्ञानवाद (अंतर्विवेक) या नैतिक-इंद्रियबोध के सिद्धांत के बीच अनुभव किया था। धीरे-धीरे अनिच्छापूर्वक सिजविक ने यह निष्कर्ष स्वीकार कर लिया कि मेरे सुख और सामान्य सुख के बीच के संघर्ष का पूर्ण समाधान इस सांसारिक-अस्तित्व के आधार पर सम्भव नहीं है, क्योंकि एक व्यक्ति को उस पूर्ण (समाज) के लिए, जिसका वह अंग (अंश) है, अपने सुखों का त्याग करना चाहिए। उसने इसके लिए किसी बौद्धिक-आधार की आवश्यकता अनुभव की। वह उपयोगितावादी-पद्धति, जिसे उसने मिल से सीखा था, बिना मूलभूत नैतिक-अंतर्विवेक के संगतिपूर्ण नहीं बनाई जा सकती थी, अतः कांट की ओर लौटते हुए सिजविक के इस मूलभूत सिद्धांत; अर्थात् सदैव उस सिद्धांत के अनुसार कार्य करो, जिसे हम सामान्य नियम बन जाने की इच्छा कर सकें, के महत्त्व और सच्चाई से प्रभावित हुआ। यद्यपि उसने कांट की तत्त्व-मीमांसा के इस सिद्धांत को इस रूप में स्वीकार कर लिया कि जो मेरे लिए उचित है, वह वैसी ही परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों के लिए भी उचित होगा। यद्यपि यह धारणा सिद्धांततः निश्चित ही सत्य है, तथापि इसमें व्यावहारिक-दृष्टि का अभाव है। उसने यह अनुभव किया कि यह धारणा कर्त्तव्यों के एक सिद्धांत के निर्माण के लिए अक्षम थी और स्वहितों को कर्त्तव्यों के अधीन होने के प्रश्न का हल नहीं कर सकती थी, जिससे एक बौद्धिक-स्वहितवादी इस सिद्धांत को स्वीकार भी कर सके और एक स्वहितवादी भी रह सके। आत्महित की बौद्धिकता उसे परोपकार की बौद्धिकता के समान ही अकाट्य प्रतीत हुई। उसने पाया कि बटलर ने निश्चित ही यह माना था कि हित अर्थात् मेरा स्वयं का सुख एक अभिव्यक्त आबंध है और बौद्धिक-आत्म-प्रेम मानव-प्रकृति निहित दो प्रमुख सिद्धांतों में से एक है। बटलर ने नियामक-शक्ति के द्वैत को स्वीकार

किया था। सिजविक ने इसे व्यावहारिक-बुद्धि का द्वैत कहना उचित समझा था। यह प्रमाण, जिस पर बटलर ने बल दिया था सिजविक के पूर्व ही बुद्धि के प्रमाण के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। बटलर के प्रभाव के अधीन उसने असत्य मनोवैज्ञानिक सुखदवा के सिद्धांत का परित्याग कर दिया और कर्म की निष्कामता या अतिसजगता के आवेग के अस्तित्व को स्वीकार करने के हेतु बाध्य हुआ, अर्थात् यह माना कि कर्म के प्रेरक कर्त्ता के सुख से ही निर्देशित नहीं होते हैं।

सहजज्ञानवादी-नीतिशास्त्र से अपने सिद्धांत के सम्बंध पर पुनर्विचार करते हुए सिजविक ने यह स्वीकार किया है कि वह उस सीमा तक सहजज्ञानवादी है, जहां तक कि वह यह मानता है कि सामान्य सुख के साध्य के लिए एक सर्वोच्च नियम मौलिक नैतिक सहजज्ञान पर आधारित होना चाहिए और उस सहजज्ञान को बंधनकारक स्वीकार किया जाना चाहिए। उसे अपने सिद्धांत उपयोगितावाद के लिए जिस सिद्धांत की अपेक्षा थी, वह यह कि एक बौद्धिक-कर्त्ता सामान्य सुख को साध्य बनाने हेतु बाध्य है। इस सिद्धांत को उसने मूर, क्लार्क और दूसरे प्रारम्भिक-आंग्ल-सहजज्ञान्वादियों की रचनाओं में पाया। सिद्धांत और व्यवहार के लिए मूलभूत नैतिक-सहजज्ञान-पूर्ति, कांट के सिद्धांतों से हुई परम्परावादी-सहजज्ञानवादियों का यह दृष्टिकोण कि सहजज्ञानों की एक पूर्ण व्याख्या है, उसने स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत, उसने यह समस्या उठाई कि इन सहजज्ञानों की व्यवस्था को कैसे जाना जाएगा? सामान्य व्यक्ति वास्तविक रूप से तो नहीं, किंतु मौखिक-रूप से उससे सहमत प्रतीत होता है, इसलिए उसने साधारण व्यक्ति के अंतर्विवेक की संगतिपूर्णता के बटलर के दृष्टिकोण के प्रति संदेह किया। अपने विचारों की इस अवस्था में पुनः अरस्तु के ग्रंथों को पढ़ा और यह देखा कि अरस्तु ने हमें जो कुछ दिया, वह एक सजग विश्लेषण और तुलना के द्वारा सहजबोध की ग्रीक-नैतिकता का एक संगतिपूर्ण प्रस्तुतिकरण था। उसने जो कुछ दिया, वह एक बाहरी वस्तु नहीं थी, अपितु उस युग के सभी व्यक्तियों के चिंतन से निष्पन्न तथ्य था। सिजविक यह मानता था कि अरस्तु के समान ही अपने युग एवं परिस्थितियों की नैतिकता के लिए उसने भी वही, फिर चाहे वह नैतिक सहजज्ञान के एक दर्शन को प्रस्तुत कर पाया या न कर पाया हो, नैतिक सहजज्ञान को स्वीकार करने में उसने यही योगदान दिया। इस समीक्षा से सामान्य बोध के नैतिकता के सिद्धांत (चाहे प्रबलतम और कठोरतम अर्थात् ईमानदारी और सच्ची निष्ठा) और (दूसरों के प्रति कर्त्तव्य से सम्बंधित)

सहजज्ञानों, अर्थात् कांट के सिद्धांत और उपयोगितावाद के मूलभूत सिद्धांत के बीच का विरोध कम हुआ। यह बहुत ही स्पष्ट है कि केवल इसी नियम को एक सार्वभौमिक-नियम के रूप में संकल्प किया जा सकता है कि सभी मनुष्य सामान्य सुख की अभिवृद्धि के लिए कार्य करो। इस प्रकार, सिजविक सहजज्ञानवाद पर आधारित उपयोगितावाद का समर्थक था। वे स्वयंसिद्धियां अथवा स्वतः प्रमाण, जिन्हें उसने अंत में स्वीकार किया है, निम्न थे - 1. विवेक (जिसमें बौद्धिक-स्वहित निहित है), 2. न्याय या समानता और 3. बौद्धिक-लोकहित (सिजविक के उपयोगितावाद का तार्किक-आधार)। सामान्य-बोध का नैतिक-सिद्धांत अपने आप को नियमों के एक ऐसे दर्शन के रूप में अभिव्यक्त करता है, जो कि सामान्य-सुख की अभिवृद्धि का होता है, लेकिन सिजविक के पास अपने उपयोगितावाद के लिए ऐसा कोई स्पष्ट और स्वयं-सिद्ध सिद्धांत नहीं था, जो कि पूर्णतया संगतियुक्त हो। उपयोगितावाद और सहजज्ञानवाद के बीच का विरोध एक गलत धारणा पर आधारित प्रतीत होता था, फिर भी सिजविक ने यह माना था कि व्यक्तिगत-हित और नैतिकता के दूसरे सिद्धांतों के बीच एक मूलभूत विरोध है। वह विश्व की नैतिक-शासन-व्यवस्था की धारणा अर्थात् ईश्वरीय-शासन के सिवाय इस विरोध का समन्वय करने के लिए दूसरी कोई विश्वसनीय पद्धति की खोज नहीं कर सकता। इस सम्बंध में उसके विचार कांट और बटलर से सहमति रखते हैं। पुनः, उपयोगितावाद-दर्शन की समीक्षा के द्वारा उसने उपयोगितावाद के दोषों को देखा। उसने यह देखा कि बहुत सारी स्थितियों में उपयोगितावादी-गणना हमें मार्गदर्शन देने में अक्षम है। इसी कारण, वह सामान्य-बुद्धि के निर्देशनों का उपयोग करने और उनका सम्मान करने के लिए आतुर था। इसका आधार विकासवाद की वह सामान्य धारणा थी, जो यह मानती है कि नैतिक-स्थायीभाव और नैतिक-मान्यताएं सामान्य सुख की अभिवृद्धि करने वाले आचरण की ओर प्रवृत्त करती हैं, तिस पर भी उसने इस धारणा को उपयोगितावादी गणना से एक विरोधी निष्कर्ष निकाल लेने की प्रबल सम्भावना को समाप्त करने का आधार नहीं माना।

सहजज्ञानवाद-मार्टिन्यू (1805-1900)

जेम्स मार्टिन्यू का नीतिशास्त्र भी किसी रूप से संक्रमणकालीन ही था, फिर भी वह नैतिक विचारों के अधुनातन रूपों की अपेक्षा सहजज्ञानवाद के प्राचीन रूपों की दिशा में अधिक झुका। उसका ग्रंथ नैतिक-सिद्धांतों के प्रकार (1885)

अपने मुख्य लक्षणों की दृष्टि से ब्रिटिश-नीतिशास्त्र के धार्मिक-पृष्ठभूमि लिए हुए परम्परागत रूपों के अधिक निकट था। उसने उस मनोवैज्ञानिक-सिद्धांत को निरस्त कर दिया, जो कि सिजविक को सुख की आचरण का साध्य मानने की दिशा में ले गया था। अंतरात्मा के घटकों का प्रयास होने के कारण उसकी अपनी पद्धति भी मुख्यतया मनोवैज्ञानिक ही थी। वस्तुतः, उसके इस सिद्धांत के उपयोग में उस शिकायत को लेकर, जो सिजविक ने की थी, कुछ औचित्य भी है। वह शिकायत यह थी कि उसने उन-उन बातों को मान लिया, जिसे उसकी अपनी नैतिक-चेतना ने स्वयं अपने बारे में कहा था और उसने यह भी मान लिया कि ये सभी लोगों के लिए सत्य होगी। मार्टिन्यू नैतिक-शक्ति के स्रोत की खोज करते हुए इसे व्यक्तित्व से भिन्न अन्य किसी तथ्य में स्वीकार नहीं कर सके। कर्त्तव्य का प्रत्यय हम पर बंधनकारक है, लेकिन हम किसी भी ऐसी वस्तु को हमारे लिए बंधनकारक (आबंधात्मक) स्वीकार नहीं कर सकते, जो कि हम से उच्च नहीं हो, इसलिए नैतिक-आबंध का स्रोत एक ऐसे व्यक्तित्व में होना चाहिए, जो हमसे उच्च हो और केवल वैयक्तिक-ईश्वर ही इस अपेक्षा को पूर्ण कर सकता है। प्रत्यक्ष की दृष्टि से वह ईश्वर आत्मा और प्रकृति है, नैतिकता की दृष्टि से वह आत्मा और ईश्वर है, जो कि हमारे समक्ष उपस्थित है। सिजविक ने इस बात पर आपत्ति की थी कि यदि मार्टिन्यू इससे इंकार नहीं करते हैं कि अनिश्वरवादी-गणितज्ञों के लिए मात्रात्मक-सम्बंधों के प्रसंग में बुद्धि की प्रामाणिकता सत्य है, तो वह संगतिपूर्ण रूप से यह मानने को भी बाध्य है कि एक अनिश्वरवादी-नीतिवेत्ता के लिए औचित्य के संदर्भ में अंतरात्मा की प्रामाणिकता भी उसी प्रकार सत्य हो सकती है तथा नैतिकता के लिए ईश्वरवादी-दृष्टिकोण को अनिवार्य तथा लागू नहीं किया जा सकता।

मार्टिन्यू ने इस बात पर भी बल दिया है कि एक सच्चा नैतिक-निर्णय एकान्तिक-रूप से कर्म के बाह्य-परिणामों पर न होकर उस कर्म के आंतरिक-स्रोत अर्थात् प्रेरक पर होता है[3]। निर्णय दो प्रकार के होते हैं - 1. वैधिक, जो चाहिए, औचित्य और कर्त्तव्यों के प्रत्ययों का उपयोग करते हैं और दूसरे 2.सौंदर्यात्मक, जो शुभ और अशुभ के पदों का उपयोग करते हैं। उसके अनुसार, निर्णयों का यह दूसरा वर्ग सामान्यतया नैतिकता से रहित है। उसके अनुसार, हमारे चयन का स्रोत सदैव ही कोई विशेष प्रेरणा या वासना होती है, जो कि चयन को सुझाती है। यह दृष्टिकोण उसे कर्मों के वांछित परिणामों की सार्थकता को भुला देने या कम महत्त्वपूर्ण समझने की

दिशा में ले गया, फिर भी, सिजविक बताता है कि एक स्थान पर मार्टिन्यू ने कर्म-परिणामों को कुछ मान्यता दी थी। उसका यह कथन यह है कि परिकलन या संगणना बहुत-कुछ कर्म के इस या उस कर्म-प्रेरक की वरेण्यता में निहित है, क्योंकि जो कर्म का प्रेरक जितना आत्म-चेतन होता है, उतना ही अपने स्वयं के परिणामों का चिंतन करता है और उन परिणामों पर निर्णय देता है, हमारी मनोवृत्ति पर दिए गए निर्णयों में निहित है। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह कथन मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से सही है। मार्टिन्यू ने नैतिक-मूल्य के तारतम्य की दृष्टि से आवेगों और प्रेरकों को एक क्रम में रखा है। वह कर्म-प्रेरकों के मूल्यों का निम्न प्रमापक प्रस्तुत करता है, किंतु यह देखा जाता है कि न तो सदैव उच्चतम को ग्रहण किया जाता है और न सदैव निम्नतम का ही त्याग किया जाता है। किसी सीमा तक हम सभी का किसी-न-किसी रूप में जीवन में स्थान है, लेकिन उन्हें अपने प्रभुत्व एवं आधीनता की सापेक्षिक-स्थितियों में उनके अपने-अपने क्षेत्रों तक सीमित रखना होगा। यह न तो अनुभव-पूर्व है और अनुभव ही इसे सिद्ध करता है कि आवेगों के किसी भी युगता के बीच उच्चतर और निम्नतर का एक सार्वभौम प्रामाणिक-सम्बंध है। आवेगों के बीच संघर्षों की चर्चा करते हुए मार्टिन्यू ने अव्यक्त रूप से कर्म-परिणामों के सिद्धांत को मान्य किया है, ऐसा सिजविक का कथन है। मार्टिन्यू की अपनी ओर से यह कहा जा सकता है कि मूल्यों के मापदण्ड के प्रत्यय को कर्म-परिणामों पर भी लागू किया जा सकता है और सिजविक का उपयोगितावादी-सिद्धांत कर्म-परिणामों के विभिन्न विकल्पों में नैतिक-निर्णय लेने के लिए एक आधार प्रस्तुत करने की दृष्टि से असंतोषप्रद है।

नीतिशास्त्र विज्ञान के रूप में उंट (1832-1920)

एक स्वतंत्र विद्या नीतिशास्त्र के स्वरूप और उसकी समुचित पद्धति का सर्वेक्षण विल हेम उंट के द्वारा अपने ग्रंथ नीतिशास्त्र (1886) में किया गया था और उसने जो दृष्टिकोण अपनाया था, उसे बहुत से परवर्ती नीति-सम्बंधी रचनाओं में भी मान्य किया गया। नीतिशास्त्र न तो विशुद्ध रूप से अनुभवाधारित विद्या है और न विशुद्ध रूप से विमर्षात्मक (बौद्धिक)- विद्या है, लेकिन प्रत्येक सार्वभौम विज्ञान के समान वह भी एक साथ अनुभवात्मक और चिंतनपरक- दोनों ही है। हमारे चिंतन की स्वाभाविक-प्रक्रिया में चिंतन के पूर्व आनुभविक-प्रक्रिया का होना आवश्यक है। निश्चय ही, हम निरीक्षण के द्वारा उस विषय-सामग्री को प्राप्त करते हैं, जिस पर चिंतन अपना ढांचा खड़ा करता है, अन्य विज्ञानों की तरह यह

बात नीतिशास्त्र पर लागू होती है। उंट के अनुसार, नीतिशास्त्र की यह विषय-वस्तु सामाजिक मनोविज्ञान और मानव-सभ्यता के इतिहास से प्राप्त होती है। वैज्ञानिक-चिंतन इस सामग्री का विश्लेषण करता है और इसे सामान्य दृष्टिकोणों के अंतर्गत वर्गीकृत करता है। एक वैज्ञानिक-नीतिशास्त्र की विशिष्ट समस्याएं ये हैं - (1) उपलब्ध तथ्यों के आधार पर उस सिद्धांत का विकास करना, जिस पर नैतिक-मूल्यों के सभी निर्णय आधारित हैं और यह देखना कि ये कैसे उत्पन्न होते हैं, साथ ही, उनके पारस्परिक-सम्बंधों को निर्धारित करना है। (2) नैतिक-जीवन के मुख्य क्षेत्रों अर्थात् परिवार, शासन, राज्य आदि में इन सिद्धांतों के लागू करने के सम्बंध में विचार करना। इस प्रकार का सर्वेक्षण चिंतनपरक-नीतिशास्त्र और भावनापरक-नीतिशास्त्र के उस विरोध का अतिक्रमण करेगा, जिसने उंट के अनुसार भूतकालीन नैतिक-विज्ञान से ग्रसित कर रखा था। यह नृतृत्व शास्त्रीय, ऐतिहासिक, वैधिक और आर्थिक-तथ्यों पर भी अपेक्षित विचार करने के हेतु क्षेत्र प्रदान करेगा। यह अंतर्दशन के द्वारा प्रस्तुत ऐच्छिक-कार्यों की आंतरिक-स्थितियों पर बल देकर नैतिकता के आत्म-निष्ठ पक्ष तथा सामाजिक तथा ऐतिहासिक-तथ्यों से नीतिशास्त्र के सम्बंधों के द्वारा नैतिकता के वस्तुनिष्ठ-पक्ष में समन्वय करता है।

शुभ एक आध्यात्मिक-उपलब्धि है, जो यद्यपि स्वयं सुख नहीं है, फिर भी अपने साथ सुख को लाती है। इस आध्यात्मिक-उपलब्धि को सामाजिक-जीवन से अलग मात्र वैयक्तिक-जीवन के द्वारा पूरी तरह से समझा नहीं जा सकता है। इसे केवल मानव-जाति के सामाजिक-जीवन के उत्पन्न एक तथ्य के रूप में ही समझा जा सकता है। यह मानव-जाति के सामाजिक-जीवन से ही उत्पन्न होती है और उसी से ही सम्बंधित है। आदर्श एक ऐसा तथ्य नहीं है, जो एक ही बार में सदा के लिए प्रदान कर दिया गया है, अपितु प्रत्येक जाति और प्रत्येक पीढ़ी उस आदर्श को अपने स्वयं के मार्ग से आगे बढ़ाती है। जीवन एक सृजनात्मक-समन्वय को अभिव्यक्त करता है। उंट का कथन है कि यह सृजनात्मक-समन्वय आंशिक-रूप से साध्यों के समन्वय (पंचमेल) के द्वारा होता है। विभिन्न साध्यों का यह एकीकरण साध्यों से होने वाली उपलब्धि की अपेक्षा ऐसी उपलब्धि के लिए होता है, जिसका मूल्य उन वैयक्तिक-साध्यों की उपलब्धि से महान् हो। नैतिक-जीवन या नैतिक-शुभों की घटनाओं में एक वर्द्धमान् बहुविधता है। उंट यह मानता है कि मानव-जाति का एक बहुत बड़ा भाग जिन साध्यों के लिए कार्य करता है और कष्ट उठाता है, उन दूरस्थ

साध्यों के स्वरूप के सम्बंध में निश्चित दृष्टिकोण के बिना ही जीवन जीता है। उंट ने अपने नीतिशास्त्र में सामान्य संकल्प का जो प्रत्यय प्रस्तुत किया है, वह पूर्णतया अस्पष्ट है और उसकी स्थिति भी बहुत ही विवादास्पद है। नैतिकता उस सामान्य संकल्प की साधना है, जो कि उन सब क्रियाशील प्रवृत्तियों से पाया जाता है, जिन्हें सभी व्यक्ति समान रूप से करते हैं, तथापि वह किसी समाज के सभी व्यक्तियों के संकल्पों के योग मात्र से अधिक है। यद्यपि यह सामान्य इच्छा स्वयं में एक व्यक्तित्व नहीं है, तथापि यह उन व्यक्तियों के लिए एक वस्तुनिष्ठ लक्षण से युक्त है, जिनकी दृष्टि में यह वास्तविकताओं में एक सर्वाधिक वास्तविकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सामान्य संकल्प-प्रत्यय में उंट की यह बात मान्य है कि नैतिकता की पूर्ण व्याख्या समाजशास्त्र के द्वारा नहीं की जा सकती है, अर्थात् इसकी वस्तुनिष्ठता समाज का भी अतिक्रमण कर जाती है। समाज तो स्वयं नैतिक-प्रमापकों के द्वारा नैतिक-रूप से निष्क्रित होता है। यद्यपि वह वस्तुनिष्ठता किसी वैयक्तिक सत्ता में निहित है, इस बात के निर्णय के सिवाय वह इसके अस्तित्व के तात्त्विक-आधार के सम्बंध में कोई सूचना नहीं देता है। यह सामान्य संकल्प नैतिक-सार्वभौमिकता और वस्तुनिष्ठता के विचार (प्रत्यय) के व्यक्तिकरण से अधिक कुछ प्रतीत नहीं होता है।

नीतिशास्त्र और मूल्यों का सिद्धांत

नीतिशास्त्र के प्रति एक भिन्न प्रकार का दृष्टिकोण आस्ट्रियन्स, फ्रांज-ब्रेन्टानो, एलेक्सियस वन मिनांग और क्रिश्चियन वन एहरम फेल्स के द्वारा अपनाया गया। इस सबने नैतिकता को मूल्यों की और मूल्यांकन की पद्धति की सामान्य खोज के रूप में समझने का प्रयास किया। इसको भी नैतिक-विषयों और ऐन्द्रिक-प्रत्यक्षीकरण के समान ही एक गहन और स्वतंत्र खोज की आवश्यकता थी। इन्होंने इस खोज को अनुभवात्मक -पद्धति के आधार पर प्रारम्भ किया और मूल्यों के सामान्य सिद्धांत तक पहुंचने का प्रयास किया।

ब्रेन्टानो (1838-1917)

ब्रेन्टानो[4] ने यह माना कि मानव-जाति में प्रेम और घृणा की एक शक्ति है, जो कि उतना ही वास्तविक है, जितना कि सैद्धांतिक-निर्णय का शक्ति। आंशिक-रूप से मूल्य इस सरण एवं अविभाज्य-शक्ति के ही उत्पादन हैं। यह हमें उसी प्रामाणिकता के साथ आंतरिक-मूल्यों की सत्यता को प्रस्तुत

करती है, जैसे कि तर्कशास्त्र के स्वयंसिद्ध सत्य। यद्यपि शुभ सुखात्मक नहीं है, फिर भी उसका क्षेत्र सार्वभौम है अर्थात् सम्पूर्ण वर्त्तमान जैविक-जगत्, यहां तक कि भावी-जगत् भी उसके विचार क्षेत्र में लिए जा सकते हैं।

मीनांग[5]

मीनांग और एहरन फेल्स विश्लेषण की बहुत ही अधिक गहराई में प्रविष्ट हुए। मीनांग ने इस बात पर बल दिया कि मूल्य वैयक्तिक-मनोभावों (संवेगों) से सम्बंधित हैं। मूल्यों के इस क्षेत्र में संवेगों की स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसी कि भौतिक-वस्तुओं के ज्ञान के क्षेत्र में संवेदनाओं की। वस्तुओं का भी व्यक्तियों के संवेगों से निरपेक्ष अपने-आप में कोई यथार्थ मूल्य नहीं है, फि र भी मूल्य केवल आत्मनिष्ठ ही नहीं है, क्योंकि वे मनोभावों से परे किसी वास्तविक या संभावित तथ्य या वस्तु से सम्बंधित हैं, फिर भी मूल्य न तो व्यक्ति में निहित हैं और न वस्तु में, वरन् व्यक्ति और वस्तु के सम्बंधों में हैं। वे व्यक्तियों और जिनका उपयोग व्यक्ति करते हैं, उन वस्तुओं के सम्बंधों की जटिलता में निहित हैं। इस प्रकार मूल्यांकन एक अस्तित्व-सूचक निर्णय के साथ अनुमोदन की मानसिक-अवस्था है। अनुकूल परिस्थितियों में मूल्य का प्रत्येक विषय मूल्य की भावनाओं को जाग्रत करेगा। मूल्यों के एक सामान्य नियामक-तत्त्व को खोज पाना असम्भव है। मीनांग ने अतिवैयक्तिक-मूल्यों की धारणा के द्वारा वैयक्तिक-मूल्यों के अपने सिद्धांत की सापेक्षिकता से बचने का प्रयास किया है। ये अति वैयक्तिक-मूल्य एक उच्चक्रम के विषय हैं। वैयक्तिक और अतिवैयक्तिक-मूल्यों की खोज व्यापक एवं संभाव्य सर्वेक्षण के द्वारा की जा सकती है। मुख्य शुभ प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न नहीं होते हैं, सबके लिए समान होते हैं, उनमें ही उनकी वस्तुनिष्ठ सत्यता निहित रहती है।

एहरन फेल्स (1859)

एहरन फेल्स[6] ने मूल्यों पर अभिलाषाओं (इच्छाओं) के दृष्टिकोण से विचार किया है। मूल्यवान् होने का अर्थ है- अभिलाषित होना। मूल्य पूर्णतया अभिलाषाओं पर आश्रित हैं। वस्तुओं पर मूल्यों का आरोप इसलिए किया जाता है, क्योंकि हम उनकी अभिलाषा करते हैं। हम वस्तुओं की अभिलाषा इसलिए नहीं करते, क्योंकि हमने उन मूल्यों का आरोप किया है। अभिलाषा का प्रत्येक साध्य एक संभावित तथ्य के रूप में अवश्य ही चेतन रूप से स्वीकृत होना चाहिए। एहरन फेल्स ने यह माना था कि इच्छा सुख की सापेक्षिक-अभिवृद्धि की संभावना से चालित होती है। उसने इस बात

को निम्न सामान्य नियम के रूप में प्रस्तुत किया है। सभी ऐच्छिक-कार्यों की शक्ति और उनके लक्ष्य आनंद की सापेक्षिक-अभिवृद्धि पर निर्भर होते हैं, जिसे वे सम्बंधित व्यक्ति के संवेदनशील मनोविन्यास की दृष्टि से अपने को चेतना से प्रवेश के द्वारा उत्पन्न करते हैं और चेतना में अपने स्थिति-काल से बने रहते हैं। आनंद को सुखवादी-सिद्धांतों के सुख के अर्थ में नहीं समझना चाहिए। किसी वस्तु की इच्छा केवल इच्छा के लिए अथवा (सुख के अतिरिक्त) किसी अन्य साध्य के लिए भी हो सकती है। इस प्रकार, इच्छा में आंतरिक-मूल्य और बाह्य-मूल्य का विभेद रहता है। यद्यपि मूल्यों को आंतरिक-मूल्य (स्वतः-मूल्य) या बाह्य-मूल्य (परतः मूल्य) के रूप में सुनिश्चित ढंग से वर्गीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि वही विषय उसी समय आंतरिक-मूल्य और बाह्य-मूल्य - दोनों की ही दृष्टि से मूल्यवान् हो सकता है, अथवा एक समय वह आंतरिक मूल्य वाला हो सकता है और दूसरे समय बाह्य-मूल्य वाला हो सकता है। मूल्यात्मक-वस्तुओं के दो व्यापक वर्ग हैं - 1. मानवीय-मूल्य और 2. पशुओं और वस्तुओं का गुण एवं कार्यक्षमता। एहरन फेल्स, नैतिक-पंक्षों के स्वभाव (गुण) पर विचार करने की अपनी प्रारम्भिक-पद्धति है, उनके निर्देश (विस्तार) के प्रश्न की ओर मुड़ता है, अर्थात् उन विषयों की ओर, जिन पर इन नैतिक-पदों को प्रामाणिकता के साथ लागू किया जा सकता है। कार्यों पर लागू होने वाले नैतिक-आदेशों को उन मनोभावों के नैतिक-मूल्यांकन, जिनसे कि वे उत्पन्न होते हैं, अलग किया जाना चाहिए। नैतिक-मूल्यांकन अपने उत्कृष्ट रूप में वैयक्तिक-निर्णय नहीं हैं, अपितु वे सम्पूर्ण समाज के सामूहिक-निर्णय हैं। अपने मूल्यांकन को पाश्चात्य और मुख्यतया ईसाई दृष्टिकोण तक सीमित रखते हुए वह पाता है कि नैतिक-आदर्श केवल मानव-जाति के प्रति सामान्य प्रेम नहीं है, यद्यपि यह प्रेम उसका केंद्रीय एवं प्रमुख तत्त्व हो सकता है। सदाचार, निष्ठा, ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता, सच्चाई, आत्म-गौरव, उदारता, ब्रह्मचर्य, संयम, कर्मठता और कार्यप्रेम - ये सभी, जिसका कि नैतिक-दृष्टि से सर्वाधिक मूल्यांकन किया जाता है, इच्छा की प्रवृत्ति के और स्वतः ही भावना के विषय हैं। वे या तो प्रेम के अलावा इच्छा के दृष्टिकोण से परोपकार के किसी रूप को निरूपित करते हैं या अन्यथा इनका दूसरे प्राणियों के प्रति प्रेम से कोई सम्बंध ही नहीं है[7]।

मूर (1873)

केंद्रीय-नैतिक-मूल्य की समस्या का और इस प्रकार नीतिशास्त्र के मौलिक-

प्रत्यय का व्यवस्थित रूप से विवेचन करने का प्रयास जार्ज स्टवर्ड मूर के द्वारा अपने ग्रंथ (1903) में किया गया है। मार्टिन्यू ने एक प्रारम्भिक-सहजज्ञानवादी के रूप में औचित्य और अनौचित्य के प्रत्ययों को नैतिक-प्रेरकों का लक्षण मानने पर बल दिया था। सिजविक ने साध्य के प्रत्यय को आचरण के औचित्य और अनौचित्य का निर्णय करने वाला केंद्रीय-तत्त्व माना था, लेकिन उसने इस साध्य को सुख के रूप में स्वीकार किया था, किंतु मनोवैज्ञानिक-खोज और नैतिक-निर्णयों के विश्लेषण ने इस दृष्टिकोण को अमान्य कर दिया। यदि शुभ सुख नहीं है, तो फिर उसका स्वरूप क्या है? मूर नीतिशास्त्र के तात्त्विक-दृष्टिकोण की आलोचना करता है और उसे अस्वीकार करता है। मूर यह मानता है कि तत्त्व-मीमांसा एक कल्पित अतीन्द्रिय सत्ता की खोज करती है और मूलभूत नैतिक-प्रश्नों के उत्तर के लिए कोई तार्किक आधार प्रस्तुत नहीं कर पाती है। शुभ स्वयं में क्या है? मूर के अनुसार, इस प्रश्न के उत्तर में भ्रांति के अनेक स्रोत हो सकते हैं, जो कि सामान्यतया नीतिशास्त्र में पाए जाते हैं। बिना इस बात का विचार किए कि इन पदों का क्या अर्थ है? यह पूछा जाता है कि कौन-सी बातें सद्गुण या कर्त्तव्य हैं। साध्य या साधन का अथवा यह स्वयं अपने लिए है या अपने परिणामों के लिए, इस बात का विश्लेषण किए बिना यह पूछने का प्रत्यय किया जाता है कि अब और यहां क्या करना चाहिए। उचित या अनुचित की एक कसौटी की खोज बिना यह बात स्वीकार की जाती है कि एक कसौटी की खोज के लिए हमें सबसे पहले यह जानना होगा कि कौन-सी वस्तुएं उचित या अनुचित हैं। इसी प्रकार, आंगिक-एकता के सिद्धांत की भी अवहेलना की गई है।

मूर नैतिक-निर्णय के सभी सामान्य विषयों के लिए दो प्रश्न उपस्थित करता है - 1. क्या उस विषय का आंतरिक-मूल्य है, 2.क्या यह सर्वोत्कृष्ट संभावना का एक साधन है। इस प्रकार, मूल्य-प्रत्यय आंतरिक-मूल्य है, जो कि स्वतः शुभ है और जो आंतरिक-मूल्य या स्वतः शुभ पर आश्रित है, वह परतः मूल्य (आश्रित-मूल्य) है। यह परतः मूल्य या बाह्य-मूल्य एक आंतरिक-मूल्य का एक साधन है। मिल ने इस बात पर बल दिया था कि परम-साध्य का परीक्षण प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा नहीं किया जा सकता है, लेकिन फिर भी उसने सुख को साध्य मानने सम्बंधी अपने दृष्टिकोण के लिए प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था, यद्यपि उसका यह प्रमाण वांछनीय और वांछित के बीच अस्पष्टता के कारण भ्रांतिपूर्ण था। अनुभवात्मक-खोज यह बताती है कि निश्चय ही सुख इच्छा का एकमात्र विषय नहीं है और यहां

तक कि यदि यह हमेशा इच्छा के कारणों के रूप में उपस्थित रहता है, तो भी यह तथ्य इसे शुभ मानने के लिए अपने-आप में सक्षम नहीं होगा। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि हम अपने सामने स्पष्टतया यह प्रश्न रखें कि क्या सुख की चेतना ही एकमात्र शुभ है? तो इसका उत्तर अवश्य ही नकारात्मक होगा और इसके साथ ही सुखवाद के अंतिम बचाव का यह प्रयत्न भी धराशायी हो जाएगा, तब स्वतः शुभ (आंतरिक शुभ) क्या है? यहां एक अंतर को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। हम स्वतः मूल्यों के चरम नैतिक-निर्णयों में शुभ का एक विधेय के रूप में उपयोग करते हैं। ऐसा विधेय के रूप में शुभ अंतिम है। यह अपने स्वयं के अतिरिक्त किसी अन्य पद के रूप में व्याख्या किए जाने के अयोग्य है, संक्षेप में, यह अपरिभाष्य है। यह विचार के दूसरे अनेकों विषयों में से एक विशिष्ट एवं सरल विषय है। शुभ अपरिभाष्य है, इस दृष्टिकोण के दूसरे विकल्प केवल ये हैं कि या तो शुभ एक जटिल प्रत्यय है, अथवा नीतिशास्त्र के लिए कोई विशिष्ट प्रत्यय नहीं है। मूर मानता है कि परीक्षण के द्वारा दोनों का ही खण्डन किया जा सकता है। शुभ और अशुभ का अनेक वस्तुओं के विधेय के रूप में उपयोग किया जाता है। बड़े-बड़े आंतरिक-शुभों और बड़ी-बड़ी आंतरिक-बुराइयों के अनेकानेक वर्ग हैं। एकाध अपवाद को छोड़कर इनमें से सरलतम भी एक बहुत ही अधिक जटिल इकाई है, जो कि अंगों से बनी है। ये अंग अपने-आप में थोड़ा या कुछ भी मूल्य नहीं रखते हैं। इन सभी में एक विषय की चेतना निहित है और लगभग ये सभी इस विषय के प्रति एक सांवेगिक-दृष्टिकोण रखते हैं। यद्यपि इस प्रकार उनमें कुछ सामान्य लक्षण पाए जाते हैं, लेकिन गुणों की एक बहुत बड़ी संख्या ऐसी है, जिसमें वे एक-दूसरे से भिन्न हैं और जो उनके मूल्यांकन के लिए उतनी ही आवश्यक है। सभी का सामान्य लक्षण अपने-आप में पूर्ण शुभ या पूर्ण अशुभ नहीं है। वे प्रत्येक स्थिति में अपने गुण-दोष - दोनों को ही उपस्थिति में पाते हैं।

तथ्य है कि एक पूर्ण (इकाई) का मूल्य अपने अंगों के मूल्यों के योग से भिन्न हो सकता है। यही बात आंतरिक-मूल्यों की खोज को जटिल बनाती है। इन पूर्ण इकाइयों को मूर आंगिक-एकता का नाम देता है। अपनी मान्यताओं को सिजविक के सिद्धांत पर लागू करते हुए मूर उस पर यह आक्षेप लगाता है कि वह आंगिक-एकता के सिद्धांत को स्वीकार करने में असमर्थ रहा। जन-साधारण की नैतिकता (सामान्य बुद्धि-नीति) और सुखवाद के निर्णयों के बीच पाई जाने वाली जिस समानता का प्रतिपादन सिजविक ने किया था, वह केवल साधनात्मक-निर्णयों से सम्बंधित

सामान्य-बुद्धि इस बात से इंकार करेगी कि तात्कालिक-रूप से अधिक सुख-अवस्थाएं सदैव ही उत्तम होंगी। मूर सिजविक को बौद्धिक-स्वहित और बौद्धिक-लोकहित के सम्बंध के प्रसंग में भी अस्पष्टता का दोषी बताता है। यह कहना स्पष्ट ही विरोधाभास से युक्त है कि एक व्यक्ति का शुभ एकमात्र शुभ होगा। इस विरोधाभास का निरसन केवल यह मानकर नहीं किया जा सकता कि वही आचरण दोनों साध्यों को प्राप्त कर लेगा।

मूर का दृष्टिकोण प्रतिज्ञानवाद (सहजज्ञानवाद) से मिलता है, क्योंकि उसका दृष्टिकोण परमसाध्य के रूप में स्वतः शुभ के अपरोक्ष बोध पर आधारित है, लेकिन उसकी स्थिति मूलतया उस प्राथमिक-सहजज्ञानवाद से भिन्न है, जो कि यह मानता है कि कार्यों के नियम निश्चित ही अंतःप्रज्ञात्मक हैं। वस्तुतः, कर्त्तव्य से सम्बंधित कोई भी तर्कवाक्य (कथन) स्वतः उपस्थित हो, तो नैतिक-निर्णय नहीं किया जा सकता, लेकिन वह भावना, जो कि नैतिक-निर्णय का आधार है, विशेष रूप से नैतिक या उत्तम प्रकार की नहीं है। रशडाल ने किसी विशेष नैतिक संवेग का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। नैतिक-निर्णय बौद्धिक-विद्या का उपयोग करते हैं और बुद्धि के विविध-रूपों में बौद्धिक-विद्या तो एक ही होगी, यद्यपि विकास के विभिन्न स्तरों पर उसमें ज्ञान की अभिव्यक्ति स्पष्टता और पूर्णता की कम या अधिक मात्रा हो सकती है। परम शुभ या परम मूल्य किसी रूप में अंतःप्रज्ञा के द्वारा ज्ञात है, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि रशडाल यह बता पाने में समर्थ नहीं था कि इस अंतःप्रज्ञा का स्वरूप मुख्यतया बौद्धिक है। रशडाल के आदर्श-उपयोगितावाद का मूल सिद्धांत यह है कि उचितता या अनुचितता उसके कल्याण या शुभ, जो कि विभिन्न घटकों से निर्मित है और जिसका सापेक्षिक-मूल्य अंतःप्रज्ञा के द्वारा ज्ञात है, की अभिवृद्धि के लिए प्रवृत्त होने या नहीं होने पर निर्भर है। साध्य सुख नहीं है, यद्यपि उसमें सुख निहित है, परंतु कुछ सुखों को शुभ की दृष्टि से बुरा भी कहा जा सकता है। पुनश्च, नैतिक-निर्णय अंततोगत्वा साध्यों से सम्बंधित हैं और एक असुखवादी-दृष्टिकोण के लिए साधन-अवसर साध्य के अंग होते हैं। अनेक शुभ ऐसे भी हैं, जिन्हें नीतिशास्त्र को अवश्य ही स्वीकार करना होता है और जो बिना एक-दूसरे को प्रभावित किए साथ-साथ नहीं रहते हैं। ये सभी शुभ एक आदर्श शुभ-जीवन के अंग, घटक या पक्ष हैं। इस आदर्श शुभ जीवन में उसके प्रत्येक अंग या घटक का यह कर्त्तव्य है कि वह सभी के लिए उस जीवन की अभिवृद्धि करे। मूल्यों का पृथक्करण अमूर्त्तिकरण का एक रूप है।

मानव-जीवन का यह आदर्श मात्र विभिन्न शुभों की सन्निधि (निकटता) नहीं है, अपितु, एक ऐसी पूर्ण इकाई है, जिसमें प्रत्येक शुभ दूसरे शुभों की उपस्थिति के कारण अपनी अलग से सत्ता रखता है, फिर भी कार्य के विभिन्न विकल्पों की उपस्थिति में नैतिक निर्णयन की वास्तविक-प्रक्रिया की समीक्षा यह बताती है कि विशेष शुभों एवं अशुभों तथा उनके पारस्परिक-सम्बंधों पर तुलना और विभेदीकरण पद्धतियों के द्वारा अवश्य ही विचार करना चाहिए। कार्य के विभिन्न विकल्पों के पूर्व अनुमानित संभाव्य परिणामों पर किसी विशेष संदर्भ में विस्तारपूर्वक सामान्य तुलना की जाना चाहिए और उन विकल्पों के सापेक्षिक-दावों का मूल्यांकन होना चाहिए। वास्तव में ऐसा करने पर हमें यह विदित होगा कि किसी रूप में सभी मूल्य आनुपातिक हैं और उनके महत्त्व का मूल्यांकन एक-दूसरे के संदर्भ में ही किया जाना चाहिए। क्या ऐसी प्रक्रिया में तुलना और मूल्यांकन का कोई सिद्धांत निहित है? और यदि वह है, तो क्या है? रशडाल की दृष्टि में स्पष्ट रूप से ऐसा कोई एक सिद्धांत नहीं है। सामान्य लोककल्याण के विचार के आधार पर ही ऐसा कोई मूल्यांकन हो सकता है और यह मूल्यांकन भी प्रमुख आदर्शों या जीवन-पद्धति और मूल्यांकन करने वाले व्यक्ति के चरित्र से प्रभावित होगा। उसका सम्बंध उससे भी होगा, जिसे जान स्टुअर्ट मेकेंजी ने इच्छा का विश्व कहा है। जिन इच्छाओं में से चयन किया जाता है, वे अक्सर आंशिक-रूप से वर्गाच्छादन करती हैं।

निश्चय ही, वैयक्तिक-शुभ और दूसरे लोगों के शुभ में कोई असंगति हो सकती है, लेकिन अनुभवात्मक-प्रमाण के आधार पर सामान्य-शुभ के प्रत्यय का सम्यक् प्रकार से अभ्युपगम नहीं किया जा सकता है, जबकि ग्रीन और दूसरे लोगों ने इस आधार पर माना था कि जो एक के लिए शुभ है, उसका दूसरे लोगों के शुभ के साथ भी सदैव ही तादात्म्य होगा। वास्तविक नैतिकता कुछ ऐसे स्वयंसिद्ध सिद्धांतों की अपेक्षा करती है, जो एक प्रभावशील एवं वस्तुतः सर्वश्रेष्ठ स्थिति होने का दावा कर सकें। स्वयंसिद्ध सिद्धांत विवेक, परोपकार और समानता हैं। यह बात मेरे लिए स्वतःसिद्ध प्रमाण है कि मुझे अपने अधिकतम शुभ की अभिवृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए (जहां तक कि वह शुभ दूसरों के अधिकतम शुभ से नहीं टकराता है), कुल मिलाकर मुझे कम की अपेक्षा अधिक शुभ को प्राथमिकता देना चाहिए और एक व्यक्ति के शुभ को दूसरे व्यक्ति के उसी प्रकार के शुभ के समान ही आंतरिक-मूल्य वाला मानना चाहिए। नैतिक-जीवन एक मूल्यों के प्रत्यक्ष-बोध की अपेक्षा

करता है, तथापि अंतःप्रज्ञा के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से यह जान लेना बहुत ही कम सम्भव है कि किस प्रकार के कार्य को करना चाहिए। अपेक्षित कार्य की औचित्यता की कोई अंतः प्रज्ञा नहीं है। सच्चे नैतिक-निर्णय में परिणामों की कमी या अधिकता एवं सरलता या जटिलता की गणना के किसी रूप की अपेक्षा है। ऐसी गणना को किंकर्त्तव्यमीमांसा के नाम से जाना जाता है। नीति का कोई भी सिद्धांत, जो नैतिक-जीवन के वास्तविक तथ्यों में निकट होगा, अवश्य ही किंकर्त्तव्यमीमांसा को न केवल संभावित, अपितु अपरिहार्य मानेगा।

पालसन (1846-1903)

रशडाल के बहुत पूर्व फ्रेट्रिक पालसन ने भी नीतिशास्त्र की एक विवेचना प्रस्तुत की थी, जो कि एक सामान्य दृष्टिकोण के विकास की दृष्टि से रशडाल के समान ही थी। पालसन की पुस्तक नीतिशास्त्र फ्रेंक के द्वारा (सन् 1899) में अनुदित हुई और उसका व्यापक रूप से प्रसार हुआ। पालसन के अनुसार, नीतिशास्त्र उन शुभों का सिद्धांत है, जो कि अपनी एकता में पूर्ण जीवन का निर्माण करते हैं और सद्गुणों और दुर्गुणों तथा कर्त्तव्यों का सिद्धांत आचरण के प्रकारों के रूप में पूर्णता को प्राप्त करने का साधन है। उसकी पद्धति मुख्यतया अनुभवात्मक है। वह नैतिकता में भावना और बुद्धि के योगदान के संदर्भ में रशडाल से मतभेद रखता है। शुभ जीवन क्या है? इस प्रश्न का निराकरण अपने अंतिम विश्लेषण की दृष्टि से प्रत्यक्ष-निर्विवाद भावना के द्वारा ही होगा, जिसमें सत्ता का आंतरिक-सार-तत्त्व स्वतः ही अभिव्यक्त होता है। नैतिकता में बुद्धि का स्थान केवल एक साधन के रूप में है। परम शुभ के स्वरूप का निर्धारण वस्तुतः बुद्धि के द्वारा नहीं, अपितु संकल्प के द्वारा होता है। बुद्धि, जैसी की वह है, निरपेक्ष रूप से मूल्यों के सम्बंध में कुछ भी नहीं जानती है। वह सत्य और असत्य में और वास्तविक और अवास्तविक में अंतर करती है, लेकिन शुभ और अशुभ (अच्छाई या बुराई) में नहीं। रशडाल ने भावना को नैतिक-निर्णय के आधार के एक अंग के रूप में स्वीकार किया था और (दूसरे अंग के रूप में) अंतःप्रज्ञा की चर्चा भी की थी, लेकिन उसने दोनों के सम्बंध पर कोई विचार नहीं किया, अर्थात् यह नहीं बताया कि भावना एवं अंतःप्रज्ञा - इन दोनों में वस्तुतः अंतर है। इस प्रकार, गंभीर विचार करने पर पालसन और रशडाल में मतभेदों का समाधान किया जा सकता है। जिस प्रकार मूर का कथन है कि एक विधेय के रूप में शुभ अपरिभाष्य है, इसी प्रकार पूर्ण जीवन (सर्वोत्तम जीवन) के अपने चरम प्रत्यय के

सम्बंध में पालसन का भी कथन है कि जैसे एक पौधे अथवा प्राणी की जाति की परिभाषा कर पाना असम्भव है, वैसे ही पूर्ण जीवन को परिभाषित करना भी असंभव है। यद्यपि एक सार्वभौम मानवीय-नैतिकता के प्रत्यय के किसी प्रकार का निर्माण संभव है, तथापि कोई भी व्यक्ति उसको उपलब्ध करने के योग्य नहीं होगा। यदि व्यक्ति के लिए परम शुभ एक ऐसा जीवन है, जिसमें सभी शारीरिक और मानसिक-शक्तियां पूर्णतया विकसित और क्रियान्वित हों, तो यह पूर्णता विभिन्न व्यक्तियों में अलग-अलग होगी। क्योंकि व्यक्तियों के जीवन में भिन्नता मानव-जाति की पूर्णता के लिए आवश्यक है, इसलिए नैतिकता के विशेष नियम सभी व्यक्तियों के लिए निरपेक्ष रूप में प्रामाणिक नहीं हैं। अंतःप्रज्ञा और अंतरात्मा की सहायता से प्रत्येक व्यक्ति को सामान्य नियमों को अपेक्षित संशोधनों के साथ अपनी-अपनी विशेष अवस्थाओं में लागू करना होगा।

सारले (जन्म 1855)

मूल्यों के सामान्य सिद्धांत के दृष्टिकोण से नैतिकता के आधार की व्याख्या रिचे, सारले के ग्रंथ नैतिक-मूल्य और ईश्वर का प्रत्यय (1918) में की गई है। सारले अपने-आप को उन विचारकों की श्रेणी में मानता है, जो पूर्व अवधारित तत्त्वमीमांसा के आधार पर नैतिक-दर्शन की स्थापना के प्रयास का खण्डन करते हैं। विस्तारपूर्वक समीक्षा करने के पश्चात् वह विकासवादी-नीतिशास्त्र के दावों को भी निरस्त कर देता है और नीतिशास्त्र को उस भ्रामक मनोविज्ञान से भी मुक्त करता है, जिस पर सुखवादी-सिद्धांत आधारित है। नैतिकता स्वजात विचार का एक प्रकार है (अर्थात् नैतिकता किसी अन्य पर आधारित नहीं है)। शुभता की स्वीकृति अस्तित्व-सम्बंधी किसी स्वीकृति के आधार पर निगमन के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। शुभता या नैतिक-मूल्य विभिन्न प्रकार के मूल्यों में एक है। मूल्यवान् होना सुखद होना नहीं है। पुनश्च, यद्यपि सुख प्रत्येक प्रकार के मूल्य में तब होता है, जबकि वह अपनी पूर्णता में अनुभूत किया जाता है और कुछ मात्रा में मूल्य की प्रत्येक उपलब्धि में होता है, तथापि सुख मूल्य का मापक या मानदण्ड नहीं है।

नीतिशास्त्र की विशिष्ट विषयवस्तु के रूप में नैतिक-मूल्यों की ओर आते हुए सारले कुछ मूलभूत बातों को संक्षेप में प्रस्तुत करता है। वे लिखते हैं कि नीतिशास्त्र के प्रदत्त किसी पसंदगी या किन्हीं वास्तविक परिस्थितियों में दिए गए अच्छाई और बुराई के निर्णय हैं। शाब्दिक-अर्थ की दृष्टि से ये नैतिक-अंतःप्रज्ञाएं हैं, क्योंकि ये

अंतःप्रज्ञाएं तर्क का परिणाम नहीं हैं, अपितु अपरोक्षानुभूति और प्रत्यक्षीकरण के रूप में होती हैं, लेकिन ये उस अर्थ में अंतःप्रज्ञाएं नहीं, जिस अर्थ में पाण्डित्यवादी या अंतःप्रज्ञावादी-सम्प्रदाय के आधुनिक नीतिवेत्ता उन्हें समझते हैं, क्योंकि ये न तो सामान्य कथन हैं और न उनसे नियम के द्वारा दूसरी नैतिक-शक्तियों को ही प्राप्त किया जा सकता है, साथ ही, ये अभ्रांत सत्य होने का दावा नहीं कर सकते हैं। दूसरे प्रकार के निर्णयों के समान ही नैतिक-निर्णयों में भी गलती की सम्भावना है, किंतु इस गलती को पुनः प्रत्यक्षीकरण और तुलना के द्वारा खोजा जा सकता है तथा उसे सुधारा जा सकता है। सारले की यह पद्धति भी ऐन्द्रिक-प्रत्यक्षीकरण के आधार पर प्राकृतिक-विज्ञानों के विकास के समान ही है।

नैतिक-मूल्यों के कुछ विशिष्ट लक्षण हैं, उनका आंतरिक-जीवन से सदैव ही कुछ सम्बंध रहता है और उन्हें आंतरिक-प्रयोजन और प्रेरक से अलग नहीं किया जा सकता। उन मूल्यों में साध्य और साधन के बीच कुछ अंतर अवश्य रहता है। चरम नैतिक-मूल्य अनिवार्यतया आंतरिक हैं, यद्यपि साध्य और साधन का यह अंतर निश्चित नहीं है, अनुभव बताता है कि साध्य और साधन एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं और एक-दूसरे से पृथक् होकर किसी एक में कोई भी मूल्य निहित नहीं है। यह हो सकता है कि उनमें से प्रत्येक का अपने-आप में मूल्य हो, लेकिन उनकी समष्टि (इकाई) में जो मूल्य अनुभूत होता है, वह उस समष्टि के अंगों के अलग-अलग मूल्यों के योग से भी अधिक होता है। स्वतः मूल्य के और उस प्रक्रिया के, जिसके द्वारा किसी व्यक्ति को मूल्य की चेतना होती है, अंतर के बारे में एक अस्पष्टता है, जो कि विचारणीय है। नैतिक-निर्णय जिस सत्यता का दावा करते हैं, उसमें यह शुभ है, वह अशुभ है, ऐसी स्वीकृति निहित है, किंतु यह स्वीकृति किसी इच्छा या घृणा अथवा पसंदगी या नापसंदगी की भावना के अस्तित्व की अवस्था नहीं है। यह मन की वैयक्तिक या आत्मनिष्ठ मूल्य की उपस्थिति को सूचित करती है।

नैतिक-मूल्यों की सत्यता किसी एक के लिए नहीं, अपितु सबके लिए है। दो परस्पर विधैयी नैतिक-निर्णय एक साथ सत्य नहीं हो सकते। व्याघातकता से रहित होना, आत्मगत संगति से युक्त होना और इस प्रकार एक सम्भावित क्रमबद्धता का होना ही वह कसौटी है, जिसके द्वारा किसी भी नैतिक-निर्णय की सत्यता की परीक्षा की जा सकती है। यहां एक सावधानीपूर्ण विश्लेषण की आवश्यकता है, क्योंकि दो नैतिक-निर्णय अभिव्यक्ति की दृष्टि से एक-दूसरे के व्याघातक होते हुए भी

वस्तुतः विभिन्न परिस्थितियों में प्रयुक्त एक ही सिद्धांत को मूर्त्तरूप दे सकते हैं। मानव-जाति के इतिहास में वास्तविक नैतिक-निर्णयों से सम्बंधित आभासी विरोध में से अधिकांश को सम्यक् प्रतिपादन के द्वारा दूर किया जा सकता है। अपने-आप में संगतिपूर्ण नैतिक-निर्णयों के सिद्धांत भी विरोधी दिखाई दे सकते हैं, इसलिए व्यापकता सम्बंधी परीक्षण का उपयोग करना आवश्यक है और इसका उपयोग केवल इसीलिए नहीं करना है कि कौन-सा सम्भावित सिद्धांत तथ्यों की अधिकतम संख्या को अपने में निहित कर सकता है। हमें एक ऐसा सिद्धांत खोजना होगा, जो कि संघर्षरत दोनों सिद्धांत (वंचों) में समन्वय स्थापित कर सके और उनके विरोध की व्याख्या के द्वारा उनमें निहित सत्यता का औचित्य सिद्ध कर सके।

मूल्यतंत्र की इस धारणा को मूल्यों की एक मापनी (स्केल) के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। एक व्यक्ति वैयक्तिक-रूप से मूल्यों की वैसी तुलना नहीं कर सकता, जैसी कि मूल्यतंत्र की संगति के संदर्भ में की जा सकती है। मूल्यतंत्र की यह धारणा क्रमशः एक सबल धारणा के द्वारा शासित होती रहती है और सर्वाधिक मूल्यवान् क्या है, इस रूप में व्यक्ति के आचरण और दृष्टिकोण को प्रभावित करती रहती है। इस प्रकार, जीवन के विभिन्न आदर्श हैं। उच्चतम मूल्यों की प्राप्ति का प्रयास करने वाले जीवन-समुदाय में विभिन्न आदर्श एक दूसरे से किस प्रकार सम्बंधित हैं, यह मूल-अवस्था नहीं है, अपितु यह एक नैतिक-सिद्धांत का सर्वोच्च कार्य है, तो भी हम इसके द्वारा मूल्यों की मापनी (स्केल) की समस्या का संतोषप्रद समाधान प्राप्त कर पाने में सफल नहीं होंगे, क्योंकि इस समस्या का समाधान एक दूसरी समस्या में है, अर्थात् आंगिक-एकता की समस्या या क्रमबद्ध इकाई समस्या में है, जिसमें सभी मूल्य समाविष्ट हैं और उनके सम्बंधों के द्वारा आंशिक-मूल्यों की मात्रा और स्थान का निर्धारण होता है।

सारले बताता है कि नैतिक-निर्णय में सदैव ही अस्तित्व अंतर्निहित है। मात्र प्रेम का प्रेम शुभ है, इस निर्णय का अर्थ विचार नहीं है। प्रेम को शुभ होने के लिए एक मानसिक-धारणा से अतिरिक्त अस्तित्ववान् होना चाहिए। 'चाहिए' शब्द को सम्भवतया हमें निम्न हेतु फलाश्रित वाक्य-रूप में रखना होगा। यदि प्रेम अस्तित्ववान् है, तो वह शुभ है और जो प्रेम है, तो वही शुभ है। वह अपने लेखनों में इस बात को सूचित करता है। इसको मान्य करते हुए कि नैतिक-मूल्य विशेषों में पाए जाते हैं, फिर भी वह इस बात पर बल देता है कि जो भी मूल्यवान् है, वह विशेषों में

उपस्थित सामान्य है। वस्तुतः, विशेष में सामान्य की उपस्थिति ही वह तथ्य है, जिससे विशेष का अनुमोदन होता है। मूल्य का वाहक या मूल्य-विषय (इसे नैतिक-मूल्य कहना कम विवादास्पद और समुचित होगा) सदैव ही एवं अंतिम रूप से व्यक्तित्व ही है, यह परवर्ती व्याख्या एक अस्तित्ववान् एवं शाश्वत व्यक्तित्व की एक परिकल्पना करती है। यद्यपि यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि सिवाय क्षणिक् विशिष्ट वास्तविक अनुभवों के मूल्यों के अस्तित्व की स्वीकृति के लिए क्या कोई पूर्ण प्रमाण किया जा सकता है। यह मान लिया गया है कि हम अस्तित्व की स्वीकृति मात्र से इस कथन की ओर नहीं जा सकते हैं कि जो अस्तित्व रखता है, वह मूल्यवान् भी है। सामान्य से विशेषों (अनुभूत नैतिक मूल्यों) की ओर तथा उसके शाश्वत अस्तित्व एवं एक सर्वोच्च व्यक्तित्व में उनकी पूर्णता की ओर जाना काल्पनिक ही प्रतीत होता है। जीवन के विस्तार के रूप में नैतिक-साध्य पर पिछले पचास वर्षों के अधिकांश चिंतन में अनुभव के गत्यात्मक-स्वरूप पर ही अधिक बल दिया गया है। शुभ के स्वरूप के खोज के हेतु नैतिक-साध्य-सम्बंधी प्रारम्भिक-धारणाओं को अपूर्ण मानकर लेखकों ने एक ऐसी अतिव्यापक धारणा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जिसमें आंतरिक-शुभ के सभी पक्षों को समाहित किया जा सके और जो अनुभव के गत्यात्मक-स्वरूप को मान्य कर सके। इसे जीवन के अंतर्गत खोजने का सोचा गया है।

युग के प्रारम्भ में ही जीन मेरेगुंय ने अपने ग्रंथ (1885) यह तर्क किया है कि वस्तुतः नैतिकता को ईश्वरीय-सत्ता अथवा निरपेक्ष-बुद्धि या सामाजिक-परम्पराओं पर पूर्णतया आधारित नहीं किया जा सकता है। अपेक्षाकृत रूप से यह आवेगों से निकटतया सम्बंधित हमारी सत्ता की आंतरिक-शक्ति का ही उत्पादन है, यही आचरण नैतिक है, जो दी हुई परिस्थितियों में जीवन को अपनी सम्पूर्ण सीमाओं तक व्यापक बनाता है। सम्पत्ति और जीवन के विस्तार की धारणाओं को अलवर्ट स्वेतअर ने अपने ग्रंथ (सभ्यता और नीति) (1923) का मूलभत सिद्धांत बताया है।

रूडल्फ यूकेन (1846-1926)

रूडल्फ यूकेन के नैतिक-दर्शन में जीवन के स्वरूप के निर्माण का एक ऐसा प्रयास देखा जाता है, जो कि मानवीय-प्रकृति की सर्वाधिक और उच्चतम मांगों के अनुरूप होगा। वह जीवन के गत्यात्मक-स्वरूप पर बल देता है और उसका दर्शन सक्रियतावाद कहलाता है, लेकिन क्रियाएं उन प्रेरकों पर, जो कि उन्हें प्रेरित करेगा

और उन साध्यों पर, जिनकी ओर वे गतिशील होंगी, अवश्य ही निर्भर होंगी। यद्यपि क्रियाओं का एक लक्षण ऐसा भी होता है, जो कुछ सामान्य दृष्टिकोण और जीवन-पद्धति पर आधारित होता है और जो एक विशेष विश्व-दृष्टि को उत्पन्न करता है या उस विश्व-दृष्टि से सम्बंधित होता है। उसके अनेक ग्रंथों में से मानक ग्रंथ उसकी पद्धति और निष्कर्षों को अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है। नैतिक-संघर्ष आखिरकार कार्यों के विशेष सम्भावित रूपों के बीच नहीं, अपितु जीवन जीने के विभिन्न ढंगों के बीच है।

जीवन जीने के विविध ढंग उन बातों में इतने अधिक भिन्न नहीं होते, जिन्हें वे स्वीकार करते हैं, जितने कि उन बातों में भिन्न होते हैं, जिन्हें वे उपेक्षित करते हैं। यूकेन जीवन जीने के प्रचलित विभिन्न ढंगों की अपूर्णताओं को दूर करने का साहस करता है और एक रचनात्मक-आलोचना की पद्धति के द्वारा जीवन जीने के एक सर्वाधिक संगतिपूर्ण ढंग को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। जीवन जीने का प्रकृतिवादी-दृष्टिकोण जीवन को सरल और पूर्ण रूप से प्रकृति की यांत्रिक-योजना का एक अंग मानता है। यह सिद्ध है कि मनुष्य भौतिक-प्रकृति की योजना का एक अंग है और वह भौतिक-प्रकृति उसकी जीवन-पद्धति में निहित है, किंतु उसके विचार, उसकी भावनाएं और उसके क्रिया-कलाप इस भौतिक-प्रकृति के अतिक्रमण को लक्षित करते हैं और उन्हें पूर्णतया उस भौतिक-प्रकृति में समाविष्ट नहीं कहा जा सकता। सौंदर्यपरक व्यष्टिवादी (व्यक्तिवादी) का जीवन एवं आत्म-संस्कृति का जीवन प्रायः असफल होता है, क्योंकि मनुष्य दूसरों के कल्याण के लिए प्रयास करता है और उसमें रुचि लेता है। सांस्कृतिक-मूल्य अक्सर दूसरे व्यक्तियों से सम्बंधों में निहित होते हैं। यूकेन जीवन जीने के सामाजिक-ढंग की आलोचना इसलिए करता है कि वह व्यक्ति को सामाजिक-कल्याण का मात्र एक साधन मानकर चलता है, जबकि सामाजिक-समग्रता में ऐसे कोई भी मूल्य नहीं हैं, जो कि वैयक्तिक-अनुभूतियों के अंतर्गत नहीं आते हैं। समाज-परक जीवन-दृष्टि परिवेश के बाह्य-सम्बंधों पर अधिक बल देती है, ताकि आंतरिक प्रेरकों और आंतरिक-संतुष्टियों के महत्त्व को उपेक्षित किया जा सके या उनका मूल्य कम आंका जा सके।

धीरे-धीरे विरोधी-दर्शनों की ऐसी आलोचना के द्वारा यूकेन आध्यात्मिक-जीवन की धारणा की ओर अग्रसर होता है। आध्यात्मिक-जीवन बाह्य-प्रकृति का विरोधी या शत्रु नहीं है, अपितु प्रकृति की योजना में ही निहित है और उसी में जीया

जाता है। यह आध्यात्मिक-जीवन उस व्यक्ति में केंद्रित है, जिसकी आत्मसंस्कृति स्वयं में ही निहित है, फिर भी उसकी यह आत्मसंस्कृति मानव-समाज की जटिलता में दूसरों के साथ उसके सम्बंधों और सहयोग पर आधारित है। इस प्रकार, आध्यात्मिक-जीवन अपने में उस सभी को समाविष्ट करता है, जिसका जीवन जीने के संकुचित दृष्टिकोण में भी थोड़ा-सा मूल्य है, लेकिन जीवन की संकुचित दृष्टि जिन शुभों को प्रस्तुत करती है, वे मनुष्य पर थोपे नहीं जा सकते। उन्हें उसकी आत्मा की क्रियाशीलता के द्वारा पूर्णतया आत्मसात् होना होगा, इसीलिए आध्यात्मिक-जीवन आत्मनिर्भर और स्वतंत्र कहा जाता है। जीवन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो कि सतत रूप से अपने घटकों के संगठन और विस्तार में लगी हुई है।

इस प्रकार, यूकेन के नैतिक-दर्शन की प्रेरणा को मूलतया आध्यात्मिक-स्वतंत्रता और व्यापक दृष्टिकोण के मूलभूत प्रेरकों में देखा जा सकता है। एक नैतिक-कर्त्ता किसी भी समय अपनी परिस्थितियों से ऊपर उठकर प्रगति करने की क्षमता और स्वतंत्रता रखता है। वे सब बातें व्यक्ति के लिए सच्चे अर्थ में कुछ भी मूल्य नहीं रखती हैं, जिन्हें वह अपनी क्रियाओं के द्वारा आत्मसात् नहीं कर सकता है। शुभ संकल्प वह संकल्प है कि अपनी सम्भावित सीमाओं में रहकर भी मूल्यों के एक व्यापक क्षेत्र को अपना उद्देश्य बनाता है, अथवा मूल्यों के व्यापक क्षेत्र में अपने को ढाल लेता है, अथवा मूल्यों के व्यापक क्षेत्र के समन्वय में सहायता करता है, तो भी यूकेन की स्वतंत्र आध्यात्मिक-जीवन की धारणा अपनी विवरण की दृष्टि से पूर्णतया अस्पष्ट है। उसने उन विशेष शुभों की, जो कि जीवन के नैतिक दृष्टिकोण में आते हैं, खोज करने का न कुछ प्रयास ही किया है। इस जीवन के वाहक तथ्यों के लक्षणों को अस्पष्ट ही छोड़ दिया गया है। कभी-कभी स्वतंत्र आध्यात्मिक-जीवन ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह सार्वभौमिक-आत्मा का अनुभव हो, किंतु कभी-कभी वह प्रकृति की व्यवस्था के संदर्भ में, जो कि अपने-आप में आध्यात्मिक नहीं है, अनेक आत्माओं के अनुभवों, प्रेरणाओं एवं प्रतिक्रियाओं के प्रकारों के रूप में प्रतीत होता है।

लेकिन, यदि जीवन एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसने वर्त्तमान भूत से भिन्न होता है, तो कहां तक वर्त्तमान शुभ का नीतिशास्त्र भूतकाल के नीतिशास्त्र पर आधारित अथवा उससे सम्यक्रूपेण नियंत्रित हो सकता है? यह तो जीवन के गत्यात्मक और स्वेच्छिक (सहज) स्वरूप पर बल देना है। यह बात जान- डिवी और बेनेडेटो क्रोसे[9]

के नैतिक-विचारों को प्रकट करती है, यद्यपि अन्य बातों में इन दोनों दार्शनिकों में मतभेद हैं।

क्रोसे (जन्म 1866 ई.)

क्रोसे के अनुसार, नैतिक-आचरण जीवन की अभिवृद्धि की दिशा में प्रतिस्पर्धी दावों के पुनः समायोजन में निहित है, लेकिन वह जीवन के कुछ पक्षों को इतना अधिक बढ़ा-चढ़ा देता है कि वह अपने को उन मूल्यात्मक-विचारों से सम्बंधित नहीं कर पाता है, जो कि जीवन को मूल्यवान् बनाते हैं। इसके साथ ही, वह अपने विचारों के द्वारा एक ऐसा संदेह उत्पन्न कर लेता है कि क्या ऐसा कोई मूल्यात्मक गहन विचार हो सकता है, या उसका होना आवश्यक है? जैसा कि क्रोसे मानता है, एक ऐसा दृष्टि- बिंदु हो सकता है, जिसमें प्रत्येक नैतिक-परिस्थिति विशिष्ट है, लेकिन यदि चिंतन का कोई अर्थ है और वह जीवन के निर्देशन में किसी प्रकार प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है, तो उसे मूल्य अथवा मूल्यों की कुछ ऐसी धारणाओं के निर्माण करने के योग्य होना चाहिए, जो विकास की प्रक्रिया में होने वाले परिवर्तनों में भी कुछ स्थायी तत्त्व और कुछ संगति रखती हो। जीवन के निरंतर नवनिर्माण के लक्षण पर बल देने के कारण क्रोसे सातत्य, व्यवस्था एवं उस आत्मसंयम के लक्षणों के प्रति न्याय करने में असफल रहा, जिस पर अरस्तू ने बहुत पहले बल दिया था, फिर भी वह आनुभविक-विवेचन के महत्त्व को स्वीकार करता है, किंतु यह बात उसके व्यावहारिक-दर्शन के लिए कोई महत्त्व रखती हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता है। वह कहता है कि मनुष्य सुखों का भोक्ता नहीं है, अपितु जीवन का निर्माता है। यद्यपि अनुभव के आधार पर यह कहना अधिक सत्य है कि वह दोनों ही है, लेकिन व्यक्ति को प्रतिस्पर्धी दावों के पुनर्समायोजन की दिशा में नियोजित एवं निदर्शित कौन करता है? क्रोसे ऐसे किसी भी प्रश्न को अस्वीकार करता प्रतीत होता है। जीवन ही नैतिक-समस्या को उत्पन्न करता है और वही केवल उसका समाधान प्रस्तुत कर सकता है। वैचारिक-दृष्टि से नैतिक-समस्या को प्रस्तुत करने का प्रत्येक प्रयास अथवा जीवन-पद्धति या जीवन-दृष्टि की गवेषणा का प्रत्येक प्रयास वस्तुतः किंकर्त्तव्य-मीमांसा है, तो यह निश्चित है कि विचार अपनी पूर्वगामी और पश्चगामी-दृष्टि के कारण अपने विश्लेषण और रचना के कारण जीवन का ही एक अंग है। जीवन मात्र प्रक्रिया नहीं है, नैतिकता सामान्य (सर्वव्यापी) संकल्प है। वह स्वयं ही प्रश्न पूछता है, यह सामान्य क्या है? और स्वयं ही उत्तर देता है कि यह आत्मा है, यह सत्ता है तथा जहां तक कि

वह वस्तुतः सतर्हतया विचार और संकल्प की एकता है। यह जीवन है, जहां तक कि इसकी अपने-आप की एकता के रूप में अपने गांभीर्य के साथ साक्षात्कार किया जाता है। यदि इसे सतत रूप से विकासशील सृष्टि एवं प्रगति माना जाता है, तो यह स्वतंत्रता है। नैतिक-व्यक्ति में समष्टि के लिए सक्रियता की चेतना होती है। क्रोसे भावनाओं की अपनी विवेचनाओं के द्वारा प्रारम्भ में ही अपनी-अपनी असंगति को प्रकट कर देता है। वे लोग, जो दर्शन में भावनाओं को स्थान देते हैं, बहुत कुछ रूप में अपनी स्थिति को हास्यास्पद बना देते हैं। यद्यपि क्रोसे हमें भावना-शून्यता अथवा अतिभावुकता की- दोनों ही भ्रांतियों से बचने के लिए सजग करता है। वह स्वयं भी तथाकथित राष्ट्रप्रेम, ईश्वर-प्रेम और मानव प्रेम की भावनाओं में बहुत ही कम अंतर स्पष्ट कर पाएगा, लेकिन उसका दर्शन कौन-से मूल्यों को स्वीकार कर पाया है? अंत में, उसका स्वयं का दृष्टिकोण भी भावशून्यता के द्वेष से युक्त प्रतीत होता है।

डिवी (जन्म 1859 ई.)

अस्तित्व एवं अनुभव के गत्यात्मक-स्वरूप पर जान डिवी के द्वारा भी इसी प्रकार का बल दिया गया है। डिवी अपने अनेकों ग्रंथों[10] में ज्ञान की सभी शाखाओं की दृष्टि से अपरिवर्तनशीलता के प्रत्यय का विरोध करता है। ऐसा उसने स्वतंत्रता और स्वेच्छा के प्रत्ययों की स्वीकृति के कारण किया है। न तो ज्ञान किसी अतिक्रामी अपरिवर्तनशील सत्ता को अभिव्यक्त करता है और न नैतिक-जीवन ही एक शाश्वत अपरिवर्तनशील आदेश है। बुद्धि के द्वारा एक गतिशील और अपरिवर्तनीय साध्य का परित्याग नैतिकता, स्वतंत्रता और प्रगतिशील नीति-विज्ञान एवं पदार्थ-विज्ञान की एक आवश्यक पूर्व शर्त थी। परोक्ष और अमूर्त्त बने-बनाए मूल्यों से विज्ञान को मुक्ति दिलाना, वर्त्तमान में अधिक विशिष्ट मूल्यों के निर्माण एवं स्वीकृति के लिए उसे सक्षम बनाने की दृष्टि से आवश्यक था। डिवी कहता है कि भूतकाल में नीतिशास्त्र के विविध सम्प्रदायों ने एक एकल-अपरिवर्तनीय परम शुभ की धारणा के अधीन होकर कार्य किया था, किंतु हमें परिवर्तनीय, गतिशील एवं व्यक्तिगत शुभों और साध्यों की अनेकता की धारणा के लिए एक अपरिवर्तनीय अंतिम शुभ के प्रत्यय का परित्याग करना होगा। नैतिक-मूल्यों को निगमन के द्वारा सामान्यों से प्राप्त नहीं किया जा सकता, अपितु नैतिक-जीवन विशिष्ट परिस्थितियों की व्यापक-खोज पर, विश्लेषण पर, कार्य के संभावित प्रकारों के परिणामों के अनुमान पर और जब तक उन अपेक्षित परिणामों की वास्तविक परिणामों के साथ तुलना नहीं हो जाती, तब

तक उन्हें एक परिकल्पनात्मक-निर्णय मानने पर निर्भर करता है। सामान्य धारणाएं वैयक्तिक-परिस्थितियों को समझने में सहायक होती हैं। वर्गीकरण उन संभावित लक्षणों को बता सकता है, जिन्हें किसी व्यक्ति को विशेष घटना के अध्ययन में देखना चाहिए। इस प्रकार, सामान्य धारणाओं से चिपके रहने की प्रवृत्ति से ध्यान अलग हटाकर वैयक्तिक-परिस्थितियों की खोज की विकासशील एवं प्रभावशील पद्धति के प्रति केंद्रित किया गया। हम सामान्य के द्वारा स्वास्थ्य, सम्पत्ति, शिक्षा, न्याय एवं दयालुता की खोज या उपलब्धि नहीं कर सकते। कार्य सदैव ही विशिष्ट, यथार्थ वैयक्तिक और सकल होता है, अतः कार्यों के प्रति निर्णय भी इसी प्रकार विशिष्ट होना चाहिए।

इस प्रकार, बुद्धि का कार्य विविक्त के प्रति प्रयासों के निर्देशन और एक सामान्य नैतिक-आदर्श की खोज नहीं, अपितु वर्त्तमान आंतरिक-शुभों का विवेक और उनकी उपलब्धि के विभिन्न अपरोक्ष साधनों की खोज करना है। यहां शुभों को व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। डिवी प्राकृतिक एवं सामाजिक-शुभों की चर्चा करता है, किंतु उनमें नैतिक-मूल्यों की दृष्टि से कोई विशेष अंतर प्रतीत नहीं होता है। नैतिक-ज्ञान का अलग-से कोई प्रतिपाद्य विषय नहीं है और इसलिए एक विविक्त नीतिविज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं है। उचित के अंतिम प्रमापक पर अथवा मनुष्य के अंतिम साध्य के स्वरूप पर चिंतन करने की अपेक्षा किसी को दैहिक-शास्त्र, मानवशास्त्र और मनोविज्ञान का उपयोग उस सबकी खोज के लिए करना चाहिए, जिसके द्वारा अपनी आंगिक-शक्तियों और क्षमताओं की खोज की जा सके।

सामाजिक-कलाएं, कानून, शिक्षा, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र का उपयोग सभी के भाग्य के सुधार की एक बौद्धिक-पद्धति के साधन के रूप में करना चाहिए, यद्यपि वह शुभों के साध्यात्मक और साधनात्मक-वर्गीकरण की तीव्र आलोचक है। वह उसे एक ऐसा वर्गीकरण मानता है कि जिसके व्यावहारिक परिणाम बहुत ही खतरनाक हैं। कोई भी व्यक्ति यह अनुमान नहीं लगा सकता है कि आलोचनीय-भौतिकवाद और हमारे आर्थिक-जीवन की नृशंसता का कितना अंश आर्थिक-साध्यों को केवल साधनात्मक मानने के कारण है। जब उन्हें भी दूसरे मूल्यों के समान चरम मूल्य और स्वतःसाध्य स्वीकार कर लिया जाता है, तब यह देखा जा सकेगा कि वे आदर्शीकरण के योग्य हैं और यह कि यदि जीवन मूल्यवान् है, तो वे भी अवश्य ही

आदर्शात्मक और आंतरिक-मूल्य से युक्त होंगे।

डिवी इस बात पर बल देना चाहता है कि मूल्यों की अनुभूति एक प्रक्रिया के रूप में होती है। एक ऐसी सतत प्रक्रिया के रूप में, जो कि संघर्षशील और उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील है। कोई भी स्थिति मात्र साधनात्मक नहीं है। साध्य कोई ऐसा अंतिम छोर या स्टेशन नहीं है, जहां तक पहुंचना है। यह अस्तित्ववान् परिस्थितियों के परिवर्तित होते रहने की नियमित व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। प्रथमतः, आवेगों और मूल-प्रवृत्तियों पर आधारित आचरण विकसित होते हुए सामाजिक-नियमों और सामान्य धारणाओं के प्रभाव-क्षेत्र के अधीन आया, अंततः इसे सत् के सामान्य सिद्धांतों के प्रकाश में एक पूर्ण के रूप में देखा गया। एक विचार, जहां तक अनुभवों की एक संगतिपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करता है, वहां तक सत्य है, लेकिन किसी भी स्थिति में ऐसा सिद्धांत अपने-आप को अंतिम रूप से प्रतिस्थापित नहीं कर सकता। नैतिक-प्रत्यय के सामान्य लक्षण ये हैं कि प्रत्येक व्यक्ति एक उत्तरदायी-कर्त्ता के रूप में अपने प्रति, दूसरे व्यक्तियों के प्रति और सम्पूर्ण समाज के प्रति अपने दायित्वों के अंतर्गत खड़ा हुआ है और उसके ये दायित्व सामान्य शुभ की (आबंध) आवश्यकताओं के द्वारा परिभाषित किए जाते हैं। नैतिक-प्रगति सहज समूहों की मांगों की स्वीकृति और उनके अनुपालन से लगाकर एक व्यापक और संगतिपूर्ण आदर्श से अनुशासित होने तक है। बाह्य-परम्परागत नियम नैतिक-विधानों के विशिष्ट लक्षण से युक्त नहीं हैं। दूसरे यह कि कुछ नैतिक-दायित्व (आबंध) मान्य किए गए हैं, लेकिन वे किसी सामान्य नैतिक-सिद्धांत पर आधारित नहीं है। इस बिंदु तक आदिम-सामाजिक-रूढ़ियों की नैतिकता का प्रभाव है, जिसमें प्रेम और घृणा अथवा सामाजिक और असामाजिक-आवेग मिले हुए हैं। तीसरी अवस्था में चरित्र और आचरण के नैतिक-सिद्धांतों और आदर्शों का निर्माण किया गया है, यहां नैतिक-प्रगति उस संघर्ष के द्वारा होती, जिसमें जीवन की स्थितियां अधिकाधिक आत्मा के प्रभुत्व के अधीन आती हैं। यहां नैतिक प्रगति परिवेश की प्राकृतिक-स्थितियों का अपरिहार्य परिणाम नहीं होती, लेकिन आंतरिक अंतर्निहित आध्यात्मिक-शक्ति के प्रकार पर निर्भर होती है। नैतिक-प्रगति (प्राकृतिक) अंधशक्तियों के खेल से प्रारम्भ होकर मानवता के आत्मचेतन विकास तक जाती है। अपने ग्रंथ 'बौद्धिक शुभ' (1921) में हाबहाउस ने सामान्य नैतिक-सिद्धांत की वह रूपरेखा प्रस्तुत की है कि जिस पर उसका नैतिकता के इतिहास का दार्शनिक-चिंतन

उसे ले गया है। यह आचरण (व्यवहार) पर शासन करने के लिए बुद्धि के दावे का प्रस्तुतिकरण है। बुद्धि अनुभूतियों के आंतरिक-सम्बंधों से सम्बंधित है, लेकिन जीवन एक प्रक्रिया है और इस प्रकार, बुद्धि का कार्य कभी पूरा नहीं होता है। सत्य को सतत रूप से व्यापक बनाया जाता है और गलतियों को दूर किया जाता है। शुभ-भावना और अनुभव की एक संगति है। बौद्धिक-शुभ जहां तक भावनाओं को प्रभावित करता है, सभी संवेदनशील प्राणियों के सभी अनुभवों की एक संगति का दावा करता है। इस बौद्धिक-शुभ में मन की स्वयं से और बाह्य-विश्व से एक संगति रहती है। इस बौद्धिक-व्यवस्था का यह सार्वभौमवाद व्यक्ति को समाहार भी करता है, लेकिन उसका अतिक्रमण भी करता है। मूलभूत नैतिक-सिद्धांत सर्वव्यापक संगति की ओर एक अर्थात् स्थायी शक्तियों का एक ऐसा अधिक पूर्ण संगठन और समायोजन है, जो कि विश्व की गति की अच्छाई के लिए बनाया गया है।

समकालीन नीतिशास्त्र के लक्षण

नीतिशास्त्र के जिन सिद्धांतों का इस अध्याय में सर्वेक्षण किया गया है, वे बहुत कुछ रूपों में व्यावहारिक-जीवन की परिवर्तित और परिवर्तनशील अभिवृत्तियों और आदर्शों को बताते हैं। यद्यपि यह कहना सम्भव नहीं है कि यह अवस्था सभी मूल्यों के मूल्यांतरण की स्थिति है या हो रही है, फिर भी, इसने पारम्परिक-नैतिक-आदर्शों और आचरण की विधाओं को निश्चित ही ललकारा है। वैयक्तिक-अनुभवों, जैसे कि वे हैं, के महत्त्व विचार करने की दृष्टि से यह प्रक्रिया सभी लोगों पर बंधनकारक ऐसे किसी सामान्य सिद्धांत की स्वीकृति से दूर है।

व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए उन अनुभवों पर विशेष विधाओं के अनुसार विचार किया गया है, लेकिन विशेषों के मूल्य को एक ऐसे आदर्श घटक के रूप में अनिवार्यतया नहीं विचारा गया है, जो कि सभी में समान रूप से रहा हुआ है। सामाजिक-दबाव के बावजूद भी एकल व्यक्ति के जीवन पर पुनः बल दिया जा रहा है। कोई भी बौद्धिक एवं अपरिहार्य आबंध प्रतीत नहीं होता है, जिसके आधार पर इस पीढ़ी के व्यक्ति को अपने स्वयं के आत्मत्याग के लिए वर्त्तमान युग के सम्भावित अग्रिम विकास के दूरस्थ परिणामों की उपलब्धि को अपना साध्य बनाना चाहिए। इसी प्रकार, इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि ऐसा कोई बौद्धिक या अपरिहार्य आबंध (दायित्व) है, जिसके आधार पर व्यक्ति स्वयं के हित का व्यापक सामाजिक-इकाई के अनिश्चित हित के हेतु समर्पण करे। समाज में प्रचलित नैतिक-नियमों का

सम्मान समाज के सदस्यों के भूतकालीन अनुभवों की अभिव्यक्ति के रूप में और उनके मार्गदर्शन के लिए उपयोगी होने के कारण ही किया जाता है, न कि इसलिए कि वे नियम, नैतिक-प्रमाण हैं। व्यक्ति स्वयं के लिए एकमात्र स्वीकृत नैतिक प्रमाण अनुभव के नैतिक-गुण में निहित है। सार्वभौम रूप से लागू किए जाने के सिद्धांत पर पहले जो बल दिया जाता था, उसके विरोध में अब एकल व्यक्ति की विशिष्टता को स्वीकार किया गया। इस धारणा में यह बात भी निहित है कि व्यक्ति अपने स्वयं के विशिष्ट दृष्टिकोण के द्वारा नैतिक-मूल्यों के क्षेत्र को प्रतिबिम्बित करता है। प्रत्येक के लिए और सभी के लिए नीति की समानता (अभेद) के आकारिक-लक्षण के रूप में वस्तुनिष्ठता और सामान्यता के स्थान पर अब प्रत्येक व्यक्ति की नैतिकता की दूसरे सभी व्यक्तियों की नैतिकता के साथ संगति या सहगामिता को देखा जाने लगा।

इस युग के प्रारम्भ में प्रचलित नैतिक-आचरण के विस्तृत विवरणों के संदर्भ में अपनी बौद्धिक-अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन दृष्टिकोण के व्यावहारिक-क्रियान्वयन के परिणामों के साथ, जो कि अभी परीक्षण की अवस्था में है, वर्त्तमान जीवन-पद्धति अधिक सहमति नहीं रखती है। नीतिशास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियों ने किसी निरपेक्ष तत्त्वमीमांसा के आधार पर नीतिशास्त्र के किसी संतोषजनक सिद्धांत की स्थापना के प्रयास की कमजोरी को अवश्य प्रकट किया है, चाहे वे ऐसे प्रयास की पूर्ण असफलता को सिद्ध न कर पाई हों। उन्होंने जैविक-विकास के तथ्यों और सिद्धांतों के आधार पर नैतिक-जीवन और नैतिक-मूल्यों को समझने के प्रयास की असमर्थता को प्रकट किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि सुखवादी-सिद्धांत एक निम्नस्तरीय या झूठे मनोविज्ञान पर आधारित है। अब नैतिक-निर्णयों एवं उनके विशिष्ट रूपों तथा उनके निहितार्थों के स्वरूप के स्वतंत्र अध्ययन का उदय हुआ है और नीतिविज्ञान का प्रथम कार्य नैतिकता के इन आनुभविक-तथ्यों की समीक्षा है। जो कार्य सबसे अधिक प्राथमिक है, वह विशेष नैतिक-मूल्यों की परिगणना करना (या सूची बनाना) है। सेमुअल अलेक्जेण्डर ने बहुत पहले सन् 1889 ई. में इसकी आवश्यकता को प्रतिपादित किया था, किंतु किसी ने अभी तक (1936 ई.) इस कार्य के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयास किया है, यह नहीं कहा जा सकता है। सेमुअल ने तब ही कहा था कि नीतिशास्त्र का एक कार्य उन विभिन्न नैतिक-निर्णयों का एक सुसंगत वर्गीकरण प्रस्तुत करना है, जो कि नैतिक चेतना के विभिन्न घटकों का निर्माण करते हैं, साथ ही, जीवन के नैतिक-अनुभवों का एक क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करना

है। नीतिशास्त्र का सम्भवतया सबसे महत्त्वपूर्ण और श्रम-साध्य कार्य यही है। यह स्पष्ट है कि इसकी पूर्त्ति के लिए विभिन्न जातियों, विभिन्न कालों और विभिन्न जलवायुओं के नैतिक-विचारों (निर्णयों) का व्यापक ज्ञान और उन परिस्थितियों का व्यापक ज्ञान आवश्यक है, जिनमें उन विचारों (निर्णयों) का जन्म हुआ, साथ ही, यह कार्य इन सबके मूलभूत निहितार्थों के वास्तविक समीक्षात्मक-परीक्षण के साथ जुड़ा हुआ है। नैतिक-मूल्यों का सर्वेक्षण एक ऐसे अवयवीतंत्र (आंगिक-निकाय) या तंत्रों (निकायों) का निर्देश करेगा, जिसमें इन सभी मूल्यों का स्थान रहेगा। किसी भी समय विशेष में ऐसा तंत्र अनिवार्य रूप से अपूर्ण ही होगा, क्योंकि जीवन-प्रक्रिया में नए गुणों (मूल्यों) की अनुभूति होगी और विकासशील सामाजिक-इकाई उनको ग्रहण करती रहेगी।

नीतिशास्त्र से भिन्न नीति-दर्शन का कार्य नैतिकता के लिए किसी आदर्श या आधार की खोज नहीं है, लेकिन अनुभवों की समग्रता में नैतिकता के स्थान की खोज है (नैतिक आदर्श और नैतिकता का आधार -दोनों ही केवल स्वयं नैतिकता में ही पाए जा सकते हैं), जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। यह बहुत कुछ इस बात में निहित है कि नैतिक-आबंध (बाध्यता) के आधार की समस्या, जो कि पहले नैतिक-विवेचनाओं का केंद्रीय-विषय थी, अब परिपार्श्व में चली गई है और उन आनुवांशिक-प्रश्नों से पूर्णतया स्वतंत्र मूल्यों की खोज को हाथ में ले लिया गया है, जैसे कि मूल्यों का उत्पादन कौन करता है और कौन उनका उपभोग करता है। प्रारम्भिक-सिद्धांतों ने स्वयं नैतिक-अनुभवों के बाहर ईश्वर के संकल्प में, राज्य की प्रभुसत्ता में या बुद्धि के निरपेक्ष आदेश में नैतिक-आबंध के आधार की खोज का प्रयास किया था। इस सरल सत्य को अब स्वीकार कर लिया गया है कि शुभ के लिए प्रयास करने के नैतिक-आबंध का आधार शुभ के स्वयं के स्वरूप में ही पाया जाता है। इस प्रकार, समुचित रूप से यह माना जा सकता है कि नीतिशास्त्र की समकालीन गतिविधियां उसे निर्नैतिक-नीति की इतर धारणाओं के प्रभुत्व से मुक्ति दिलाने की दिशा में कार्यरत हैं, अब नीतिशास्त्र अपनी प्रक्रिया में अधिक विश्लेषणात्मक हो गया है। यद्यपि नीतिशास्त्र अब भी उसे प्राप्त नहीं कर पाया है, जिसकी खोज का वचन देता है। वह केवल जीवन के सामान्य दृष्टिकोण और नैतिक-मूल्यों के विशेष दृष्टिकोण को अधिक व्यापक और समृद्ध रूप में प्राप्त कर पाया है, कुछ समय के लिए उन विशेष स्वतः शुभों की एकता और उनके संगठन की दिशा में आवश्यक गतिविधियों

का अभाव प्रतीत हो सकता है, जिनकी ओर इसका ध्यान केंद्रित है।

समकालीन नीति-दर्शन किसी भी प्रकार की ऐसी सामान्य धारणा का विरोधी है, जो कि किसी भी रूप में इसकी क्रियाशीलता में बाधा डाल सकती है और उसे मूल्यों की सतत रूप से वर्द्धमान संपदा की दिशा में प्रयासशील होते हुए रोक सकती है।

नीतिशास्त्र के अध्ययन का तत्त्वमीमांसीय पूर्व धारणाओं से मुक्त हो जाने का अर्थ यह नहीं है कि इस आधार पर यह सभी तत्त्वमीमांसा-संदर्भों को छोड़ सकती है और सभी तात्त्विक-निहितार्थों से बच सकती है, लेकिन पिछले पचास वर्षों की अनुभवात्मक और विश्लेषणात्मक-खोज के कारण इन निहितार्थों की खोज के प्रति एक सामान्य उदासीनता देखी गई है, जबकि मूर जैसे कुछ लेखक शुभ को सामान्य के समान ही एक विधेय मानते हैं। मूर ने यह कहकर कि सामान्य व्यष्टि (विशेष) में निहित है, उनकी तत्त्वमीमांसीय-स्थिति पर रहस्यात्मकता का परदा डाल दिया है। मूल्यों के सम्बंध में संगठन के स्वरूप पर अभी तक जितना विचार किया गया है, उसकी अपेक्षा अधिक विचार की आवश्यकता है। अभी कुछ पच्चीस वर्षों तक प्रारम्भिक-सम्प्रत्यात्मक-दृष्टिकोण का अस्तित्व बना रह सकता है। इस प्रकार विलबर, मार्शल, अरबन अपने ग्रंथ मूल्यांकन, उसका स्वरूप एवं नियम (1909) में यह प्रश्न पूछता है कि कम-से-कम चिंतन की दृष्टि से क्या उन अनुभवात्मक-साध्यों में कुछ सारभूत आंतरिक-मूल्यों (स्वतः मूल्यों) की तार्किक अवधारणा नहीं है, जिनसे एक चरम पूर्व अवधारणा के रूप में अनेक निर्णायक-स्थितियों में अंतर्निहित मान्यता एवं अनुभवात्मक-उद्देश्यों को तार्किक-रूप में निगमित किया जा सकता है। यह बात सामान्यतया एक तार्किक-ढंग के संगठन को सूचित करती है। यह विचार कि मूल्य कुछ ऐसे लक्षणों के द्वारा संगठित है, जो कि सभी में सामान्यतया उपस्थित रहते हैं, एक आकारिक-बुद्धिपरतावाद को बनाए रख सकता है। अब जिस एकता को जाना गया है, वह एक दूसरे प्रकार की है। यह एक संगठन है, यह भिन्न-भिन्न विशेषों को उस एक इकाई (समग्रता) के रूप में समन्वित करना है, जो कि एक क्रमबद्ध संरचना या अवयवी-संरचना है। इसे अमूर्त्त चिंतन के द्वारा उतना नहीं पाया जा सकता, जितना कि व्यावहारिक-संगठन की पद्धति है। वह सिद्धांत, जो ऐसे व्यावहारिक-प्रयासों के लिए मार्गदर्शन दे सकता है, एक अनुभूत संगति है, न कि संगठित होने वाले सभी शुभों के गुणों या लक्षणों में समान रूप से उपस्थित किसी

सामान्य तत्त्व का सार्थक प्रत्ययें का संगठन ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती, जो कि बुद्धि की खोज के लिए पहले से ही अस्तित्ववान् हो। हमारे पास है, जो है वह संगठन की एक प्रक्रिया है, जिसे क्रमशः प्राप्त किया गया है।

नीतिशास्त्र और ईश्वरवाद

कुछ लेखकों ने ईश्वरवादी-दर्शन में नीतिशास्त्र के लिए तत्त्वमीमांसीय आधार की खोज की है। वर्त्तमान युग में यही एक ऐसा निश्चय प्रयास प्रतीत होता है, जिसने नीतिशास्त्र के तात्त्विक-निहितार्थों पर नीतिशास्त्र की प्रतीति के स्तर पर लाए बिना ही विचार किया है। यह सार्ले के ग्रंथ नैतिक-मूल्य और ईश्वर का प्रत्यय का केंद्रीय-सिद्धांत है और रशडाल के अनेकों ग्रंथों के मुख्य विवेच्य-विषयों में से एक है। रशडाल ने इस तर्क को स्पष्टतया और संक्षेप में निम्न गद्यांश में प्रस्तुत किया है और जिसे सार्ले ने उद्भूत किया है। वह लिखता है कि एक निरपेक्ष नैतिक-नियम या नैतिक-आदर्श न तो भौतिक-वस्तुओं में अस्तित्व रखता है और न इस या उस व्यक्ति के मन में अस्तित्व रखता है। यदि हम सिर्फ़ एक ऐसी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, जिसने एक सच्चे नैतिक-आर्द को किसी अर्थ में उपलब्ध कर लिया है, पहले से, और यह विश्वास करते हैं कि यही एक ऐसी आत्मा है, जो हमारे नैतिक-निर्णयों में जो कुछ भी सत्य है, उसका स्रोत है, तो ही हम बुद्धिपूर्वक एक ऐसे नैतिक-आदर्श के सम्बंध में सोच सकते हैं, जो स्वयं इस विश्व की अपेक्षा कम यथार्थ नहीं है और तब ही हम उचित और अनुचित के एक निरपेक्ष-प्रमापक में आस्था रख सकते हैं, जो कि इस ओर उस व्यक्ति के यथार्थ विचारों और यथार्थ इच्छाओं से उतना ही स्वतंत्र है, जितने कि भौतिक-प्रकृति के तथ्य इन विचारों एवं इच्छाओं से स्वतंत्र हैं। सत् और ईश्वर में विश्वास सक्रिय आत्मा में विश्वास समान नैतिकता जैसी किसी वस्तु का उसमें अस्तित्व है, इस बात का अभ्युपगम नहीं है, अपितु एक वस्तुनिष्ठ और निरपेक्ष-नैतिकता की तार्किक पूर्व धारणा है। एक नैतिक-आदर्श मनस के अतिरिक्त कहीं भी और कैसे भी अस्तित्व नहीं रख सकता। एक निरपेक्ष नैतिक-आदर्श केवल ऐसे मनस में अस्तित्व रख सकता है, जिससे सम्पूर्ण सत्ता निःसृत होती है[12]। हमारा नैतिक-आदर्श केवल तब ही वस्तुनिष्ठ प्रामाणिकता का दावा कर सकता है, जहां तक कि वह बुद्धिपूर्वक शाश्वत रूप से ईश्वर के मनस में अस्तित्ववान् नैतिक-आदर्श के प्रकाशन (शुद्धि) के रूप में मान्य नहीं किया जा सकता।

अर्थर जेम्स बेलफोर अपने ग्रंथ ईश्वरवाद और मानवतावाद (1915) में यह बताने का प्रयास करते हैं कि सामान्य रूप में मूल्य, जिनमें नैतिक-मूल्य भी निहित हैं, यदि सत्ता के ईश्वरवादी-दृष्टिकोण से अलग कर लिए जाते हैं, तो वे अपने महत्त्व और प्रभाव तथा हम पर अपने अधिकार का बहुत-कुछ भाग खो देंगे। क्लेयेंट सी, जे.देब अपने ग्रंथ ईश्वरीय-व्यक्तित्व और मानव-जीवन (1920) में नैतिकता को एक व्यक्ति के प्रति श्रद्धा से जोड़ते हुए नैतिकता में आबंध के प्रत्यय पर सामान्यतया दिए जा रहे बल की अपेक्षा अधिक बल देते हैं। वे कहते हैं कि आबंध में हमें एक ऐसे पक्ष को स्वीकार करना होगा, जो न केवल स्वायत्तता है, वरन् आधीनता भी है, जो कि विचार करने पर वस्तुतः ईश्वरीय-तंत्र के रूप में बदल जाती है। 'शुभ' का प्रत्यय के सम्बंध में आधुनिक नीतिशास्त्र का पिछला सर्वेक्षण हमें शुभों की अनेकता की एक आंगिक-इकाई की ओर ले जाता प्रतीत होता है, लेकिन वेब के द्वारा निम्न पद्यांश में, जिसमें कि वह नैतिकता के विषय में अपनी ईश्वरवादी-स्थिति स्पष्ट करता है, उसका इस अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है। वह लिखता है कि उस सर्वोच्च सत्ता की धारणा, जो कि न केवल शुभ है, अपितु एक शुभ सत्ता भी है, नीतिशास्त्र के विद्यार्थी के लिए एक ऐसी कल्पना नहीं है, जिसे एक पूर्ण प्रज्ञा के विचार को क्रियान्वित करने की इच्छा के द्वारा सूचित किया गया है (फिर चाहे वह इच्छा कितनी ही तर्कसंगत और अपरिहार्य क्यों न हो), अपितु स्वयं नैतिक-अनुभवों के तथ्यों पर चिंतन करके जिसका अनुमोदन किया गया है।

मानवीय-स्वतंत्रता

पिछले 50 वर्षों में मानवीय-स्वतंत्रता की समस्या के संदर्भ में नीतिशास्त्र के लेखकों का दृष्टिकोण बदल गया है। वर्त्तमान की अपेक्षा प्राचीनकाल में नैतिक-उत्तरदायित्व के प्रत्यय पर अधिक ध्यान दिया जाता था और उसे स्वतंत्रता के प्रत्यय से निकट रूप से सम्बंधित माना जाता था। अब, सामान्यतया नैतिक-चयन के तथ्य को स्वीकार करना ही पर्याप्त समझा जाता है। यांत्रिक-निर्धारणवाद और अतंत्रतावाद (अनिर्धारणवाद) के बीच आत्मनिर्धारणवाद की धारणा के द्वारा एक मध्यममार्ग खोजने का प्रयास किया गया, जो कि पूर्वकथित स्थिति की अपूर्णता पर विजय पाने में सहायक होते हुए भी चरित्र के सुधार की सर्वाधिक कठिन समस्या की व्याख्या के लिए पर्याप्त सिद्ध नहीं हो सकता। समकालीन नीतिशास्त्र में स्वतंत्रता का विचार एक दूसरे ढंग में भी आया है। उदाहरण के लिए,

जान डिवी के दर्शन में अब यह स्वतंत्रता का प्रत्यय नए मूल्यों और उनकी उपलब्धि के नए तरीकों की खोज में क्रिया की स्वतंत्रता को भूतकालीन-विचारों की गुलामी से बुद्धि की स्वतंत्रता को तथा स्थिर आदर्शों की अधीनता से नैतिक-चेतना की स्वतंत्रता को बताता है। इस प्रकार, स्वतंत्रता के प्रत्यय को मानवीय-चेतना के तात्त्विक-लक्षण की अपेक्षा व्यावहारिक-दृष्टिकोण के लिए एक सार्थक प्रत्यय के रूप में विवेचित किया गया है। यह उस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके लिए दूसरे सभी क्षेत्रों के समान नीति-क्षेत्र में भी वर्त्तमान और भविष्य-नवीनता के लिए मार्ग खुला रहता है और इस अर्थ में यह विकासवाद की नव्योत्क्रांतवादी आधुनिक-विवेचना से सम्बंधित हो जाता है। (विकास के) प्रत्येक स्तर पर जो मूल्य प्रकट होते हैं, वे न तो पूरी तरह से भूतकाल की यांत्रिक-निर्धारण की प्रक्रिया के कारण होते हैं और न वे एक ऐसे आदर्श के कारण अस्तित्व में आते हैं, जिसकी सत्यता किस रूप में भविष्य के गर्भ में निहित है या शाश्वतता में निहित है[13]।

दूसरे शब्दों में, नव्योत्क्रांत के रूप में मूल्यों की व्याख्या न तो उनके निर्मित कारणों के प्रसंग में (जैसा कि भौतिकवाद या प्राचीन प्रकृतिवाद मानता है) और न उनके अंतिम कारणों के प्रसंग में (जैसा कि प्राचीन पारम्परिक-अध्यात्मवाद मानता है) की जा सकती है। इस बात पर कुछ कारणों से यह आपत्ति की जा सकती है कि नव्योत्क्रांतवादी-विकास के रूप में मूल्यों के विवेचन की यह पद्धति उन अंतिम समस्याओं को अपेक्षित कर देती है, जो कि इतना होने पर भी मानव-मस्तिष्क को कचौटती रहती है, यद्यपि नीतिशास्त्र में मानवीय-क्रियाओं की यथार्थता और नैतिक-प्रगति में स्वैच्छिकता के तथ्य को स्वीकार कर लेना पर्याप्त माना जा सकता है।

नैतिकता और अमरता

नैतिकता के लिए अमरता के प्रत्यय के महत्त्व को स्वीकार करने के लिए रशडाल के द्वारा विशेष रूप से जोर दिया गया। रशडाल यह मानता है कि अमरता का प्रत्यय ईश्वर के प्रत्यय की अपेक्षा भी नीतिशास्त्र के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। नैतिक-आदर्शों की तर्कसंगतता, उनकी उपलब्धि सम्भाव्यता से जुड़ी हुई प्रतीत होती है और नैतिक-आदर्शों की यह उपलब्धि एक साधारण मानवीय-जीवन की कालावधि में हो पाना सम्भव नहीं है, यद्यपि समकालीन चिंतन मुख्यतः जीवन की कालावधि की अपेक्षा जीवन के गुण से सम्बद्ध है। जीवन जीने में नैतिक-शुभ नैतिक-अशुभ की अपेक्षा वरेण्य माना जाता है और यदि

जीवन पूरी तरह से समाप्त होता है, तो भी इस (वरेण्यता) को बदला नहीं जा सकता। यह सही है कि कुछ लोगों के लिए अमरता का प्रत्यय व्यक्ति के व्यक्तित्व की भावी-नैतिक-प्रगति के लिए अवसर प्रदान करता है, लेकिन अब जो जीवन जीया जा रहा है, उसके प्रति नैतिक-दृष्टिकोण के लिए अमरता का प्रत्यय आवश्यक नहीं है।

संदर्भ -

1. देखिए - एथिक्स (अंग्रेजी भाषांतर 1924)
2. जैसा कि सेमुअल अलेक्जेण्डर के ग्रंथ 'नैतिक-व्यवस्था और प्रगति' में है।
3. (1) द्वितीयस्तरीय द्वेष (मात्सर्य, प्रतिकार, शंकालुता)
(2) द्वितीयस्तरीय शारीरिक-प्रवर्त्तक (दब्बूपन, कामुकता)
(3) प्रथमस्तरीय शारीरिक-प्रवर्त्तक-(क्षुधा)
(4) प्रथमस्तरीय पाशविक-प्रवर्त्तक (सहजक्रिया और आराम)
(5) लो (क्षुधा का द्वितीयस्तरीय विकार)
(6) द्वितीयस्तरीय राग (भावुकता, सभी भावों की आसक्ति)
(7) प्रथमस्तरीय द्वेष (विशेष, क्रोध और भय)
(8) द्वितीयस्तरीय पाशविक-प्रवर्त्तक (मद, शक्ति-प्रेम)
(9) द्वितीयस्तरीय स्थायीभाव (आत्म-सुधार, सौंदर्योपासना और धर्म-निष्ठा)
(10) कौतूहल और विस्मय के प्रथमस्तरीय स्थायीभाव
(11) वात्सल्य और समाज-प्रेम के प्रथमस्तरीय राग
(12) करुणा का प्रथमस्तरीय राग
(13) श्रद्धा का प्रथमस्तरीय राग
4. विशेष रूप से देखें- साइकोलाजिए वन इम्प्राइजन स्टेण्ड पुके (1874)
5. साइकोलाजीसिक इथिस्के (1923)
6. सिस्टेम डर वरथेरिक (1807-1897)
7. अधिक विस्तृत विवेचना के लिए देखिए - होवर्ड ओ एटन दी आस्ट्रेयन फिलासफी ऑफ वेल्यूस 1930 तथा मूल्यों के सामान्य सिद्धांत के लिए अंग्रेजी में देखिए अरबन का ग्रंथ मूल्यांकन की प्रकृति एवं नियम।
9. फिलासफी ऑफ प्रेक्टीकल इकानामिक्स एण्ड ऐथिक्स (1908)
10. उदाहरण के लिए देखें - दी इन्फ्ल्यून्स ऑफ डारविन आन फिलासफी एण्ड अदर ऐसेज (1910) क्रिटिकल थ्योरी ऑफ एथिक्स (1894) रिकन्स्ट्रक्शन ऑफ फिलासफी (1920) ह्यूमन नेचर एण्ड कण्डक्ट (1922)

11. एथारल आडर एण्ड प्रगेस
12. या कम-से-कम जिससे सम्पूर्ण सत्ता का नियमन होता है।
13. देखें - एस.अलेक्जेण्डर स्पेस टाइम एण्ड डिटी (1920)

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उदेश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती है

इस परिसर में साधु–साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रुप में मान्यता प्रदान की गई है।

डॉ. सागरमल जैन

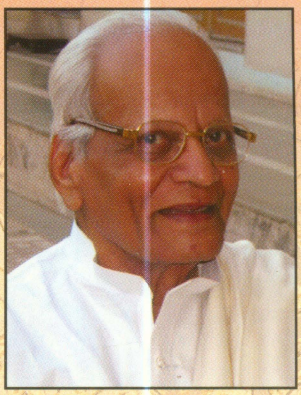

जन्म	:	दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्यरत्न : 1954
		एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963
		पी–एच.डी. : 1969

अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1964–67
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1968–85
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1985–89
निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	: 1979–1987 एवं 1989–1997
लेखन	: 49 पुस्तकें
सम्पादन	: 160 पुस्तकें
प्रधान सम्पादक	: जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार	: 1986 एवं 1998
स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार	: 1987
डिप्टीमल पुरस्कार	: 1992
आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान	: 1994
विद्यावारधि सम्मान	: 2003
प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए	: 2007
वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन)	: 2007
गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती)	: 2008
आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान	: 2009
विद्याचन्द्रसूरी सम्मान	: 2011
समता मनीषी सम्मान	: 2012
सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ	: पूर्व सदस्य – विद्वत परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल सदस्य – जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
	: पूर्व सदस्य – मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति	: संस्थापक – प्रबंध न्यासी एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र) पूर्वसचिव:पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
विदेश भ्रमण	: यू.एस.ए. , शिकागों, राले, ह्यूटन, न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वाशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टों, (कनाड़ा) न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काटमाडूं (नेपाल)

Printed at Akrati Offset, UJJAIN Ph. 0734-2561720